6.9

संस्कृत आलोचना

आचार्य बलदेव उपाध्याय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन
लखनऊ

संस्कृत आलोचना

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—८

संस्कृत आलोचना

[संस्कृत साहित्यशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रामाणिक विवेचन]

लेखक

आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूतपूर्व निदेशक, अनुसन्धान संस्थान

संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन

लखनऊ

तृतीय परिवर्धित संस्करण
१९७८

मूल्य
रु० ५.५०
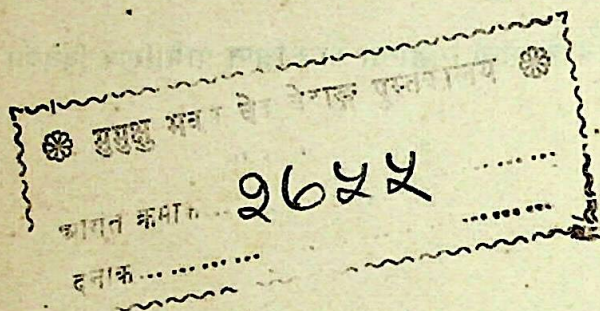
मुद्रक
शंभुनाथ वाजपेयी
नागरी मुद्रण, वाराणसी

प्रकाशकीय

काव्य क्या है, उसके उद्देश्य, साधन, तत्त्व और गुण-दोष क्या हैं—जैसे सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की मीमांसा करनेवाली रचना काव्यशास्त्र कहलाती है। इसके अन्य नाम काव्यालंकारशास्त्र एवं काव्यसौंदर्यशास्त्र भी हैं। काव्यसौंदर्य के अन्तर्गत उसके रूपविधान, गुणधर्म, विकास और प्रतिफल सभी का समावेश है। आजकल इसी को आलोचनाशास्त्र कहा जाता है। विश्व में भारत के आलोचनाशास्त्र की निराली पद्धति है, जिसमें गुण, रीति (शैली), अलंकार, रस, ध्वनि आदि के विवेचन द्वारा काव्यसौंदर्य निर्धारित होता है।

संस्कृत साहित्य में आलोचनाशास्त्र का बहुत ही गंभीर, क्रमबद्ध और विशद निरूपण हुआ है, जिसकी देश भर में सर्वोच्च प्रतिष्ठा है। भरत मुनि, वामन, भामह, मम्मट, अभिनवगुप्त, राजशेखर, विश्वनाथ महापात्र, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ पण्डितराज जैसे आचार्य आलोचना के उज्ज्वज नक्षत्र हैं, जिनसे समस्त भारतीयतामूलक साहित्याकाश चमत्कृत हो रहा है।

हमारे देश के अनेक नये आलोचक अपनी एकांगी शिक्षा-दीक्षा से प्रभावित होकर प्रायः अरस्तू, प्लेटो, दाँते आदि विचारकों के आलोचनासिद्धान्तों के आधार पर साहित्यकला की विवेचना करते हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र से उनका कम ही परिचय हो पाता है। इसी से उनकी आलोचना भारतीय दृष्टिकोण से विकृत और विरूप भी हो जाती है। अब हिन्दी भाषा के माध्यम से भी संस्कृत आलोचनाशास्त्र प्रकाश में आने लगा है, उसी का एक परिष्कृत रूप साहित्य-दर्शनादि के धुरधर विद्वान् पंडित बलदेव उपाध्याय की प्रस्तुत पुस्तक है।

लेखक का चतुरस्र पाण्डित्य जैसा विख्यात है, उसके अनुरूप उनकी यह कृति भी अत्यन्त उपयोगी बन गयी है। साहित्यानुरागियों में इसका अच्छा आदर है, जिसका प्रमाण इसके प्रस्तुत तृतीय संस्करण का प्रकाशन है। इसमें आलोचना के सिद्धांतों को समझाने के लिये उदाहरण प्रायः हिन्दी के प्रचलित काव्यों से लिये गये हैं और उनकी व्याख्या मनोरंजक शैली में की गयी है, जिससे जिज्ञासु पाठकों को अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होने लगती है। प्रस्तुत संस्करण में पूर्व की अपेक्षा कुछ आवश्यक सामग्री और भी सन्निविष्ट की गयी है, जिससे पुस्तक में नवीनता का समावेश हो गया है। हमें विश्वास है कि साहित्यप्रेमियों को यह कृति अधिक रुचिकर होगी।

ठाकुर प्रसाद सिंह

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

वक्तव्य

'संस्कृत आलोचना' को पाठकों के सामने रखते मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। संस्कृत साहित्य में अलंकार-शास्त्र का बड़ा महत्त्व है। वह सन्तत विकासशील शास्त्र है जिसका अनुशीलन गत दो हजार वर्षों से निरन्तर हो रहा है। संस्कृत के आचार्यों ने इस शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का समीक्षण तथा वर्णन उस युग में किया था जब पश्चिमी जगत् में इसकी सामान्य चर्चा भी न थी। पाश्चात्य आलोचना के जनक यूनानी आलोचक हैं, परन्तु उनकी आलोचना में भी इतनी व्यापकता तथा सर्वांगीणता नहीं है जितनी संस्कृत आलोचना में। आजकल के नवयुवक जिन्होंने केवल पाश्चात्य साहित्य पढ़ा है बहुधा यही समझते हैं कि ग्रीक और लैटिन में और तत्पश्चात् फ्रेंच और अंग्रेजी में जो पुस्तकें हैं उनमें ही साहित्यकला का सब ज्ञान संचित है और बहुधा उन्हीं में समाविष्ट सिद्धान्तों की कसौटी पर साहित्य की समालोचना हो सकती है। यह उनका विश्वास भ्रमपूर्ण है। आजकल हिन्दी साहित्य की नव्य आलोचना भी संस्कृत आलोचना से पराङ्मुख ही दीख पड़ती है। इसका एक कारण तो यह प्रतीत होता है कि भारत में अंग्रेजी भाषा सुलभ हो जाने से नवीन आलोचक पश्चिमी साहित्य-शास्त्र से जितना सुपरिचित हो जाता है उतना संस्कृत साहित्य-शास्त्र से नहीं। संस्कृत का यह शास्त्र तो सूक्ष्म विवेचन के आग्रह, सूत्रात्मक विधान और नैयायिक विचार-सरणि के समावेश से कुछ दुर्गम हो गया है। सौभाग्य से इधर संस्कृत के मान्य आलोचनाग्रन्थों के हिन्दी में सुबोध अनुवाद प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। यह विशेष हर्ष का विषय है।

संस्कृत आलोचनाशास्त्र में ऐसे महत्त्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है कि उनकी जानकारी प्रत्येक काव्य-पाठक को होनी चाहिए। हिन्दी का ही नहीं, प्रत्युत भारतवर्ष की समग्र प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य-शास्त्र संस्कृत के अलंकार-शास्त्र के ऊपर आधारित है—उसके तथ्यों तथा सिद्धान्तों से ओतप्रोत है, परन्तु आज की नव्य आलोचना पाश्चात्य ग्रन्थों को ही अपना आधार-पीठ बनाती है। यह दुर्भाग्य का विषय है। अपने घर के रत्नों को छोड़कर दूसरों के दरवाजों पर पैसे के लिए भटकते फिरते रहते के समान यह उपहास का विषय है। भारत के इन सिद्धान्त-रत्नों से परिचय पाना प्रत्येक साहित्यवेत्ता का कर्तव्य होना चाहिए। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्त बड़े ही व्यापक हैं; जिनकी छानबीन बड़े विस्तार के साथ संस्कृत ग्रन्थों में की गयी है। उस विस्तार से परिचय न पाने पर भी सिद्धान्तों के मूल से परिचित होना तो एकदम आवश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस छोटे से ग्रन्थ की रचना की गई है।

इस ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं—काव्य, काव्यरूप तथा काव्य-सिद्धान्त। पहिले खण्ड में काव्य के हेतु, प्रयोजन तथा स्वरूप के विषय का विवेचन संक्षेप में किया गया है। द्वितीय खण्ड में काव्य के रूपों का विशद वर्णन है। प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तककाव्य के वर्णन के अनन्तर रूपक का वर्णन कुछ विस्तार के साथ यहाँ किया गया है। तृतीय खण्ड का विवेच्य विषय काव्यसिद्धान्त है। यहाँ अनेक परिच्छेदों में काव्य के मान्य सिद्धान्तों का—जैसे औचित्य, रीति तथा गुण, दोष, वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि तथा रस का—विवेचन कुछ विस्तार के साथ किया गया है। हमारा उद्देश्य यही है कि संस्कृत आलोचना के मौलिक सिद्धान्त अपने विशुद्ध रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत हो जायँ और इसके लिए भाषा तथा शैली दोनों को सरल, सुबोध तथा सरस बनाने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। हमारे एतद्विषयक अन्य ग्रन्थों से इस ग्रन्थ की रचना-शैली भिन्न है। यहाँ उदाहरणमुखेन विवेचन रखने का श्लाघ्य प्रयास किया गया है। उदाहरणों का चुनाव हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों से परिश्रम-पूर्वक किया गया है। संस्कृत ग्रन्थों से दृष्टान्त देने में मुझे बहुत ही सुविधा होती, परन्तु संस्कृत के पद्यों के अनुवाद देने से ग्रन्थ का कलेवर बहुत ही बढ़ जाता। इसी विचार से हिन्दी के ही उदाहरण यहाँ रखे गये हैं जिन्हें समझने में पाठकों को विशेष सुविधा हो। आशा है इस पद्धति से विषय का उपन्यास पाठकों के लिए विशेष लाभप्रद सिद्ध होगा। यह ग्रन्थ संस्कृत के मौलिक ग्रन्थों के ऊपर आधारित, है, परन्तु विस्तार-भय से मूल ग्रन्थों से उद्धरण जान-बूझकर नहीं रखे गये हैं। केवल संस्कृत की आलोचना संक्षेप में, परन्तु विशद रूप में, यहाँ विन्यस्त है।

विषय की पूर्ति के लिए 'संस्कृत आलोचना का क्रमिक विकास' परिशिष्ट रूप में दिया गया है। प्रथमतः आलोचना-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन है। इस पर सामान्य दृष्टि डालने पर भी किसी भी आलोचक को समझते देर न लगेगी कि संस्कृत के आलोचक काव्य के अन्तस्तत्त्वों का समीक्षण नाना दृष्टियों से करते थे। वे पुरानी परिपाटी के अनन्य भक्त नहीं थे, प्रत्युत मौलिक विवेचन कर काव्य के बहिरंग के समान अन्तरंग की भी छानबीन बड़ी मार्मिकता के साथ करते थे। यह निर्मूल धारणा है कि संस्कृत की आलोचना काव्य के केवल बाह्य का ही विश्लेषण करती है और भीतरी रहस्य को छूती नहीं। ग्रन्थ के इस अंश के अनुशीलन से यह धारणा बहुत अंशों में दूर हो जावेगी। आलोचना-शास्त्र को पल्लवित तथा पुष्पित करने का श्रेय जिन आचार्यों को है उनकी एक सामान्य रूपरेखा अन्त में जोड़ दी गयी है जिससे शास्त्र की प्राचीनता तथा प्रगति का पूरा परिचय लग सके। नामानुक्रमणी तथा पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी अन्त में देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

आशा है इस ग्रन्थ के अध्ययन से पाठकों को संस्कृत आलोचना-शास्त्र के सिद्धान्तों की सामान्य जानकारी हो सकेगी। इस आशा की पूर्ति से लेखक अपने को कृतार्थ समझेगा।

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।

—बलदेव उपाध्याय

वक्तव्य

(तृतीय संस्करण)

इस नवीन संस्करण में ग्रन्थ को पुनः संशोधित किया गया है। यत्रतत्र नवीन तथ्यों का समावेश संनिविष्ट है। 'काव्य और प्रकृतिवर्णन' शीर्षक एक नवीन अध्याय ही जोड़ा गया है जिसमें प्रकृति के विषय में कविजनों की परिकल्पना और भावना का संक्षेप में विवेचन किया गया है। इन नूतन तथ्यों के जोड़ने से मूल ग्रन्थ के कथनों का विशदीकरण हुआ है। आशा है इन परिबृंहणों से ग्रन्थ की उपादेयता में वृद्धि हुई है।

लेखक को प्रसन्नता है कि जिस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर इस स्वल्पकाय ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था, उसकी पूर्ति में यह किसी अंश में सहायक सिद्ध हुआ है। यह तो मानी हुई बात है कि आलोचना की प्राचीन परम्परा से अनभिज्ञ व्यक्ति भारतीय कवियों के काव्यों का यथार्थतः रसास्वादन नहीं कर सकता। सामान्य पाठकों को ही दृष्टि में रखकर इसकी रचना की गई है जो इस विषय की विशिष्टता से परिचय पाने के लिए सम्भवतः पर्याप्त है। इस विषय की प्रौढ़ जिज्ञासा रखनेवाले, विशेषतः 'तुलनात्मक समालोचना' के रसिक व्यक्तियों के लिए लेखक की अन्यतम कृति है—'भारतीय साहित्य-शास्त्र' (दो खण्डों में विभक्त) जिसका नवीनतम, क्रमशः तृतीय और चतुर्थ संस्करण आलोचना' के सिद्धान्तों का विशद मार्मिक विवेचन करता है। आशा है यह कृति भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ सिद्ध होगी।

अन्त में हम भगवती शारदा से प्रार्थना करते हैं कि उनकी शाश्वत देदीप्यमान प्रतिभारूपी चक्षु सामाजिकों की वाणी से आविर्भूत होती रहे जिससे समाहित चित्तवाले कविजन तीनों लोकों में स्थित वस्तु को देखने में समर्थ होते हैं:—

चक्षुस्तदुन्मेषि सदा मुखे वः
सारस्वतं शाश्वतमाविरस्तु।
पश्यन्ति येनावहिताः कवीन्द्रा-
स्त्रिविष्टपाभ्यन्तरवर्ति वस्तु॥

रवीन्द्रपुरी, वाराणसी
शारदी पूर्णिमा, सं० २०३२
२०–१०–७५

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—काव्य

तृतीय खण्ड—काव्य-सिद्धान्त

परिशिष्ट

(संस्कृत आलोचना का क्रमिक विकास)

संस्कृत आलोचना

: १ :

काव्य

१

विषय-प्रवेश

किसी भी भाषा के साहित्य की पूरी छानबीन करने के लिए उसकी आलोचना अपेक्षित होती है। बिना आलोचना के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है और न उसके दोषों का। गुण-दोषों को बिना जाने किसी भी काव्य का आनन्द नहीं उठाया जा सकता। इसीलिए संस्कृत के एक कवि का कहना है कि बड़े या छोटे कवि की विशेषता जानने के लिए उसके ग्रन्थों की परीक्षा आवश्यक होती है। एक साधारण दीपक तथा मणिदीप में क्या अन्तर होता है? इसका परिचय बिना आंधी चले नहीं हो सकता। यदि आँधी किसी दीपक को बुझा देती है, तो उसे सामान्यकोटि का दीपक जानना चाहिए। जोरों की आँधी आने पर भी जो दीपक उसी मस्ती के साथ अपना प्रकाश बिखेरता हुआ जला करता है, वह साधारण दीपक न होकर 'मणिदीप' (मणि का दीपक) हुआ करता है। इसीलिए काव्य का वैशिष्ट्य समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है। 'कवि तथा आलोचक दोनों में किसका पद बड़ा होता है?'—इस प्रश्न पर विभिन्न मत अवश्य हैं, परन्तु भारतवर्ष में दोनों का पद एकसमान ही महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय माना गया है। कवि तो काव्य का निर्माण करता है, परन्तु आलोचक ही उसके रस के जानने में, काव्य का मर्म समझने में सफल होता है और कभी-कभी तो ऐसे भावों को समझता है तथा समझाता है जो कवि की दृष्टि से भी ओझल रहते हैं। इस प्रकार 'आलोचना' भारतीय साहित्य में एक अत्यन्त उपादेय विद्या है और 'आलोचक' का पद कवि की अपेक्षा कथमपि न्यून या घटकर नहीं है। संस्कृत के एक मान्य प्राचीन आलोचक राजशेखर तो 'आलोचना-शास्त्र' को वेद का सप्तम अंग मानते हैं। उनका कथन है कि बिना उसके स्वरूप जाने वेद के अर्थ का ज्ञान पूरे रूप से नहीं हो सकता। इस प्रकार यह शास्त्र वेदांग के समान ही उपयोगी तथा उसके समकक्ष माना जाता है।

नामकरण

आलोचना के लिए संस्कृत में अनेक नामों का प्रचलन प्राचीनकाल से होता चला आता है। इसका प्राचीनतम अभिधान '**क्रियाकल्प**' प्रतीत होता है। वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओंके भीतर क्रियाकल्प को भी एक विशिष्ट कला माना है। 'क्रिया' का अर्थ है–काव्यग्रंथ और 'कल्प' का अर्थ है–विधान। इस प्रकार काव्य के विधायक शास्त्र होने से इसका यह नाम प्रचलित हुआ, परन्तु यह प्रसिद्ध न हो सका। इसी प्रकार दशम शती के आरम्भ में राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इसका नाम 'साहित्य-विद्या' रखा। यह नामकरण काव्य की कल्पना के ऊपर आश्रित है। काव्य शब्द तथा अर्थ का सम्मिलित रूप होता है और इसी साहित्य अर्थात् समभाव-सम्पन्न शब्द तथा अर्थ की मीमांसा होने के हेतु यह नाम दिया गया। परन्तु इसका भी प्रचलन न हो सका और 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द की गति-विधि इसके समान ही ठहरी। 'आलोचनाशास्त्र' का संस्कृत में सर्वप्रसिद्ध नाम है–**अलंकार शास्त्र**। इस शब्द के ठीक-ठीक अर्थ समझने की जरूरत आज भी है। पूछा जा सकता है कि क्या भारतीय आलोचना में केवल अलंकारोंका(जैसे—उपमा, रूपक, दीपक आदि का)ही विवेचन है? अलंकार तो कविता के अनेक शोभाधायक तत्त्वों में से अन्यतम ही होता है। ऐसी दशा में केवल अलंकारों का प्रतिपादक शास्त्र कहना क्या एकांगी नाम नहीं है? इसके उत्तर में हमारा यही निवेदन है कि यहाँ 'अलंकार' शब्द का प्रयोग इस सीमित अर्थ में नहीं किया गया है। 'अलंकार' का अर्थ दो प्रकार का होता है—(क) 'अलंक्रियते अनेन' इति अलंकारः अर्थात् काव्य में शोभा के आधायक तत्त्व (संकीर्ण अर्थ); (ख) 'अलंक्रियते' इति अलंकारः अर्थात् काव्य की शोभा (व्यापक अर्थ)। 'अलंकार' को इस व्यापक अर्थ में लेने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलंकार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है--**सौन्दर्यमलंकारः** अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने तत्त्व हैं उन सबका सामान्य अभिधान है—अलंकार। फलतः 'अलंकार शास्त्र' का अर्थ है कांव्य के शोभावर्धक तत्त्वों का प्रतिपादक शास्त्र और इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ ग्रहीत होना चाहिए।

संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर भी इस नाम का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। साहित्यशास्त्र के आरम्भिक युग में अलंकार ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था। 'अलंकार' के अध्ययन से अनेक काव्य-तत्त्व पीछे उद्भूत हुए। अलंकार की गहरी मीमांसा करने पर एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ और दूसरी ओर

दीपक, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्ति आदि अलंकारों में विद्यमान, प्रतीयमान अर्थ की समीक्षा करने से 'ध्वनि' के सिद्धान्त की ओर स्पष्ट संकेत मिला। इसलिए कुमार-स्वामी का यह कथन यथार्थ प्रतीत होता है कि रस, ध्वनि, गुण आदि तत्त्वों के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य की दृष्टि से ही इस शास्त्र का नाम 'अलंकार शास्त्र' पड़ा अर्थात् इस शास्त्र के आद्य युग में अलंकारों की ही महिमा काव्य में व्याप्त थी। उन्हीं का अध्ययन प्रधान रूप से इस शास्त्र में किया जाता था। इस शास्त्र के नामकरण का यही रहस्य है।

प्राचीनता

हमारी दृष्टि में काव्य की आलोचना सबसे पहिले इस भारतवर्ष में संस्कृत के आचार्यों द्वारा की गयी। इसका प्राचीन साहित्य आज लुप्तप्राय है। राजशेखर ने अपने मान्य ग्रन्थ—काव्यमीमांसा—में इस शास्त्र के १८ अधिकरणों की रचना अठारह उपदेशकों के द्वारा बतलायी है। इसकी सत्यता को परखने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। भरत का रूपक-विषयक ग्रन्थ तो आज उपलब्ध है, परन्तु नन्दिकेश्वर के रस ग्रन्थ का, बृहस्पति के दोषग्रन्थ का तथा उपमन्यु के गुणग्रन्थ का कहीं भी नाम निर्देश नहीं मिलता। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नन्दीस्वामी, दण्डी से पूर्व आलंकारिकों में गिने जाते हैं, परन्तु इनके मूलग्रन्थ का आज पता भी नहीं चलता। इस शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है भरतमुनि का **नाट्यशास्त्र** जो छत्तीस अध्यायों में कारिका के रूप में रचित एक सर्वमान्य ग्रन्थ है। यह भारतवर्ष की ललित कलाओं की जानकारी के लिए एक उपादेय प्राचीन ग्रन्थरत्न है। इनके समय तक नाट्यशास्त्र के भीतर अंगरूपसे 'अलंकारशास्त्र' का अध्ययन होता रहा, परन्तु **भामह** (पञ्चम शतक) ने अलंकारशास्त्र को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया और तभी से इसका स्वतन्त्र इतिहास उपलब्ध होता है। नाटयशास्त्र की रचना के विषय में आज भी मतैक्य नहीं है, परन्तु उसका मूल सूत्ररूप विक्रम से कई शती पूर्व का निःसन्दिग्ध निर्माण है। भरत से प्राचीनतर नटसूत्रों का (जो सम्भवतः नट लोगों के प्रयोग विधान की शिक्षा देनेवाले सूत्रग्रन्थ थे) परिचय हमें पाणिनि की अष्टाध्यायी से मिलता है। पाणिनि ने दो अत्यन्त प्राचीन नटसूत्रों के नाम का निर्देश किया है जिनके रचयिता **शिलालि** तथा **कृशाश्व** थे, परन्तु इनके ग्रन्थ का आज पता नहीं। इस प्रकार विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से लेकर १८वें शतक, लगभग अढ़ाई हजार वर्षों तक 'आलोचना शास्त्र' का चिन्तन और मनन, अध्ययन तथा अध्यापन इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में होता आया है और आज भी उसका अनुशीलन विद्वज्जनों के द्वारा हो रहा है। भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओं के साहित्य-

शास्त्र, विशेषतः हिन्दी भाषा का, संस्कृत अलंकारशास्त्र की परम्परा को ही उज्ज्वल बनाते हैं तथा उसे उपजीव्य मानकर अपने भंडार को भरते हैं। इतना प्राचीन तथा दीर्घकालीन इतिहास यूरोप के साहित्यशास्त्र का भी नहीं है, अन्य की तो कथा ही क्या !

संक्षिप्त इतिहास

अलंकारशास्त्र के कतिपय मान्य आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का सामान्य परिचय यहाँ अपेक्षित है। आचार्य **भामह** (षष्ठ शतक) ने अपना 'काव्यालंकार' ग्रन्थ लिखकर अलंकारशास्त्र का आधारस्थानीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया। **दण्डी** (सप्तमशती) ने 'काव्यादर्श' में रीतियों, अलंकारों तथा गुणों का बहुत ही सुन्दर विवरण दिया। **वामन** तथा **उद्भट** काश्मीर नरेश जयापीड (अष्टम शतक) की सभा के पण्डित-रत्न थे जिनमें वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' में अलंकार के तत्त्वों को नवीन सूत्र पद्धति से प्रस्तुत किया तथा उद्भट ने केवल अलंकारों का विस्तृत विवेचन अपने 'काव्यालंकार सारसंग्रह' ग्रन्थ में बड़ी प्रौढ़ता के साथ निबद्ध किया। वामन रीति सम्प्रदाय के संस्थापक थे, तो उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के उन्नायक थे। **रुद्रट** (नवम शती) का 'काव्यालंकार' कारिकाओं के द्वारा काव्यशास्त्र के समग्र विषयों का विस्तार से बोधक ग्रन्थ है। **आनन्दवर्धन** (नवमशतक का मध्य भाग) से साहित्यशास्त्र की एक नयी धारा आरम्भ होती है जो 'ध्वनि सम्प्रदाय' के नाम से प्रख्यात है और जिसका तात्त्विक विवेचन इन्होंने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में किया। **अभिनवगुप्त** (दशम शतक) शैव दर्शन के मूर्धन्य आचार्य होने के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के भी एक बड़े ही मान्य आचार्य हैं जिन्होंने रस सिद्धान्त का प्रौढ़ और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनव भारती' में बड़े ही पाण्डित्य के साथ किया है। एकादश शतक में काश्मीर में दो मौलिक आचार्य हुए **कुन्तक** तथा **महिमभट्ट** जिन्होंने ध्वनि सिद्धान्त के विरोध में नवीन मान्यताओं की प्रतिष्ठा की। कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित' वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक, बड़ा ही विशाल, प्रौढ़ तथा मौलिक ग्रन्थ है। **महिमभट्ट** का 'व्यक्तिविवेक' भी उतना ही प्रौढ़ तथा विचारोत्तेजक सिद्धान्तग्रन्थ है। **धनञ्जय** (११ शतक) का 'दशरूपक' नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का प्रतिपादक एक लोकप्रिय ग्रंथ है। **भोजराज** (११ शतक का प्रथमार्ध) के दोनों ग्रन्थ—'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृंगार प्रकाश'—अलंकार के तत्त्वों की जानकारी के लिए विश्वकोश हैं। इसी शती के उत्तरार्ध में विद्यमान आचार्य **मम्मट** ने अपने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि के विरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन इतनी विद्वत्ता तथा युक्ति के साथ किया कि वे 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' के विरुद से विख्यात

हैं। मम्मट ने काव्य के तत्त्वों की जो प्रौढ़ तथा अन्तरंग व्याख्या प्रस्तुत की है, परवर्ती आलंकारिक उसका अनुसरण सर्वथा करते हैं। ऐसे आलंकारिकों में मुख्य हैं— क्षेमेन्द्र, रुय्यक, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ। **क्षेमेन्द्र** ने अपने छोटे, परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य के सिद्धांत का शास्त्रीय विवेचन किया। **रुय्यक** का 'अलंकार सर्वस्व' सचमुच अलंकारों का सर्वस्व प्रस्तुत करता है (१२वीं शती)। **हेमचंद्र** का 'काव्यानुशासन' काव्य का एक विस्तृत आलोचक ग्रन्थ है जिसमें मौलिकता की अपेक्षा संकलन के ऊपर ग्रंथकार का विशेष जोर है (१२ श० का मध्यकाल)। **विश्वनाथ कविराज** का 'साहित्यदर्पण' विवेचना की दृष्टि से सचमुच दर्पण ही है जिसमें साहित्य के समग्र सिद्धांत अपने विशद रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं (१४ शतक)। दर्पण के समान लोकप्रिय ग्रन्थ संस्कृत आलोचना में दूसरा नहीं है। **पण्डितराज जगन्नाथ** (१७ शतक) का 'रसगंगाधर' अलंकार शास्त्र के तत्त्वों का विशेष प्रतिपादक तथा नितान्त मौलिक ग्रन्थरत्न है।

इस संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि संस्कृत का 'अलंकार शास्त्र' एक वर्धिष्णु शास्त्र है जिसमें नये-नये सम्प्रदायों का जन्म हुआ तथा प्राचीन सिद्धान्तों का भी विश्लेषण तथा परिबृंहण बड़ी गम्भीरता के साथ सम्पन्न हुआ। इस विकास तथा वर्धन पर दृष्टिपात न करके जो इसे एक स्थितिशील शास्त्र मानते हैं, वे यथार्थता से कोसों दूर हैं तथा इसके वास्तव रूप से एकदम अपरिचित हैं।

विशिष्टता

साहित्यशास्त्र पर बहिरंग दृष्टि डालनेवाले आलोचक कहते हैं कि संस्कृत की आलोचना में काव्य के केवल बहिरंग तत्त्वों पर ही विचार किया गया है। अलंकारों की विवेचना तथा दोषों का समीक्षण ही विस्तृत है। अलंकार शब्द तथा अर्थ के शोभाधायक तत्व हैं तथा दोषों का सम्बन्ध भी इन्हीं दोनों वस्तुओं में होनेवाले दूषणों के वर्णन से है। किसी भी आलोचना-ग्रन्थ को देखिये, उसमें इन्हीं सिद्धांतों का विस्तृत वर्णन मिलेगा। फलतः संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थ काव्य के बाहरी विषय में ही अधिक प्रवृत्त होते हैं। अतः संस्कृत आलोचना बाहरी है तथा पाश्चात्य आलोचना की तुलना में वह नगण्य ही है।

यह आरोप एकदम मिथ्या है। संस्कृत आलोचना काव्य के सर्वांग की विवेचना करती है—बहिरंग के साथ अन्तरंग की भी। रीति, वृत्ति, दोष तथा अलंकार काव्य के बाहरी तत्त्व भले हों, परन्तु रस उसका प्राण है और इस प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा जितनी व्यापकता तथा सूक्ष्मता के साथ संस्कृत के आचार्यों ने की है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। रस का उन्मीलन कैसे होता है? रस कहाँ रहता है? सहृदयों में या

पात्रों में ? रस कितने हैं ? रस के मनोवैज्ञानिक आधार क्या हैं ? आदि-आदि अनेक गम्भीर चिन्ताशील विषयों का पूरा समीक्षण हमें संस्कृत के आलोचनाग्रन्थों में मिलेगा। हमारा अलंकारशास्त्र विषय की दृष्टि से इतना व्यापक है कि वह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रों का—'पोइटिक्स', 'रेटारिक' तथा 'एस्थेटिक्स' का—प्रतिनिधित्व करता है। 'पोइटिक्स' में काव्य तथा नाटक के रूप तथा विभाग, गुण तथा सिद्धांत, का विवेचन हम पाते हैं। 'रेटारिक' का सम्बन्ध वक्तृत्व कला के साथ है और तदुपयोगी गद्य के गुणदोषों का यहाँ वर्णन मिलता है। 'एस्थेटिक्स' में सौंदर्य के रूप, तत्त्व तथा महत्त्व का दार्शनिक रूप से विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय 'अलंकारशास्त्र' में इन विभिन्न शास्त्रों के सिद्धांतों का एकत्र सुन्दर समीक्षण है। काव्य की आत्मा रस है और इसी रस के अंगों और उपांगों का विवेचन अलंकारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। पाश्चात्य आलोचनापद्धति का ढंग दूसरा है। वह जीवनदर्शन की समस्याओं की छानबीन काव्य में देखना चाहती है, परन्तु संस्कृत की आलोचना भी इस छानबीन की उपेक्षा नहीं करती। काव्य का उद्देश्य 'कान्तासम्मितोपदेशयुजे' है अर्थात् काव्य कान्ता के समान कमनीय रूप से जीवन के उपयोगी उपदेशों का विधान है। स्पष्ट है कि जीवन के दर्शन को काव्य दृष्टि से समझने तथा समझाने का भरपूर उद्योग 'अलंकार-शास्त्र' में किया गया है।

संस्कृत आलोचना केवल सिद्धान्त के विवेचन में ही व्यस्त नहीं रहती है, प्रत्युत व्यवहार को भी भली भाँति समझाती है। कविता कैसे करनी चाहिए ? कवि बनने के लिए कौन-कौन से साधन होते हैं ?—इन विषयों के वर्णन की वह उपेक्षा नहीं करती। बल्कि 'कविशिक्षा' के विषय में लिखित अनेक ग्रन्थों में इन विषयों का उपयोगी तथा व्यावहारिक वर्णन हमें उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसीलिए 'अभिनय' का हम सांगोपांग विवेचन पाते हैं। अभिनय के चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं—आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य। 'आंगिक' अभिनय में हाथ तथा पैर के विक्षेप, नेत्र तथा सिर के चालन आदि का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है। 'वाचिक' में संवाद-तत्व का विवरण है। रस की अभिव्यक्ति रंगमंच पर कैसे की जाती है ? इसका उत्तर हमें 'सात्त्विक' अभिनय के प्रसंग में मिलेगा। 'आहार्य' अभिनय में पात्रों की वेश-भूषा, सज्जा-सजावट का बड़ा ही रोचक विवरण है। नाटक क्या है ? तथा उसकी रचना कैसी होती है ?- इतना वर्णन कर देने से ही नाट्यशास्त्र का आचार्य अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानता, बल्कि नाटक का अभिनय आकर्षक रूप से कैसे करना चाहिए ?, किन साधनों के द्वारा वह दर्शकों के चित्त को अपनी ओर खींच लेता है ?, आदि व्यावहारिक तत्वों की भी विवेचना वह भलीभांति यहां करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'संस्कृत आलोचना' का क्षेत्र बहुत ही विशाल है। वह केवल सिद्धान्त-विवेचन की चहारदीवारी के भीतर ही अपने को बाँध नहीं रखती, प्रत्युत वह व्यवहार के विस्तृत प्रांगण में भी विचरती है तथा व्यावहारिक समस्याओं को हल करती है।

सचमुच 'संस्कृत आलोचना' विषय के विवेचन में एकदम बेजोड़ है। उसने तीन ऐसे सिद्धान्तों को संसार के आलोचकों के सामने प्रस्तुत कर रखा है जिसका मूल्यांकन अभी तो नहीं, भविष्य में होनेवाला है। विश्व साहित्य के आलोचना-संसार के सामने हमारी तीन महती देन हैं–**औचित्य, रस** तथा **ध्वनि** के सिद्धान्त। भारतवर्ष का नव्य आलोचक पश्चिमी आलोचना के प्रवाह में आज इतना बहता जा रहा है कि उसकी दृष्टि अपने इन महनीय तत्त्वों के समझने की ओर तनिक भी नहीं है। परन्तु संस्कृत आलोचना अपने उदात्त मन्तव्यों तथा तथ्यों से मण्डित होनेवाली एक अनुपम साधना है; इस विषय में किसी भी विज्ञ आलोचक के दो मत नहीं हो सकते।

२

कवि और उसकी प्रेरणा

कवि संसार का बड़ा ही सौभाग्यशाली प्राणी है। भगवती शारदादेवी की जब बड़ी अनुकम्पा होती है, तब प्राणी में वह शक्ति उत्पन्न होती है जिसे 'कवित्व' के नाम से पुकारते हैं। संस्कृत के एक प्राचीन कवि की उक्ति है कि इस संसार में पहिले तो मनुष्य बनना ही एक दुर्लभ गुण है; तिस पर विद्वान् बनना और विद्वत्ता के साथ कवि होना तथा काव्य करने की शक्ति पाना नितान्त दुर्लभ है।

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

कवि की समता प्रजापति के साथ की जाती है। जिस प्रकार प्रजापति अपनी इच्छा के अनुसार इस विशाल तथा विविध पदार्थयुक्त जगत् की सृष्टि करता है, उसी प्रकार कवि भी अपने इच्छानुसार नवीन काव्यों की सृष्टि करता है जो मनुष्यों के हृदय में आनन्द ही उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत उनके जीवन को भी उदार तथा उदात्त बनाता है।

कवि

काव्य को करनेवाले व्यक्ति को 'कवि' कहते हैं। 'कवि' शब्द 'कु वर्णे' अथवा 'कुङ् शब्दे' धातु से 'इ' प्रत्यय लगाने से बनता है। राजशेखर की सम्मति में 'कवि' शब्द की निष्पत्ति 'कव् वर्णे' धातु से हुई है और इसलिए वे 'कवि' का अर्थ वर्णन-कर्ता मानते हैं। कवि रस तथा भाव का विमर्शक होता है। वह चिड़ियों की तरह चहकता है। पक्षियों के कल-कूजन के समान कवि का भी कूजन हमारे कानों में सुधा-धारा प्रवाहित करता है। उसके कूजन (काव्य) के मधुर अर्थ से हम परिचित भले ही न हों, पर सत्कवि की भणिति श्रोताओं के कानों में उसी प्रकार सुधा उड़ेलने

लगती है जिस प्रकार मालती की माला, जिसके सुभग सौरभ की मादकता घ्राण तक पहुँचे बिना भी लोगों के नेत्रों को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। महाकवि सुबन्धु ने काव्य की इस महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है—

अविदित-गुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधु-धाराम्।
अनधिगत-परिमलापि हि, हरति दृशं मालतीमाला॥
(सुबन्धु—वासवदत्ता, श्लोक ११)

भारतीय आलोचकों की दृष्टि में कवि का प्रधान कार्य 'वर्णन' है। मम्मटाचार्य के मत में 'काव्य' लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का कर्म होता है (लोकोत्तर-वर्णना—निपुण-कवि-कर्म)। अर्थात् किसी वस्तु के यथावस्थित रूप के वर्णन में कवि के कवित्व का पर्यवसान नहीं होता, प्रत्युत उसके वर्णन में लोकोत्तरता का, अतिशय का, पुट सर्वदा वर्तमान होना आवश्यक है।

भट्टतौत भी कवि को 'वर्णनानिपुण' बतलाते हैं। सच तो यह है कि कवि का प्रधान कार्य होता है किसी वस्तु का या किसी घटना का लोकोत्तर रूप से वर्णन। बिना वर्णन के कवि का यथार्थ रूप विकसित नहीं होता।

कवि क्रान्तदर्शी होता है—**कवयः क्रान्तदर्शिनः**। किसी वस्तु के अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान हुए बिना कोई कवि नहीं हो सकता। वस्तु के बाहरी आवरण को हटाकर उसके अन्तस्तल तक पहुँचना कवि के लिए परमावश्यक होता है। वह कवि नहीं है बल्कि **'हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता'** बनकर वह इधर-उधर से नोंच-खसोट कर कविता की काया को बढ़ानेवाला तुक्कड़ है जो वस्तु की ऊपरी सतह पर ही तैरता रहता है और उसकी भीतरी तह तक नहीं पहुँच पाता। अतः **'दर्शन'** सत्कवि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक गुण है। परन्तु द्रष्टा होने पर भी कोई व्यक्ति तब तक कवि नहीं हो सकता जब तक अपने प्रातिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर वह उसे प्रकट नहीं करता। भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति कवि के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना उन भावों का दर्शन।

कवित्व के आधार

कवित्व के दो आधार-स्तम्भ हैं—**दर्शन** और **वर्णन**। इन दोनों के पूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। वाल्मीकि महर्षि तत्वों के द्रष्टा थे। परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत ज्ञान को शब्दों के माध्यम द्वारा प्रकट नहीं किया तब तक उन्हें 'कवि' की महनीय संज्ञा प्राप्त नहीं हुई। न जाने कितनी बार कितने

भावों ने उनके हृदय में अपना घर बनाया होगा, परन्तु कवि की संज्ञा उन्हें तभी प्राप्त हुई जब क्रौञ्च पक्षी के करुण स्वर से उनका कारुणिक हृदय पिघल उठा और उनका आन्तरिक शोक 'श्लोक' के रूप में बाहर छलक पड़ा।

आचार्य अभिनवगुप्त के विद्यागुरु **भट्टतौत** ने कवि के स्वरूप के विवेचन में बड़े पते की बात कही है कि कवि 'अनृषि' नहीं होता–कवि ऋषि ही होता है। मन्त्र का द्रष्टा पुरुष ही 'ऋषि' की महनीय उपाधि धारण करता है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। कवि भी दर्शन से युक्त होने के कारण ही 'ऋषि' कहलाता है। वस्तु के विचित्र भाव को, उसके अन्तर्निहित धर्म को तत्वरूप स जानना ही 'दर्शन' कहलाता है। शास्त्र में इसी तत्व-दर्शन के कारण कवि 'कवि' कहा जाता है। परन्तु लोक में 'कवि' की संज्ञा दर्शन तथा वर्णन के कारण से एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ है। कवि वही है जिसमें 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का भी सुन्दर संयोग रहता है। दर्शन है आन्तरिक गुण और वर्णन है बाह्य गुण। इन दोनों के मंजुल सामंजस्य होने पर ही कविता की स्फूर्ति होती है। दर्शन तथा वर्णन का संमिश्रण ही काव्यकला के चरम विकास का आधारपीठ है।

कवि की सृष्टि

प्रतिभा के सहारे कवि काव्य-जगत् का स्रष्टा होता है। इस सृष्टि-कार्य में उसकी श्लाघनीय शक्ति का नाम है **प्रतिभा**। ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि में निजी विशेषता है, अत्यन्त विलक्षणता है। ब्रह्मा अपने सृष्टिकार्य में एकान्त स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं करता, बल्कि वह प्राणियों के कर्म के अनुसार ही सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है। परन्तु कवि अपनी सृष्टि में नितान्त स्वतन्त्र होता है। उसकी रुचि जैसी होती है, वैसी ही सृष्टि वह झट कर देता है—

अपारे काव्य–संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

आचार्य मम्मट ने ब्रह्मा की सृष्टि से कवि की सृष्टि की विशेषता बतलाते हुए बहुत ही सुन्दर लिखा है—

नियति-कृत-नियम-रहिता-
माह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती,
भारती कवेर्जयति॥

(काव्यप्रकाश– मंगल श्लोक)

आचार्य मम्मट यहाँ कवि-भारती की सृष्टि के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं। कवि की सृष्टि प्रजापति की सृष्टि से कहीं अधिक बढ़कर है तथा अत्यन्त आनन्ददायक है। ब्रह्मा की सृष्टि नियति के द्वारा उत्पन्न नियमों का पालन करती है। वह सत्त्व, रज तथा तम से निर्मित होने के कारण सुख, दुःख तथा मोह पैदा करती है। वह परमाणुओं के ऊपर आश्रित रहती है, क्योंकि परमाणुओं के संयोग से जगत् की रचना नैयायिकों को अभीष्ट है। उनमें छः रस होते हैं और इन रसों के द्वारा वह सदा मनोज्ञ ही नहीं होती। परन्तु कवि की सृष्टि प्रत्येक बात में ब्राह्मी सृष्टि से अपूर्व है। वह नियतिकृत नियमों से रहित और केवल आनन्द-दायिनी है। कवि को छोड़ वह किसी पर आश्रित नहीं रहती। काव्य में नवरस होते हैं और उनके द्वारा कविसृष्टि सदा रुचिर, मनोज्ञ तथा हृदयहारिणी होती है।

कवि वह जादूगर है जिसके जादू के सामने जगत् का प्रत्येक पदार्थ रसभाव से सम्पन्न दीखने लगता है। कोई वस्तु कितनी भी नीरस क्यों न हो, रस-तात्पर्यवाले कवि के हाथ लगाते ही उसमें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है – वह विचित्र रूप से आकर्षक बन जाती है। इसलिए कवि के उपकरण की अवधि नहीं होती। कवि अपने काव्य की सामग्री समस्त विश्व से ग्रहण करता है और अपनी शक्ति के प्रभाव से उसमें नाना प्रकार का वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। इसीलिए कवियों की महनीय परम्परा को देखकर भी नीलकण्ठ कवि हताश नहीं होते। उनका कथन है कि यदि एक भी कवि की रचना मैं देखता हूँ, तो मुझे सरस्वती का खजाना खाली जान पड़ता है। परन्तु सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश करने पर यही जान पड़ता है कि कवि-कोटि इसके एक कोने में ही पड़ी हुई है—मन्दिर का पूरा आँगन नवीन कवियों के उपयोग के लिए अभी पूरा खाली पड़ा है। सचमुच प्रतिभाशाली कवि के लिए न तो विषय की कमी है और न कल्पना का ह्रास। शारदा का यह विशाल मन्दिर उनके लिए सावकाश बना हुआ है —

> पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्,
> सारस्वतं कोषमवैमि रिक्तम्।
> अन्तः प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्,
> कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा॥

कवि के लिए इससे बढ़कर महत्व की बात और क्या हो सकती है कि भगवती श्रुति भी उस अखण्डब्रह्माण्डनायक (ईश्वर) को 'कवि' के ही नाम से पुकारती है, न तो उसे 'शाब्दिक' कहती है और न 'तार्किक'। इस जगत् का निर्माता तथा

नियन्ता न 'वैयाकरण' कहा गया है और न 'नैयायिक' ; परन्तु कहा गया है 'कवि'। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि उपनिषद् वाक्य इसके यथार्थ पोषक हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह 'कवि' के लिए भूषण की बात है —

स्तोतुं प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वरं हि,
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते हि तावत् कविरित्यभीक्ष्णं,
काष्ठा परा सा कविता ततो नः॥
(शिवलीलार्णव १।१६)

कवि की प्रेरणा-शक्ति

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। बिना किसी बलवान् कारण के वह किसी भी प्रवृत्ति के लिए उद्योगशील नहीं होता। काव्यकला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रतीक है। यह अनन्त आनन्द का स्रोत है। मानव उसी आनन्द का प्रकाशन अपनी कला के द्वारा सम्पन्न कर दर्शक तथा पाठक को एवं अपने को आनन्दमय बनाने का प्रयत्न करता है। यही अभिव्यंजना उसकी अनुभूति का चरम अवसान है।

हमारे मनीषियों की प्रत्यक्ष दृष्टि बतलाती है कि आनन्द के अनुभव के लिए ही ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है। उसकी सृष्टि भी एक अखण्ड रस की धारा से आप्लावित है। रस-प्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। आनन्द की अनुभूति के लिए प्राणी बेचैन होकर इधर-उधर भटकता है। जब उसे इस आनन्द का कुछ अनुभव हो जाता है तब वह शब्द, चित्र या स्वरों द्वारा अपनी उपलब्ध तृप्ति को बाहर प्रकट करता रहता है। वह स्वार्थी नहीं है कि वह समग्र रस का पान चुपचाप स्वयं ही कर जाय। वह अपने 'स्व' को इतना विस्तृत और व्यापक बना देता है कि उसके लिए कोई 'पर' रहता ही नहीं। इसी व्यक्तित्व के प्रसार को, अपने 'स्व' को 'पर' के साथ तादात्म्य को, साहित्य की भाषा में 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गयी है।

रस की उपलब्धि के अनन्तर उसके उन्मीलन का प्रधान साधन है—कला। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'कला या साहित्य के मूल में कौन-सी प्रेरणा कार्य करती है? कौन वस्तु कवि को कला के उन्मीलन तथा काव्य की रचना के लिए

अग्रसर करती है ?'—इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—स्वान्तः सुखाय; अपने मन के सुख के लिए, अपने हृदय के आनन्द के निमित्त ही।

उपनिषदों का कथन है कि मानव तीन एषणाओं की तृप्ति के लिए संसार में प्रयत्नशील रहता है। ये एषणाएं हैं-(१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा, (३) लोकैषणा अर्थात् पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा और यश की इच्छा। अन्य शब्दों में काम, अर्थ और धर्म ही इस संसार में समग्र मानव प्रवृत्तियों के निदान माने गये हैं। हमारे समस्त कार्य-व्यवहार इन्हीं कारणों से होते हैं। मानव जीवन की समस्त प्रवृत्ति का मूल यही है। परन्तु इन पुरुषार्थों के अतिरिक्त 'मोक्ष' नामक चतुर्थ पुरुषार्थ भी है जो प्राणिमात्र के उद्बोधन तथा प्रवृत्ति का साधन है। यह मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और इसी की सिद्ध के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य सतत प्रवृत्त होते हैं। हमने गोस्वामी तुलसीदास के ही प्रसिद्ध शब्द 'स्वान्तः सुखाय' को समस्त कला की मूल प्रेरक शक्ति माना है। इस विश्व में समस्त प्रेरणाओं तथा स्फुरणाओं का आधार यही आत्मा है। इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तना का सर्वश्रेष्ठ फल है। 'आत्मानं विजानीहि'—आत्मा की यही साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तना तथा रसात्मक रचना का मूल स्रोत है। काव्य की प्रेरणा का यही मूल आधार है।

काव्य में व्यक्तित्व

भारतीय दृष्टि से काव्य में कवि के व्यक्तित्व की मधुर झाँकी ही नहीं रहती, प्रत्युत उसकी आत्मा का पूर्ण आलोक प्रकाशित होता है। काव्य में व्यक्तित्व के संबध में दो परस्पर-विरोधी मत पाश्चात्य आलोचना जगत् में दीख पड़ते हैं। एक पक्ष कला में कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास मानता है, तो दूसरा पक्ष कलाकार के व्यक्तित्व का कला में सर्वथा तिरस्कार तथा परिहार मानता है। सुप्रसिद्ध आलोचक ब्रैडले का कथन है कि 'कला न तो वास्तविक जगत् का अंश है, न अनुकरण। इसकी दुनिया ही निराली है जो स्वयं स्वतन्त्र तथा स्वाधीन रहती है।' इस पक्ष के आलोचक कलात्मक अनुभूति को एक विशेष प्रकार की अनुभूति मानते हैं जो संसार की अन्य अनुभूतियों से विलक्षण तथा विचित्र होती है।

यह एकपक्षीय मत ही माना जा सकता है। भारतीय आलोचनाशास्त्र में काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एकान्त रूप से नहीं मानी गयी है। भारतीय रस-शास्त्र का प्रधान उद्देश्य पाठकों या दर्शकों को रसबोध कराना ही है। समाज की मंगलकामना, समाज का हितचिन्तन, समाज के कल्याण के लिए उपदेश,—इन

सब महनीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कवि सतत यत्नशील रहता है। काव्य में कवि के 'स्व' तथा 'सर्व' में कथमपि विरोध नहीं घटित होता।

भारतीय संस्कृति में समाज और व्यक्ति में भव्य सामञ्जस्य सदैव वर्तमान रहा है। भारतीय धर्म जिस प्रकार व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति का सन्देश देता हुआ समाज के हितचिन्तन के लिए भी जागरूक रहता है, उसी प्रकार भारतीय साहित्य भी व्यक्ति तथा समाज, दोनों के हितचिन्तन तथा स्वार्थ के एकीकरण के लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रकार काव्य वह साधन है जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम द्वारा समाज अपना सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य आलोचकों का भी झुकाव इसी सिद्धान्त की ओर दिखाई पड़ता है। आजकल के सुविख्यात अंग्रेज कवि इलियट का तो यहाँ तक कहना है कि 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है।'

तात्पर्य यह है कि सच्चा कलाकार जीवन को विशालता और विविधता की ओर ही दृष्टि डालता है। उसके सामने वह अपने व्यक्तित्व को भी सर्वथा तिरस्कृत कर देता है। कलाकार समाज में जनमता है। समाज से ही अपने विचारों के लिए पौष्टिक पदार्थ ग्रहण करता है। अपने विचारों और भावनाओं को व्यक्तित्व के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर विश्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में हमारे आलोचक कला को कलाकार के सीमित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं मानते, प्रत्युत उस व्यक्तित्व की झलक मानते हैं जो विश्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर चुका है। ऐसे कलाकार की कृति 'सर्वजनसुखाय' तथा 'सर्वजन-हिताय' अवश्यमेव होती है।

कविव्यापार

संस्कृत के दो प्रमुख आलंकारिक हैं जो काव्य को कविव्यापार का सद्यः-प्रसूत फल मानते हैं। काव्य में व्यापार मुखेन ही चमत्कार तथा वैशिष्ट्य का आविर्भाव होता है। आचार्य **कुन्तक** की मान्यताके अनुसार वैदग्ध्य या विदग्धता का अर्थ कविकर्म की कुशलता है और कवि व्यापार के लिए वे 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में यह वक्रोक्ति कविकर्म की कुशलता से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार के ऊपर आश्रित रहनेवाला कथन-प्रकार है (वैदग्ध्यभङ्गीभणिति)। इस सिद्धान्त का विशिष्ट प्रतिपादन उन्होंने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' नामक विश्रुत ग्रन्थ में किया है। वे इसी वक्रोक्ति को काव्य का जीवन तथा प्राण मानते हैं। काव्य में व्यापार-वैशिष्ट्य माननेवाले एक दूसरे भी आचार्य हैं **भट्टनायक** जिनका मत पूर्वमत से भिन्न तथा पृथक् ही है।

काव्य में व्यापार-मुखेन चमत्कार या वैशिष्ट्य की सत्ता माननेवाले ये दो आलंकारिक हैं—कुन्तक और भट्टनायक। परन्तु व्यापार-प्राधान्यवादी होने पर भी दोनों के मत में स्पष्ट अन्तर है। कुन्तक के सम्प्रदाय में काव्य में विशिष्ट अभिधा व्यापार की प्रधानता रहती है, परन्तु भट्टनायक के मत में रसविषयक चर्वण व्यापार का प्राधान्य विराजता है।[१] कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति के लिए 'विशिष्टा अभिधा' शब्द का प्रयोग स्वयं किया है। कुन्तक की यह अभिधा काव्य में गृहीत सामान्य अभिधा नहीं है। प्रत्युत उससे विलक्षण एक विशिष्ट शक्ति है जिसके भीतर द्योतना तथा अभिव्यञ्जना का भी विशद अन्तर्भाव होता है[१]। कुन्तक ने स्पष्ट ही कहा है कि हमारे सम्प्रदाय में 'वाचक' शब्द से अभिप्राय लोक में सुप्रसिद्ध वाचक से नहीं है। वाचक वही है जो अर्थ की प्रतीति कराता हो और इस विशिष्ट अर्थ में 'वाचक' द्योतक तथा व्यञ्जक, दोनों प्रकार के शब्दों का भी बोध कराता है। इस प्रकार ज्ञेयरूप धर्म से सम्पन्न होने के कारण 'वाच्य' द्योत्य और व्यंग्य अर्थों का भी प्रतिपादक है।'[२] कुन्तक के मत में इसी **'विशिष्टा अभिधा'** नामक व्यापार का प्राधान्य काव्य में विद्यमान रहता है। परन्तु भट्टनायक की कल्पना इससे नितान्त भिन्न है। वे काव्य में रस की सत्ता मुख्य मानते हैं। परन्तु प्रश्न है कि इस 'रस निष्पत्ति' या 'रसभुक्ति' की मीमांसा कैसे की जाय? इसके लिए उन्होंने शब्दों में 'भोजकत्व' नामक एक विलक्षण व्यापार माना है जो अभिधा तथा भावकत्व, इन दोनों व्यापारों से भिन्न, अथ च स्वतंत्र होता है। काव्य में इसी **'भोजक व्यापार'** की प्रधानता होती है। यह भोजकत्व है क्या? रस का चर्वणरूप व्यापार! इस प्रकार काव्य में व्यापारवादी दो प्रख्यात आलोचकों का यह मतभेद सूक्ष्म बुद्धि से समीक्षणीय है।

---

१. वक्रोक्ति जीवितकार-भट्टनायकयोर्द्वयोरपि व्यापार-प्राधान्येऽविशिष्टेऽपि पूर्वत्र विशिष्टाया अभिधायाः प्राधान्यम्, उत्तरत्र रसविषयस्य भोगकृत्वापर पर्यायस्य व्यञ्जनस्य।

—समुद्रबन्ध-अलंकारसर्वस्व टीका, पृ० ६

२. अर्थप्रतीति—कारित्व-सामान्यादुपचारात् (द्योतक व्यञ्जकावपि) तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादु पचारात् वाच्यत्वमेव।

—व० जी० १।८ पृ० १५

कवि और सहृदय नामक दोनों कमनीय छोरों को एक मंगलमय सूत्र में बांधने-वाली मधुमय वस्तु का नाम 'कविता' है। इसके एक छोर पर रहता है कवि और दूसरे छोर पर विराजता है सहृदय। कवि काव्य का विधाता है। इसीलिए कुन्तक काव्य में कवि के व्यापार की प्रधानता मानते हैं। इससे वे अन्यत्र **'वक्र कवि-व्यापार'** (पृ० १४) तथा **'कवि व्यापार वक्रता'**(१।१८) के नाम से पुकारते हैं। 'काव्य' शब्द की व्युत्पत्ति ही उसे कवि-व्यापार-प्रधान उद्‌घोषित कर रही है। कवेः कर्म काव्यम् = काव्य कवि का कर्म या कृति है। अतः कुन्तक की दृष्टि में काव्य को कवि-व्यापार के ऊपर अवलम्बित होने की बात स्वतः सिद्ध-प्राय-सी है। मम्मट ने ही काव्य को **'लोकोत्तरवर्णनानिपुण-कवि-कर्म'** शब्द से अभिहित किया है। मम्मट का तात्पर्य है—लोक से उत्तर, अलौकिक अथवा रस के उद्‌बोध में समर्थ वर्णना में निपुण कवि का कर्म काव्य है। परन्तु काव्य में व्यापार-मुखेन चमत्कार विधान का निर्देश कुन्तक ने ही किया है। इसीलिए वक्रोक्तिजीवितकार के मत का उपन्यास करते समय रुय्यक ने इसे स्पष्ट स्वीकार किया —**व्यापारस्य प्राधान्यं च प्रतिपेदे** (अलंकार सर्वस्व, पृ० ८)। अतः हमारा यह कथन सुसंगत है कि कुन्तक काव्य में कवि-व्यापार की मुख्यता स्वीकार करते हैं। अब विचारणीय प्रश्न है कि यह कवि-व्यापार किस साधन पर आश्रित रहता है ? उत्तर है—प्रतिभा के ऊपर। प्रतिभा का आधार ग्रहण कर ही कवि काव्य रचना के व्यापार में व्यावृत होता है। 'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने पूर्ववाक्य की टीका में[१] कवि कर्म को कवि प्रतिभा के द्वारा विकसित होने की बात कही है। इस व्यापार के साथ वक्रोक्ति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कविप्रतिभा के द्वारा निवर्तित वस्तु के बिना वक्रोक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। इस विषय को कुन्तक ने भी विशद रूप से अंगीकार किया है। उनकी दृष्टि में काव्य को 'अम्लान-प्रतिभोद्भिन्न-नवशब्दार्थबन्धुर' होना चाहिए। अकुण्ठित प्रतिभा से उन्मीलित नवीन शब्द तथा नूतन अर्थ के साहचर्य से काव्य रमणीय होता है। किसी पूर्व कवि के द्वारा व्यवहृत शब्द तथा उन्मीलित अर्थ का पल्ला पकड़ कर यदि कोई व्यक्ति कवि के महनीय पद की लालसा से लालायित है, तो उसकी यह आशा दुराशामात्र है। काव्य के लिए आवश्यक होता है—नवीन शब्द तथा नूतन अपूर्व अर्थ। और इन दोनों की अभिव्यक्ति अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। 'प्रतिभा' क्या है ? अभिनव गुप्त

---

१. व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः। कविप्रतिभा-निर्वर्तितत्त्वमन्तरेण वक्रोक्तिरेव न स्यात्—जयरथः अलंकार सर्वस्व पृ० ८।

के साहित्य-गुरु श्रीभट्टतौत की सम्मति में 'प्रज्ञा' तथा 'प्रतिभा' पर्यायवाची नाम हैं और इनका तात्पर्य उस काव्यशक्ति से है जो नये नये अर्थ की उद्भावना किया करती है--

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'

कुन्तक की दृष्टि में भी प्रतिभा एक विशिष्ट कविशक्ति है जो पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपक्व होने से प्रौढ़ होती है। अनुद्बुद्ध प्रतिभा से कवि का कार्य सिद्ध नहीं होता। उसे चाहिए प्रौढ़ा प्रतिभा और यह इस जन्म के ही नहीं बल्कि पूर्व जन्म के संस्कारों के सुखद परिणाम या परिपाक से ही सिद्ध हो सकती है।

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।

(वक्रोक्तिजीवित, पृ० ४९)

इसका निष्कर्ष यही हुआ कि कुन्तक काव्य को प्रतिभा के बल पर अवलम्बित कविव्यापार का मधुमय परिणाम मानते हैं। वे कवि के लिए व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की भी आवश्यकता समझते हैं, परन्तु प्रतिभा को मुख्य काव्य-साधन मानने के पक्षपाती हैं। यह तो हुई एक छोर की बात—कवि के व्यापार की चर्चा। अब दूसरे छोर की ओर भी दृष्टि फेरिये।

सहृदय

काव्य के दूसरे छोर पर विराजनेवाला भाग्यशाली पुरुष है—सहृदय। कुन्तक की काव्यभावना में सहृदय के हृदयानुरञ्जन का भी विशेष महत्त्व है। आलोचना शास्त्र के उदयकाल से ही आलोचकगण काव्य में अतिशय कथन पर आग्रह करते आये हैं। भामह के शब्दों में यह अतिशय कथन अतिशय उक्ति है[1]—किसी निमित्त से लोक को अतिक्रमण करनेवाला वचन; और इसे ही वे समग्र अलंकारों का मूल मानते हैं। वे अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति के अभिधान से पुकारते हैं और इसी के द्वारा अर्थ की विशेष रूपेण भावना स्वीकार करते हैं। अलंकार का सार चमत्कारी अंश होने से उनका अतिशयोक्ति पर विशेष आग्रह है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना।

—काव्यालंकार २।८५

---

१. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥

--भामह २।८१

कुन्तक इस विषय में भामह के ही अनुयायी हैं। काव्य में वे भी 'अतिशय' मानते हैं। उनकी सम्मति में यह अतिशय है—प्रकर्ष-काष्ठाधिरोहः कोऽप्यतिक्रान्तप्रसिद्ध व्यवहार-सरणिः।

(व० जी०, पृष्ठ १९५)

किसी धर्म की अत्यन्त उत्कर्ष की प्राप्ति, प्रसिद्ध व्यवहार को अतिक्रमण करनेवाला मार्ग। इसी अतिशय का अस्तित्व काव्य के काव्यत्व का सम्पादक है।[1] परन्तु एक विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य में यह अतिशय उद्दण्ड कथन या ऊटपटांग उक्ति से भी तो उत्पन्न किया जा सकता है। लोक सौम्यभाव को ग्रहण कर प्रवृत्त होता है। अतः लोकातिक्रान्तगोचरता, लोकसे विलक्षणता, तो बे-सिरपैर की बातों के कहने से भी हो सकती है। अतः काव्य को इस विषम भयंकर गड्ढे में गिरने से बचाने के ही लिए कुन्तक ने 'सहृदय' का पल्ला पकड़ा है। काव्य का बन्ध 'तद्विदाह्लाददायी' अवश्य है। काव्य के मर्म जाननेवाले व्यक्तियों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना उसका एक नितान्त, आवश्यक गुण होता है। तो कुन्तक की सम्मति में काव्य में वाच्य, वाचक तथा वक्रोक्ति का अतिशय तो होना ही चाहिए, परन्तु इनसे भी स्वतन्त्र एक पृथक् वस्तु होती है-**तद्विदाह्लादकारिता**, जिसका अन्तर्भाव पूर्वोक्त तीनों वस्तुओं के अतिशय में नहीं किया जा सकता। जिस काव्य ने सहृदयों का अनुरञ्जन नहीं किया, वह काव्य वक्रोक्ति से मण्डित होने पर भी काव्य की स्पृहणीय पदवी से सदा वंचित ही रहता है। इसीलिए काव्य की स्वरूप-निष्पत्ति के लिए 'सहृदय' की भी अधिकारिता है। ध्वन्यालोक (पृष्ठ १६०) में आनन्दवर्धन ने भी 'सहृदय' की गरिमा स्वीकार की है। 'सहृदय' की अनेक परिभाषाएँ ध्वनिकार ने ही दी हैं, परन्तु अभिनव गुप्त ने जो लक्षण दिया है वह स्पष्ट, विशद् तथा आवर्जक है—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे
वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

(लोचन, पृष्ठ ११)

काव्य के अनुशीलन के अभ्यास से अर्थात् निरन्तर काव्य के अध्ययन तथा चिंतन से जिनका मनोमुकुर नितान्त विशद हो जाता है और जो वर्णनीय वस्तु के साथ

---

१. यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्या प्रतिपाद्यते।
वर्णनीयस्य धर्मस्य तद्विदाह्लाददायिनाम्॥

—व० जी० पृ० १९५

तन्मय होने की योग्यता रखते हैं वे ही 'सहृदय' हैं। इस शब्द का वृत्तिलभ्य अर्थ है– कवि के हृदय के साथ संवाद अर्थात् साम्य, एकरूपता धारण करनेवाले व्यक्ति।

संस्कृत की एक प्रौढ़ा स्त्री कवि विज्जका ने भी एक चमत्कारी ढंग से **रसिक** की व्यवस्था की है--

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

कवि के व्यञ्जनाद्योतित गूढ़ अभिप्राय को समझ कर जो रसिक शब्दों के द्वारा अपने हृदयोल्लास की सूचना नहीं देता, प्रत्युत जिसके रोमाञ्चित अङ्ग हृदय की आनन्द लहरी का पता चुपके ही बतला देते हैं वही सच्चा रसिक है--सहृदय है।[1]

कवि की कोटियाँ

संस्कृत आलोचना में कवि की अनेक श्रेणियाँ मानी गयी हैं जिनका एक सामान्य परिचय यहां दिया जाता है। संस्कृत के मान्य आलोचक राजशेखर ने कवियों के काव्य के विषय की दृष्टि से तीन भेद किये हैं--(१) शास्त्र कवि, (२) काव्य कवि (३) उभय कवि। **श्यामदेव** नामक आचार्य की सम्मति में इनमें से क्रमशः एक दूसरे से बड़ा होता है। शास्त्र कवि सबसे निम्नकोटिका होता है। उससे बढ़कर होता है काव्य कवि और सबसे श्रेष्ठ है उभय कवि। परन्तु राजशेखर इस मत के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक कवि अपने विषय में श्रेष्ठ होता है। **शास्त्रकवि** काव्य में रस-सम्पत्ति का सम्पादन करता है और काव्यकवि शास्त्र के तर्क-कर्कश अर्थ को भी उक्ति की विचित्रता से मनोरम बना देता है। परन्तु **उभयकवि** शास्त्र और काव्य, दोनों में परम प्रवीण होता है। इसीलिए **शास्त्रकवि** और **काव्यकवि** का प्रभाव एकसमान हुआ करता है। यदि शास्त्रकवि केवल शास्त्र में ही एकांगी रूप से प्रवीण होगा तो उसकी कविता माधुर्य से विहीन होने के कारण जन-मन का अनुरंजन नहीं कर सकती। इसी प्रकार काव्यकवि को भी शास्त्र का संस्कार होना चाहिए, क्योंकि शास्त्र का संस्कार काव्य-रचना में महती सहायता करता है।

---

१. वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम्॥
--व० जी०, १।२३

राजशेखर ने शास्त्र कवि के तीन भेद माने हैं तथा काव्यकवि का भेद उन्होंने निम्नांकित रूप से आठ प्रकार का बतलाया है—

(१) रचना-कवि (२) शब्द-कवि (३) अर्थ-कवि (४) अलंकार-कवि (५) उक्ति-कवि (६) रस-कवि (७) मार्ग-कवि (८) शास्त्रार्थ-कवि ।

इन कवियों के नामों से ही इनकी विशेषता का पता चलता है ।

राजशेखर ने अवस्था को दृष्टि में रखकर कवियों के दश भेद निर्धारित किये हैं—

(१) **काव्य-विद्यास्नातक**—जो व्यक्ति कवित्व की कामना से काव्य की विद्याओं (व्याकरण, छंद, अलंकार) तथा उपविद्याओं (चौंसठ कला) को ग्रहण करने के लिए गुरुकुल में जाकर निवास करता है, वही काव्य-विद्यास्नातक कहलाता है ।

(२) **हृदय-कवि**—वह है जो कविता तो बनाता है परन्तु संकोचवश उसे छिपा रखता है । न तो उसे वह किसी को पढ़ के सुनाता है और न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करता है । उसकी कविता का प्रचार उसके हृदय तक ही सीमित रहता है ।

(३) **अन्यापदेशी**—वह कवि है जो स्वयं कविता तो करता है परन्तु दोष के भय से वह दूसरे की रचना कहकर लोगों में उसका प्रचार करता है । अनेक कवि आरम्भिक दशा में दूसरों के ही नाम से अपनी कविता का प्रचार करते हैं ।

(४) **सेविता**—वह कवि है जो प्राचीन कवियों की छाया लेकर कविता करता है ।

(५) **घटमान**—वह कवि है जो फुटकर कविता तो सुन्दर लिख लेता है परन्तु कोई प्रबन्ध काव्य नहीं लिख सकता है ।

(६) **महाकवि**—वह है जो प्रबन्ध काव्य की रचना में समर्थ होता है ।

(७) **कविराज**—कवियों की सबसे उन्नत कोटि कविराज की है । कविराज वही होता है जो सब प्रकार की भाषा में कविता लिखने में समर्थ होता है ।

(८) **आवेशिक**—मन्त्र तथा तन्त्र आदि की उपासना से काव्य-रचना में सिद्धि पानेवाला व्यक्ति आवेशिक कहलाता है ।

(९) **अविच्छेदी**—जो जब ही चाहता है तभी बिना किसी प्रतिबन्ध के कविता करता है, उसे अविच्छेदी कवि कहते हैं ।

(१०) **संक्रामयिता**—उसे कहते हैं जो स्वयं सिद्धमंत्र होकर मन्त्र के बल पर दूसरों में—वालक तथा वालिकाओं में—सरस्वती का संक्रमण कराता है जिससे वे भी काव्य करने में निपुण बन जाते हैं।

आलोचक

कवि के समान 'आलोचक' की भी मीमांसा संस्कृत के ग्रन्थों में बड़ी विशदता के साथ की गयी है। काव्य के गुण-दोष की विवेचना करनेवाले व्यक्ति को 'आलोचक' कहते हैं। वह काव्य के मर्म को समझता है तथा उसे उपयुक्त शब्दों में समझाता है। आलोचक के महनीय गुणों में से प्रथम गुण है—**व्युत्पत्ति, काव्य के अन्तस्तल तक पहुँचने की क्षमता।** जो व्यक्ति काव्य की केवल सतह पर ही तैरा करता है और जो उसके भीतर पैठने की योग्यता नहीं रखता, वह कथमपि अपने उत्तरदायित्व का पूरा निर्वाह नहीं कर सकता। बिना दृढ़ परीक्षा किये, बिना मार्मिक आलोचना किये किसी वस्तु के गुणदोष का पूरा ज्ञान हमें हो नहीं सकता। इसलिए काश्मीर के कमनीय कवि **मंखक** की यह उक्ति इस विषय में विशेष आदरणीय मानी जाती है—

> **नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षां,**
> **ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः।**
> **को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण**
> **तत्त्वेन वेत्ति शिखिदीप-मणिप्रदीपौ ॥**

विना हवा के तीव्र झोंके के सामान्य दीप तथा मणिदीप का भेद कथमपि नहीं जाना जा सकता। आलोचना की भी इसीलिए आवश्यकता है कि **मित कवि** (सामान्य कवि) तथा **महाकवि** (महनीय कवि) के अन्तर स्पष्टतः मालूम हो जायँ; और इसी कार्य के सम्पादन की योग्यता से मण्डित व्यक्ति ही आलोचक का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर सकता है। अतः व्युत्पत्ति आलोचक के लिए अत्यन्त आवश्यक गुण होती है। जिस भाषा में काव्य निबद्ध हो उससे परिचय रखना तो जरूरी है ही। साथ ही साथ उस भाषा के तत्सदृश अन्य ग्रन्थों से परिचय रखना तुलना करने के लिए बहुत ही जरूरी होता है।

आलोचक के लिए दूसरा गुण है—**मर्मज्ञता** अर्थात् भावुकता; काव्य के रहस्य को समझने की योग्यता होना। इसके लिए प्रतिभा की आवश्यकता है। प्रतिभा दो प्रकार की होती है—**कारयित्री** तथा **भावयित्री**। कारयित्री प्रतिभा कवि को काव्य निर्माण करने में सहायता देती है, तो भावयित्री प्रतिभा भावक (आलोचक) को काव्य

के गुण-दोषों की भावना करने में साधन बनती है। इस गुण के अभाव में आलोचना तलस्पर्शिणी नहीं होती, प्रत्युत इधर-उधर की बातों का वर्णन करके ही वह समाप्त हो जाती है। आलोचक जितना ही मर्मज्ञ तथा प्रतिभा सम्पन्न होगा उसकी गुण-दोष-विवेचना उतनी ही सुन्दर और यथार्थ होगी तथा कवियों के भावों को प्रकट करने-वाली होगी। कविता का पाठक भी रसिक होना चाहिए, आलोचक की तो बात ही न्यारी है। इसीलिए कोई संस्कृत कवि प्रजापति से प्रार्थना कर रहा है कि मेरे किये गये पापों का कोई दूसरा फल आप दीजिये, उसे मैं सहन के लिए सर्वदा तैयार हूँ; परन्तु अरसिक पुरुषों के सामने कविता सुनाने का दण्ड आप मेरे सिर में कभी न लिखिये; मेरा यही दृढ़ आग्रह है—

> **इतर-पापफलानि यथेच्छया,**
> **वितर तानि सहे चतुरानन ।**
> **अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं,**
> **शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥**

आलोचक का तीसरा गुण होता है—**मत्सरहीनता;** कवि-विशेष की कविता से मत्सर न करना, डाह न करना। आलोचक को उदार होना चाहिए और काव्य के गुण-दोषों को अपने औदार्य तथा सहानुभूति से परखना चाहिए। मत्सर आलोचक की आँखें ही बन्द कर देता है। काव्य में पैठने की योग्यता ही उसकी मारी जाती है। फलतः वह काव्य को ठीक कसौटी पर कस नहीं सकता। ये ही आलोचक के लिए सर्वमान्य मुख्य गुण हैं—व्युत्पत्ति, मर्मज्ञता तथा मत्सरहीनता।

कवि और आलोचक

कवि तथा आलोचक के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ आचार्य लोग कवि तथा भावक की अभिन्नता मानने के पक्षपाती हैं। वे कहते हैं कि कवि ही भावक हो सकता है और भावक ही कवि हो सकता है, परन्तु स्वयं महाकवि कालिदास दोनों की भिन्नता मानने के पक्ष में हैं। उनकी सम्मति में 'भावक' कवि से भिन्न हुआ करता है। 'कवि' का काम है काव्य का सर्जन और 'भावक' का कार्य है काव्य का समीक्षण। ये दो भिन्न-भिन्न व्यापार हैं और इनके आधार को भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए। शालग्राम शिला सोना पैदा करती है और कसौटी का पत्थर उसे कसता है। दोनों ही पत्थर हैं और रंग में दोनों ही काले हैं, परन्तु एक सुवर्ण का उत्पादक है और दूसरा उसका परीक्षक है। कवि तथा भावक में भी यही अन्तर वर्तमान है। इसीलिए भावक कभी-कभी ऐसे भावों को, गुणों को काव्य में खोज

निकालता है जिनका पता स्वयं कवि को भी नहीं रहता। तथ्य यह है कि समीक्षण वस्तुतः एक विलक्षण तथा स्वतन्त्र शक्ति है और इस शक्ति को रखनेवाला व्यक्ति कवि से सचमुच भिन्न तथा पृथक् होता है।

आलोचक की कोटियाँ

आलोचक चार प्रकार के माने जाते हैं—

(१) अरोचकी—सूक्ष्म आलोचना की भावना से मण्डित व्यक्ति, जिसे छोटे-मोटे काव्य रुचते ही नहीं। इसकी दृष्टि बड़ी पैनी होती है और जब कोई काव्य वास्तव गुणों से सम्पन्न नहीं होता तब वह उसकी उत्तमता मानने के लिए उद्यत नहीं होता।

(२) सतृणाभ्यवहारी—स्थूल दृष्टिवाला आलोचक, जो गुण तथा दोष में वास्तव अन्तर नहीं समझ सकता और जिसे सूक्ष्म तथा स्थूल गुणों की परख नहीं होती।

(३) मत्सरी—कवि से डाह रखनेवाला आलोचक, जो काव्य के गुण-दोषों की ओर न जाकर कवि के व्यक्तिगत गुण-दोष की ओर जाता है और काव्य की आलोचना के साथ कभी न्याय नहीं करता।

(४) तत्त्वाभिनिवेशी—काव्यतत्त्व की पकड़ रखनेवाला आलोचक, जो काव्य के भीतर घुसता है तथा उसके छिपे हुए भी गुण-दोषों को समझकर उन्हें उचित शब्दों में अभिव्यक्त करता है।

इन चारों प्रकार में प्रथम तथा चतुर्थ प्रकार के आलोचक विवेकी होते हैं और दोनों बीचवाले आलोचक विवेकहीन होते हैं। इसलिए आदिम तथा अन्तिम आलोचक ही श्लाघ्य तथा प्रशंसनीय माने जाते हैं। संस्कृत आलोचना का यही मन्तव्य है कि इस प्रकार के आलोचकों की आलोचना काव्य के मर्म उद्घाटन में वस्तुतः समर्थ होती है।

★

३

काव्य के हेतु

प्रतिभा कवि के लिए काव्य का प्रधान साधन है। संस्कृत भाषा के सर्वप्रथमआलंकारिक भामह की सम्मति में शास्त्र और काव्य का अध्ययन करनेवालों में यही अन्तर होता है कि जड़ बुद्धिवाला भी मनुष्य गुरु के उपदेश से शास्त्र को अच्छी तरह से पढ़ सकता है; परन्तु काव्य की स्फूर्ति उसी व्यक्ति को होती है जो प्रतिभा से सम्पन्न होता है। यदि शिष्य में प्रतिभा का अभाव है तो गुरु के लाख उपदेश देने पर भी, उसके हृदय में काव्य का अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही ऐसी कविता कर सकता है जिसमें एक पद भी निन्दनीय न हो। क्योंकि दोषयुक्त काव्य की रचना करनेवाला कवि उसी प्रकार निन्दनीय होता है जिस प्रकार दुष्ट पुत्र के द्वारा पिता। कुकविता साक्षात् मरण है। इस साहित्यिक मृत्यु से वही व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता है जो प्रतिभा की सम्पत्ति से सम्पन्न रहता है। कवि न होना (अकवित्व) कोई बुरी चीज नहीं है परन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृत्यु है। इस प्रकार भामह ने काव्यहेतुओं में सबसे श्रेष्ठ स्थान प्रतिभा को ही प्रदान किया है।

काव्य और प्रतिभा

वाणी की अभिव्यक्ति के दो मार्ग हैं - शास्त्र और काव्य। इनमें से शास्त्र प्रज्ञा के ऊपर आश्रित रहता है और काव्य प्रतिभा की उपज होता है। सुन्दर काव्य की सृष्टि प्रतिभा का ही फल है। प्रतिभा ही कवि के अलोक-सामान्य अभिव्यक्ति का मुख्य कारण है। कवि और आलोचक दोनों के नैसर्गिक विकास के निमित्त

प्रतिभा जागरूक रहती है। कवि के लिए आवश्यक होती है **कारयित्री** प्रतिभा और काव्य के मर्मज्ञ के लिए उपयोगी होती है **भावयित्री** प्रतिभा। कवियों ने एक स्वर से काव्य की रचना में प्रतिभा की उपयोगिता मानी है।

भारतीय दर्शन तथा साहित्यशास्त्र में प्रतिभा की बड़ी मार्मिक तथा आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है। प्रतिभा का शाब्दिक अर्थ है–झलक अर्थात् कारण के अभाव में भी भावों का स्वतः प्रकाश या आविर्भाव। भारतीय दर्शन की नाना शाखाओं ने अपने दृष्टिकोण से प्रतिभा की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की है और इसका प्रभाव अलंकारशास्त्रीय कल्पना पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

प्रतिभा के सम्बन्ध में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। भारतीय मत की मीमांसा करने के पूर्व इस सम्बन्ध में पाश्चात्य मत का विवेचन किया जाता है। प्रतिभा-विषयक पाश्चात्य कल्पना का मूल-स्रोत यूनानी आलोचकों के ग्रन्थों में अधिकतर उपलब्ध होता है। पाश्चात्य आलोचना काव्य को कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानती है। कवि-व्यापार के कारण ही काव्य का उदय होता है और इस व्यापार को सफल तथा समर्थ बनाने में सबसे अधिक प्रतिभाशालिनी शक्ति है प्रतिभा (इमैजिनेशन)। पाश्चात्य आलोचक इस शब्द पर इतना आग्रह रखता है कि काव्य की विविध परिभाषाओं में यह शब्द सर्वदा वर्तमान रहता है। कविवर शैली काव्य की अपनी सुप्रसिद्ध परिभाषा में काव्य को प्रतिभा की ही अभिव्यञ्जना मानते हैं।

प्रतिभा के सम्बन्ध में प्लेटो का कथन है कि प्रशंसित या उत्कृष्ट काव्यों के लेखक कलाके नियमों के अनुसार उत्कर्ष नहीं प्राप्त करते हैं, प्रत्युत वे स्फूर्ति की दशामें अपने सुन्दर गीत अलापते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ऊपर एक नवीन व्यक्तित्व का आक्रमण हो जाता है तथा वे अपने से पृथक् किसी आत्मा से आक्रान्त हो जाते हैं। गीति काव्य के रचयिता दैवी पागलपन (Divine insanity) की दशा में अपने विख्यात गायनों का निर्माण करते हैं। कवि में जब तक प्रतिभा का आविर्भाव नहीं होता, तबतक वह कविता की रचना कर ही नहीं सकता। प्लेटो के अनुसार मन की दो वृत्तियां हैं—बुद्धि-व्यापार और स्फूर्ति-व्यापार। पहिले में मन नितान्त सजग रहता है और दूसरे में वह सुप्त दशा का अनुभव करता है। बुद्धि-व्यापार का चमत्कार है शास्त्र और स्फूर्ति-व्यापार का विलास है काव्य। यही प्लेटो का मत है।

प्रतिभा के दो पक्ष होते हैं—(१) दृष्टि पक्ष (२) सृष्टि पक्ष। प्रथम पक्ष के अनुसार प्रतिभा विश्व के रूप-निरीक्षण का एक प्रकार है। सृष्टि पक्ष में प्रतिभा नवीन

सृष्टि की साधिका शक्ति है अर्थात् इसके द्वारा नयी वस्तुओं की सृष्टि होती है। प्रतिभा सृष्टि का साधन है। कुन्तक का समग्र 'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रन्थ प्रतिभा की अतिगूढ व्याख्या है। उनका स्पष्ट मत है कि काव्य में कवि प्रतिभा का ही चरम उत्कर्ष रहता है—**कवि-प्रतिभा-प्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।** कविता में जो कुछ भी चमत्कार है, वह सब प्रतिभा के द्वारा ही उत्पन्न होता है तथा काव्य के समग्र सौन्दर्य साधनों का प्राण यही प्रतिभा है। कविता में रस, भाव, तथा अलंकार-समस्त काव्य-शोभा के विधायक अंगों का प्राण कवि-कौशल ही है। यह 'कविकौशल' कवि-प्रतिभा-व्यापार का ही दूसरा नाम है।

कवि—द्रष्टा और स्रष्टा

प्रतिभा का साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत और विशाल होता है। अर्थ और शब्द, स्फुरणा तथा अभिव्यञ्जना, दर्शन और वर्णन—इन दोनों का उन्मीलन कवि प्रतिभा के ही द्वारा करता है। जब तक इन दोनों की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक कोई भी व्यक्ति 'कवि' कहलाने का अधिकारी नहीं है। कवि होने के लिए तत्त्वद्रष्टा होने के साथ ही साथ शब्दस्रष्टा होने की नितान्त आवश्यकता है।

भारतीय आलोचकों का कथन है कि कवि के लिए 'दर्शन' और 'वर्णन' दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं। द्रष्टा होने पर भी शब्द-स्रष्टा हुए बिना कोई भी व्यक्ति 'कवि' शब्द का पात्र नहीं बन सकता। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत की यह विवेचना बड़ी मार्मिक है—

स तत्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः,
दर्शनात् वर्णनाच्चा रूढ़ा लोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यदिकवेर्मुनेः,
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

—**काव्यानुशासन (पृष्ठ ३७९)**

कवि ऋषि होता है। शास्त्र में तत्त्व के दर्शन मात्र से कोई भी व्यक्ति 'कवि' कहलाता है, परन्तु लोक में कविपदवी दर्शन तथा वर्णन, दोनों के ही ऊपर अवलम्बित होती है। वाल्मीकि तत्त्वद्रष्टा ऋषि थे। उनका स्वच्छ दर्शन नित्य था, परन्तु लोक में वे 'कवि' नामसे तबतक प्रसिद्ध नहीं हो सके, जबतक उनका दर्शन वर्णन के रूप में परिणत नहीं हो सका। भट्टतौत का कहना है—'दर्शनात् वर्णनाच्च। प्रथमतः होता है दर्शन और उसके पश्चात् होता है वर्णन। इन दोनों के समुचित संयोग से ही कोई व्यक्ति कवि कहलाने का अधिकारी होता है। 'प्रतिभा का बीज मानव हृदयमें

किस प्रकार या किस कारण उगता है ?' इस प्रश्न का समाधान हमारे आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक रीति से किया है। अधिकांश शास्त्रकार प्रतिभा को पूर्व जन्म में उत्पन्न संस्कारविशेष मानते हैं। दण्डी प्रतिभान (प्रतिभा) को पूर्ववासना के गुणों से सम्बद्ध बतलाते हैं। वामन भी इसे जन्मान्तर संस्कार मानते हैं[1], जिसकी पुष्टि अभिनवगुप्त ने भी अभिनवभारती में की है।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभाके उदय के लिए दो कारण बतलाते हैं। प्रथम कारण है किसी देवता के प्रसाद या साधुके अनुग्रह से अदृष्ट का उदय। दूसरा कारण है व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का परिपाक, जिसके कारण अधिक उम्र बीत जाने पर भी अनेक व्यक्तियों में अकस्मात् कवित्व का उदय हो जाता है।

प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौत ने दिया है—**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता**—अर्थात् नये-नये अर्थों का उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। कुन्तक के अनुसार पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होनेवाली विशिष्ट कवित्व-शक्ति ही प्रतिभा है—**'प्राक्तनाद्यतन संस्कार-परिपाक-प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः'**। वामन के अनुसार प्रतिभान या प्रतिभा कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज से अभिनव पदार्थ की स्फूर्ति होती है, वही कार्य प्रतिभा के द्वारा भी होता है। प्रतिभा है क्या ? यह पूर्वजन्म से आनेवाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना-रूप से कवि के हृदय में निवास करता है। प्रतिभा के बिना प्रथमतः काव्य निष्पन्न ही नहीं होता और यदि यह निष्पन्न हुआ भी तो यह काव्य उपहास का पात्र बनता है। वामन का यह तथ्य-कथन प्रतिभा की काव्य में गहरी उपादेयता का पुष्ट परिचायक है। भट्ट गोपाल के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादानरूप संस्कार-विशेष है। राजशेखर के अनुसार प्रतिभा वह शक्ति है जो कवि के हृदय में शब्द के समूह को, अर्थ के समुदाय को, उक्ति के मार्ग को तथा इसी प्रकार अन्य काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती है। राजशेखर ने एक बड़े ऐतिहासिक तथ्य का परिचय इस प्रसंग में दिया है। वे कहते हैं कि **मेधावि-रुद्र** और **कुमारदास** आदि कवि जन्म से ही अन्धे थे, परन्तु उनके

---

१. जन्मान्तर संस्कार विशेषः कश्चित्—वामन।

२. अनादिप्राक्तन संस्कार प्रतिभानमयः।

—अभिनव भारती (खण्ड १, पृ. ३४६)

काव्यों में सांसारिक पदार्थों का वर्णन जो इतना सचित्र और सटीक है वह उनकी प्रतिभा के ही विलास का फल है।

विभिन्न मत

इन विभिन्न आचार्यों के मतानुसार प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार-विशेष है-ऐसा मानस धर्म है जो दूसरे जन्म में होनेवाले कवित्व के संस्कार के परिपाक होने पर उत्पन्न होता है। भामह के अनन्तर **दण्डी** ने काव्य-साधक हेतुओं में प्रतिभा के केवल शास्त्र-ज्ञान तथा अभ्यास को भी आवश्यक माना है। उनकी सम्मति में केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नहीं हो सकती। इसके साथ निर्मल शास्त्र तथा अमन्द अभियोग का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है--

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्यसम्पदः॥

(दण्डी:काव्यादर्श १ १०३)

प्रतिभा तो पूर्व जन्म की वासना के गुणों पर आश्रित रहती है। यदि किसी कवि को प्रतिभा की देन नहीं मिली, तो दण्डी उसे निरुत्साहित कर काव्यकला से पराङ्मुख होने की सलाह नहीं देते। वे यह भी आग्रह करते हैं कि यदि शास्त्र से या यत्न से कविता की उपासना की जाय, तो सरस्वती उस कवि के ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखाती है।

वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। ये प्रतिभा को 'प्रतिमान' शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं। वे इसके अतिरिक्त काव्यों से परिचय, काव्य-रचना में उद्यम, काव्योपदेश करनेवाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अवधान—चित्त की एकाग्रता--को भी काव्य-रचना का सहायक स्वीकार किया है।

रुद्रट ने भी काव्य-कारणों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को एक साथ कारण माना है। 'प्रतिभा' के स्थान पर वे 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है, उसी का नाम शक्ति है। 'शक्ति' प्रतिभा का ही अपर पर्याय है--

मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधामिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति, यस्यामसौ शक्तिः॥
(रुद्रट : काव्यालंकार, १।१५)

आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा; दोनों काव्य-साधनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखनेवाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है। प्रतिभा के प्रबल समर्थन में आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति नितान्त स्पष्ट है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥

राजशेखर ने लिखा है कि **श्यामदेव** नामक आलंकारिक के मत में काव्यकर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु है समाधि अर्थाध् चित्त की एकाग्रता; आचार्य **मम्मट** अभ्यास को ही काव्य-कर्म में सबसे अधिक उपयोगी साधन मानते हैं। परन्तु राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न हैं। वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं। वे समाधि तथा अभ्यास, दोनों को शक्ति का उद्भासक मानते हैं। उनके मतानुसार केवल शक्ति (प्रतिभा) ही काव्य में हेतु होती है।

आचार्य मम्मट का सिद्धान्त है कि **शक्ति, निपुणता** तथा **अभ्यास**, ये तीनों मिलकर काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। 'शक्ति' प्रतिभा का ही दूसरा नाम है जिसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता तथा निष्पन्न होने पर वह काव्य लोकप्रिय नहीं होता, प्रत्युत उपहास का कारण बनता है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विद्याओं के अनुशीलन से जो चातुरी उत्पन्न होती है उसी का नाम 'निपुणता' है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यवहृत 'व्युत्पत्ति' को ही मम्मटाचार्य ने निपुणता का नाम दिया है। काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्य-कला के निरन्तर चिन्तन का नाम अभ्यास है। सच तो यह है कि काव्य-मर्मज्ञ की शिक्षा कविता के जिज्ञासुओं के लिए अमृत का काम करती है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से सम्पन्न होने पर भी कवि अपने मनोरथ में तब तक कृतकार्य नहीं होता जब तक वह सद्‌गुरु की शिक्षा से काव्य का अभ्यास नहीं करता। मम्मटाचार्य ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास—इन तीनों को काव्य का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूप से ही कारण माना है। इसीलिए इस सुप्रसिद्ध कारिका में 'हेतु' शब्द का एकवचन में प्रयोग किया है, बहुवचन में नहीं (हेतुर्न तु हेतवः)।

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥
(काव्य-प्रकाश, १।३)

कविवर भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में मम्मट के ही स्वर में स्वर मिला-कर शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास—तीनों को मिलकर काव्य का उद्भावक माना है और उदाहरण रूप से रथ के चलने की घटना को दिखलाया है। रथ किसी एक ही वस्तु से नहीं चलता, प्रत्युत उसके चलने के लिए अनेक वस्तुओं का समन्वय चाहिए। काव्य के लिए भी यही बात है। पूर्वोक्त तीनों साधनों के एकत्र होने पर ही काव्य-रथ सुन्दर गति से आगे बढ़ता है—

> शक्ति कवित्त बनाइबे की
> जिहिं जन्म नछत्र मैं दीन्ह विधातैं।
> काव्य की रीति सिखी सुकवीन सौं
> देखी सुनी बहुलोक की बातैं।
> 'दास जू' जामें एकत्र ये तीनि,
> बनै कविता मनरोचक तातैं।
> एक बिना न चलै रथ जैसे
> धुरन्धर सूत की चक्र निपातैं॥

कवि के लिए आलोचना-शास्त्र का ज्ञान परमावश्यक होता है—

> जानै पदारथ भूषन मूल रसांग परागनि में मति छाकी,
> त्यों धुनि अर्थ सु वाक्यनि लै गुन शब्द अलंकृत सों रति पाकी।
> चित्र कवित्त करै तुक जानै न दोषन पंथ कहूँ गति जाकी,
> उत्तम ताको कबित्त बनै करै कीरति भारती यों अति ताकी॥
>
> —भिखारीदास

निष्कर्ष

इस ऐतिहासिक विवेचन का निष्कर्ष यह है कि काव्य का मुख्य हेतु शक्ति या प्रतिभा है। यह एक जन्मान्तरीय संस्कार है जो जन्म से पैदा होता है और विद्या के अभ्यास से धीरे धीरे विकसित होता है। दूसरे हेतु का नाम निपुणता या व्युत्पत्ति है जो लोक तथा शास्त्र के अवेक्षण तथा अनुशीलन से उत्पन्न होती है। कवि का क्षेत्र नितान्त विस्तृत होता है। ऐसी कौन विद्या नहीं जिसकी जानकारी कवि को न होनी चाहिए। संसार के विषयों का निरीक्षण कवि का परम धर्म है। इस विषय की जान-कारी के लिए आलंकारिकों ने 'कवि शिक्षा' के विषय में अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है जिनमें कवियों के लिए उपादेय ज्ञान-साधनों से परिचय कराने की उपयोगी सामग्री संकलित है। अभ्यास तीसरा काव्यहेतु है। काव्य करनेवाले तथा उसकी आलोचना

करनेवाले विद्वानों की शिक्षा से कविकर्म में अभ्यास उत्पन्न होता है। सैद्धान्तिक रूप से काव्य के रूप, तत्व तथा मर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं होता; प्रत्युत कवि को व्यावहारिक रूप से कविता बनाने की कला का सीखना भी, आवश्यक होता है। इसके लिए संस्कृत के कवियों को 'समस्या पूर्ति' करने की कला गुरुजनों के द्वारा सिखलायी जाती है।

समस्यापूर्ति

प्राचीन काल में समस्या की पूर्ति कर अपने बुद्धि-कौशल या प्रतिभा दिखलानेवाले कवियों का बड़ा ही सत्कार होता था। गुजरात के सोमेश्वर कवि के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि राजा ने उन्हें एक समस्या दी—काकः किं वा क्रमेलकः (कौवा या ऊँट ?)। राजस्थान की प्रेमिकाओं के मनोभाव से परिचित होनेवाले कवि ने इस समस्या की पूर्ति बड़े ही सुन्दर ढंग से तुरन्त कर डाली—

> येनागच्छन् ममाख्यातो येनानीतश्च मत्पतिः।
> प्रथमं सखि ! कः पूज्यः काकः किं वा क्रमेलकः॥

नायिका अपनी सखी से पूछती है कि मेरे लिए कौन पहिले पूज्य है—कौवा या ऊँट ? कौवे ने तो घर आनेवाले पति की सूचना काँव-काँव शब्दों से पहिले ही मुझे दी और ऊँट ने इस राजस्थानी रेगिस्तान से मेरे पति को अपनी पीठपर चढ़ाकर कुशलतापूर्वक घर पहुँचाया। अतः दोनों का कार्य मेरे लिए श्लाघनीय तथा उपादेय है। ऐसी दशा में प्रथम पूजा का अधिकारी कौन है ? कौआ या ऊँट ?

कवि की प्रतिभा से सभा चमत्कृत हो गयी और उसे पर्याप्त पुरस्कार मिला। ऐसे कवियों के सहवास में रहकर नवीन कवि शिक्षा ग्रहण करता था और अपने लिखने का मार्ग प्रशस्त बनाता था।

इस प्रकार संस्कृत-आलोचना काव्य के हेतु में केवल सिद्धान्त के ज्ञान को ही महत्व नहीं देती, प्रत्युत वह रचना के व्यावहारिक पक्ष पर भी जोर देती है। कवि के लिए दोनों की जानकारी आवश्यक मानी जाती है।

——:०:——

४

काव्य का प्रयोजन

जगत् की कोई भी सृष्टि बिना किसी उद्देश्य या तात्पर्य के नहीं होती। काव्य की रचना में भी कवि का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है जिसकी सिद्धि के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। इस विषय की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों ने बड़ी गम्भीरता के साथ की है।

भरतमुनि की सम्मति में नाटक (और काव्य भी) धर्म तथा यश उत्पन्न करता है, वह सदा हितकर होता है, बुद्धि को बढ़ाता है और लोगों को उपदेश प्रदान करता है। मानव जीवन के चार ही पुरुषार्थ होते हैं जिनकी सिद्धि के लिए प्रत्येक प्राणी यत्नशील रहता है। वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि सुखपूर्वक कम बुद्धिवाले व्यक्तियों को काव्य के सेवन से ही होती है। संस्कृत के दर्शन तथा धर्मग्रन्थों में भी इनके पाने के मार्ग का वर्णन बहुशः मिलता है, परन्तु उसके समझने के लिए विशेष बुद्धि चाहिए। वे ग्रन्थ नितान्त कठिन हैं और उनको ठीक-ठीक समझना कोई खेल की बात नहीं है। अतः उनके समझने में विशेष बुद्धिवाले व्यक्तियों को भी माथापच्ची करनी पड़ती है। तब कहीं जाकर उनके रहस्य समझ में आते हैं। धर्म के ही तत्त्व को लीजिये। स्मृति-ग्रन्थों की सहायता से धर्म का रहस्य समझा जा सकता है, परन्तु फिर भी अधर्म से धर्म का विवेक तथा निर्णय करना एक टेढ़ी खीर है। इसी-लिए प्रसिद्ध उक्ति है कि धर्म का तत्त्व बुद्धि के गम्भीर गह्वर में छिपा हुआ है। जिस मार्ग से महाजन लोग चलते हैं वही मार्ग है—उसी के ग्रहण करने से कार्य की सिद्धि होती है।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।

मोक्ष का विषय तो और भी गम्भीर, सूक्ष्म तथा विवेचक बुद्धि से ग्राह्य होता है। 'मोक्ष की विवेचना करनेवाले दर्शनों की कमी नहीं है, ऐसी दशा में किस सिद्धान्त को मानें और किसे न मानें?'—इस प्रश्न की मीमांसा बड़ी कठिन होती है। नीतिशास्त्र का उपदेश नीति के विषय में अवश्य है, परन्तु वह इतना रूखा सूखा है कि न तो हृदय उसे जल्दी ग्रहण करता है और न हृदय में वह जल्दी उतरता है। एक कान से हम उसे

सुनते हैं और दूसरे कान से उसे निकाल देते हैं। परन्तु काव्य के अनुशीलनकर्ताओं की दशा ऐसी नहीं होती। उन्हें तो इन विषयों को हृदयंगम करने में न तो बिलंब होता है और न उन्हें कार्यरूप में परिणत करने में कोई रुकावट होती है। बात यह है कि काव्य रसात्मक वाक्य होता है जिसे पढ़ते ही वह विषय चित्त पर चढ़ जाता है और उसे अपने जीवन में उतारने की स्वाभाविक तथा सफल इच्छा उत्पन्न होती है।

एक उदाहरण लीजिए। 'परोपकार' एक आदर्श गुण है जिसका अनुशीलन मानवमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। धर्मग्रन्थों में इसका महत्त्व अनेक बार वर्णित है, परन्तु फिर भी वह वर्णन उतना न तो प्रभाव डालता है और न चित्त को उस मार्ग के अनुशीलन की ओर ही अग्रसर करता है। क्यों? कारण यही है कि धर्मग्रन्थों का आदेश आकर्षक नहीं होता। उधर 'नागानन्द' नाटक पर दृष्टिपात कीजिये। नाटक का कथानक बड़ा सुन्दर, भव्य तथा उदात्त है। जीमूतवाहन अपने आश्रमवासी माता-पिता की सेवा के लिए राजपाट छोड़कर उसी आश्रम में चला जाता है। घूमते-घामते वह समुद्र के किनारे पहुँचता है जहाँ हड्डियों की एक विशाल राशि उसके ध्यान को आकृष्ट करती है। उसी समय एक वृद्धा नागिन अपने पुत्र शंखचूड़ के भावी बलिदान से विह्वल होकर जोरों से चिल्ला रही है। गरुड़ को प्रतिदिन एक नाग भोजन के लिए दिया जाता है; इसका पता जीमूतवाहन को चलता है। बस, क्या है? वह शंखचूड़ के स्थान पर स्वयं गरुड़ के लिए बलि बन जाता है। गरुड़ आते हैं और स्वेच्छया उसके शरीर को अपनी दृढ़ चोंच से फाड़कर खाते हैं, परंतु जीमूतवाहन के मुँह से 'उफ' भी नहीं निकलता। वह तो गरुड़ के रुक जाने पर खाने के लिए स्वयं आग्रह करता है। उसका शरीर काटा जा रहा है। शिराओं से खून टपक रहा है, परन्तु उसके चित्त में नितान्त उत्साह तथा परोपकार की भावना उद्वेलित होती है। अन्त में गरुड़ को हार माननी पड़ती है और वह नागों के खाने से विरत होता है और स्वर्ग से अमृत लाकर मरे हुए नागों को जिला देता है। इस कथानक को पढ़कर तथा रंगमंच के ऊपर इसका अभिनय देखकर दर्शकों के चित्त के ऊपर जो प्रभाव पड़ता है वह तात्कालिक न होकर दीर्घकालिक रहता है। उसकी छाप अमिट रहती है। काव्य तथा नाटक का यही सरस ढंग है जिससे उपदेश श्रोताओं के हृदय में शीघ्र पहुँच जाता है। इसीलिए हम थोड़े में कह सकते हैं कि चारों पदार्थों की प्राप्ति का सुलभ तथा सरस साधन काव्य ही है जिसका अनुशीलन कर अल्प-बुद्धिवाले प्राणी भी अनायास ही मानव-जीवन की सर्वोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार काव्य का तात्पर्य अपनी विलक्षणता रखता है।

गौण प्रयोजन

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन का विश्लेषण कुछ विशिष्टता के साथ किया

है। काव्य के प्रयोजन दो प्रकार के हैं—गौण तथा मुख्य। गौण प्रयोजन से अभिप्राय 'बहिरंग' प्रयोजनों से है तथा मुख्य से अभिप्राय 'अन्तरंग' प्रयोजनों से है। काव्य के बहिरंग प्रयोजनों की चर्चा यहाँ प्रथमतः की जाती है। काव्य के गौण प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

(क) **यश**—काव्य की रचना करने से कर्ता को विपुल यश मिलता है। कवि को इस भूतल से गये कितनी शतियाँ बीत जाती हैं, परन्तु काव्य-ग्रन्थ उसका विमल यश फैलाता हुआ भूतल पर उसे चिरस्थायी बनाता है। जैसे कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों के द्वारा अतुल कीर्ति अर्जित की है। हिन्दी में तुलसी तथा सूर का यश चिरस्थायी रहेगा। इसीलिए महाकवि भर्तृहरि ने बड़ी मार्मिकता से लिखा है कि उन रससिद्ध (पारा सिद्ध करनेवाले तथा श्रृंगारादि रसों की काव्यों में निष्पत्ति करनेवाले) कवीश्वर (वैद्यराज तथा कविराज) लोगों की जय हो जिनके यशरूपी शरीर में न बुढ़ापे का डर है और न मृत्यु का भय है। पारद के सेवन से कायाकल्प हो जाता है। उसी प्रकार रस की सिद्धि होने पर कवियों का यश चिरस्थायी होता है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

(ख) **अर्थ**—धन की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है। कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे और उसके बदले में उन्हें धन की अपार राशि उपहार में मिलती थी। धावक और बाणभट्ट ने श्रीहर्ष से अपने काव्यग्रन्थों के द्वारा अतुल सम्पत्ति प्राप्त की, इसका साक्षी तत्कालीन इतिहास है। हिन्दी के कवियों ने मध्ययुग में जिन अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन किया, उनमें उनके आश्रयदाता के गुणों की भव्य स्तुति है और इसका सद्यः फल है अर्थ की प्राप्ति।

(ग) **व्यवहार-ज्ञान**—काव्य के द्वारा व्यवहार का भी पूर्ण ज्ञान हमें होता है राजदरबारों का पता सामान्यजनों को हो, तो कहाँ से हो? राजा का आचार-विचार, रहन-सहन, उठने-बैठने का ढंग आदि राजा-विषयक समस्त बातों की जानकारी हमें काव्य से होती है। काव्य के अनुशीलन से हम किसी युगविशेष के लोगों का आचरण तथा व्यवहार भलीभाँति जान सकते हैं। महाकवि कालिदास के काव्यों का अनुशीलन कीजिये, सम्राट् विक्रमादित्य के समय का भारत अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के आगे प्रस्तुत हो जाता है।

(घ) **अमंगल-निवारण**—काव्य के द्वारा विशिष्ट देवताओं की स्तुति प्रस्तुत की जाती है जिससे वे प्रसन्न होकर रचयिता के अमंगल का नाश करते हैं तथा मंगल का

विधान करते हैं। इसके कितने उदाहरण साहित्य के इतिहास में प्रख्यात हैं। सुनते हैं कि सप्तमशतक के प्रख्यात कवि मयूरभट्ट का कुष्ठ रोग सूर्य की स्तुति में विरचित 'सूर्यशतक' नामक भव्य काव्य के प्रणयन करने पर नष्ट हुआ था। तुलसीदास के विषय में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि उनके वाहु में वड़ी पीड़ा थी जिसका निवारण उन्होंने 'हनुमान वाहुक' नामक उद्भट काव्य-ग्रन्थ लिखकर किया। अन्य कवियों के विषय में भी ऐसी कथाएँ प्रचलित हैं जिससे इस प्रयोजन की व्याख्या होती है।

मुख्य प्रयोजन

मम्मट के अनुसार काव्य के मुख्य प्रयोजन दो हैं—

(ङ) परमानन्द की सद्यः अनुभूति—काव्य का वही तो मुख्य प्रयोजन है कि काव्य के पढ़ते ही पढ़ते रस का आस्वाद होने लगता है और पाठक अपने को एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता हुआ पाता है। उस समय किसी भी दूसरी वस्तु का ज्ञान उसे नहीं रहता। दूसरी वस्तु के ज्ञान का स्पर्श भी नहीं रहता। यदि ऐसा होता, तो वह वस्तु वाधक के समान आ खड़ी होती और काव्य का निश्छल एकरस आनन्द कभी उत्पन्न ही नहीं होता। यह आनन्दानुभूति ही काव्य का 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' प्रयोजन है। महाकवि मतिराम का निम्न सवैया पढ़िये। पढ़ते ही पाठक के हृदय में विमल आनन्द का उदय हो जाता है। लोगों की निन्दा से तंग आकर राधिका वन में जाकर चुपके-चुपके तपस्या करना चाहती है, जिससे वह वनमाला बनकर कृष्ण के हृदय में लग जाय तथा मुरली वनकर श्यामसुन्दर के अधरों का रस चखे। आनन्द की भव्य भावना को छोड़ यह सवैया कुछ उत्पन्न नहीं करता —

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै, मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारैं कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे के जीजै।
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु, ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै॥

इस प्रयोजन की प्रशंसा में धनञ्जय ने बहुत ही ठीक कहा है कि आनन्द चुलाने-वाले रूपकों को पढ़कर यदि कोई पाठक 'व्युत्पत्ति' पाने का इच्छुक हो, तो उस अल्पबुद्धि आलोचक को दूर से ही प्रणाम है। आनन्द के सामने व्युत्पत्ति की महिमा क्या तनिक भी है ? नहीं, बिल्कुल नहीं।

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु,
व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुः,
तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय॥

धनञ्जंय का दशरूपकस्थित यह पद्य बड़े महत्व का है। रूपक का मुख्य प्रयोजन है—आनन्द उत्पन्न करना और इसीलिए वह इतिहास से भिन्न है। क्योंकि इतिहास का लक्ष्य है व्युत्पत्ति। रूपक तथा इतिहास का यही तो अन्तर है। चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में दो ग्रन्थ प्रस्तुत मान लीजिये जिनमें एक तो है इतिहास और दूसरा है तद्विषयक कोई नाटक। इतिहास के अनुशीलन से हम इतना ही जान सकते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य कौन था? कैसा था? किन-किन कारणों से उसकी कीर्ति कौमुदी आज भी भूतल को सुशोभित कर रही है? इन प्रश्नों के उत्तर से हमारी केवल 'व्युत्पत्ति' बढ़ती है। उधर चन्द्रगुप्त-विषयक रूपक (जैसे संस्कृत में मुद्राराक्षस) का अध्ययन कीजिये। उसके रसात्मक वर्णन तथा अभिनय से हम इतने आनन्द-विभोर हो उठते हैं कि हम अपने-आप को भी भूल जाते हैं। नाटक देखते समय हम इतने रसावेश में बह चलते हैं कि हम देश तथा काल की परिधि से अपने आपको बिल्कुल अछूता पाते हैं। हम आनन्द की धारा में डुबकी लगाते रहते हैं। रूपक का यही उद्देश्य है—**आनन्दबोध**।

इस प्रकार विषय की एकता होने पर भी पद्धति की भिन्नता से दो प्रकार का फल उत्पन्न होता है। अतएव रूपक अथवा काव्य का उच्चतम उद्देश्य है दर्शक अथवा श्रोता के हृदय में आनन्द की उद्भूति। और काव्य का यही चरम लक्ष्य है।

महाकवि रहीम के निम्नलिखित दोहे को देखिये। आनन्द उत्पन्न करने के अतिरिक्त इसका लक्ष्य ही क्या हो सकता है?

> **मनसिज माली की उपज, कहि 'रहीम' ना जाय।**
> **फल स्यामा के उर लगै, फूल स्याम उर आय॥**

इस दोहे में कवि कामदेव रूपी माली की विचित्र करतूत का वर्णन कर रहा है कि उसकी उपज शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक बतायी नहीं जा सकती। श्यामा राधिका के उर में पहिले तो फल लगते हैं और उसके बाद उसे देखकर श्यामसुन्दर का उर फूल जाता है। यहाँ राधिका के यौवन भाव को देखकर श्रीकृष्ण के हृदय को आनन्दमग्न होने का भाव कितनी भावुकता के साथ प्रकट किया गया है। फूल के बाद ही फल लगता है और वह भी उसी स्थान में जहाँ प्रथमतः फूल उगते हैं—यही तो प्रकृति का नियम है। परन्तु यहाँ तो इसका स्पष्ट विरोध है। फल तो पहिले लगते हैं और उसके बाद फूल खिलता है और वह भी भिन्न स्थान पर। फल उगने का स्थान है श्री राधिका का उर और फूल खिलने की जगह है श्रीकृष्णचन्द्र की छाती। विशुद्ध आनन्द का उदय श्रोताओं के हृदय में कराना ही इस दुर्लभ दोहे की करामात है।

(च) कान्ता के समान उपदेशदान—काव्य का यह प्रयोजन भी मुख्य प्रकारों अन्यतम है। कान्ता के समान कविता सरसता उत्पन्न कर पाठकों को अपनी ओर

आसक्त करती है और तदनन्तर उचित उपदेश देती है। कान्ता के शब्द भावना-प्रधान होते हैं। फलतः जब कान्ता कोई बात करना चाहती है, तब उसे इस ढंग पर, रस से चुहचुहाते शब्दों में हमारे सामने प्रकट करती है कि हम उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। बाध्य होकर हमें उसकी बात माननी ही पड़ती है। कविता का भी प्रभाव ऐसा ही अनिवार्य होता है। वह अपने सुन्दर शब्दों तथा अर्थों के द्वारा हमारा चित्त आकृष्ट करती है और तब किसी बात का उपदेश देती है जिसे हम किसी प्रकार भी तिरस्कृत नहीं कर सकते। बाध्य होकर उन बातों को करना ही पड़ता है।

महाकवि बिहारी के इस पद्य का मर्म समझिए और तब इस सरस उपदेशदान की घटना पर विचार कीजिये—

> **अजौं तरयोना ही रह्यौ, स्नुति सेवत इक अंग।**
> **नाक बास बेसर लह्यौ, बसि मुकतन के संग॥**

यहाँ कवि शास्त्रसेवा की अपेक्षा सन्तसमागम की महनीयता का चमत्कृत उपदेश दे रहा है। वह कह रहा है कि श्रुति (श्रवण तथा वेद) की एक अंग से (एक निष्ठा से) सेवा करने पर भी तरौना (अभी तक तरा नहीं) नामक कर्णभूषण आज तक वैसा ही बना रहा, वह पीछे ही कान में रखा रहा। उधर मुकतन (मोतियाँ तथा मुक्त पुरुष—सन्त) के संग में रहकर बेसर नामक गहने को नाक में धारण किये जाने का गौरव प्राप्त हुआ। ठीक है मुक्त पुरुषों के संग में रहनेवाला अस्तव्यस्त सिद्धान्त तथा आचारवाला (बेसर-बिना सर का) भी पुरुष स्वर्ग (नाक) का वास प्राप्त कर लेता है। कवि का तो इतना ही उपदेश है कि शास्त्र से सन्तसमागम विशेष बढ़कर होता है (शास्त्रात् सत्समागमो बलीयान्), परन्तु यह बात इस ढब से कही गयी है तथा इस रसात्मकता की लपेट में रखी गयी है कि वह अनायास ही हृदय में घर कर लेती है और अपने सिद्धान्त की मुहर लगा देती है।

इस प्रयोजन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी वासना में बड़ा ही अन्तर होता है। ठंडे दिमाग से कोई बात कितनी भी अच्छी तरह से क्यों न सोची जाय, उसे करने के लिए हम तब तक तैयार नहीं होते जब तक वह हमारे दिल में नही घुसती। कार्य सम्पादन के लिए मनुष्य अपने भावों में कुछ वेग चाहता है। इस मानव स्वभाव से राजनीतिपटु नेता पूरे रूप से परिचित हैं। यदि जनता को किसी कार्य-विशेष के लिए नेता अग्रसर करना चाहता है, तो लम्बा-चौड़ा तर्क नहीं बघारता, बल्कि उसके हृदय को स्पर्श करनेवाली बातें कहकर वह उसके भावों को उद्दीप्त करता है। बस, उसका कार्य इसी से सिद्ध हो जाता है। विदेशियों के भारत में शासन करने से अर्थ का जो शोषण हो रहा है उसे प्रकट करने के दो मार्ग हैं। एक

है पूरा लेखा-जोखा देकर देश की आर्थिक हीनता और दरिद्रता का चित्र प्रस्तुत करना। यह तो हुआ 'तर्कमार्ग' और दूसरा मार्ग है उस दरिद्रता के कारण टूटी कुटिया में अपना दिन काटनेवाली किसी बुढ़िया के, रोटी के लिए तरसनेवाले या सड़क पर गिरे रोटी के टुकड़ों पर टूट पड़नेवाले, छोटे-छोटे बच्चों का करुण क्रन्दन दिखलाना। यह हुआ भावना-प्रधान 'कविजनों का मार्ग'। कहना न होगा कि यह दूसरा मार्ग ही श्रोताओं के चित्त पर विशेष प्रभाव डालता है और वे इस दरिद्रता को दूर भगाने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के भावों को उद्बुद्ध करने के लिए तथा सुप्त भावों को जगाकर वेगवान् बनाने के लिए सबसे महनीय साधन 'कविता' है और इसीलिए उसका उपदेश श्रोताओं के हृदय पर अधिक प्रभाव जमाता है और उन्हें कार्य करने के लिए अधिकता के साथ प्रोत्साहित करता है।

उदाहरण के द्वारा काव्य के इस प्रयोजन को सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' को ही देखिये कि कितनी सुन्दरता के साथ वह काम के ऊपर धर्म की विजय की स्थापना करता है। 'मदनदहन' का आध्यात्मिक रहस्य भी तो यही है। मानव को चाहिए कि वह स्वार्थ-रूपी काम को धर्म की वेदी पर स्वाहा कर दे। तभी वह महान् हो सकता है तथा शिवत्व को पाकर अपने जीवन को धन्य बना सकता है। यह उपदेश कितनी मार्मिकता के साथ यह काव्य प्रस्तुत करता है। सचमुच काव्य के प्रयोजन महान् तथा महनीय हैं।

आचार्य मम्मट ने इन समस्त प्रयोजनों को एक ही कारिका में बड़ी स्पष्टता से अभिव्यक्त किया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता-सम्मितयोपदेशयुजे॥

कविवर भिखारीदास ने इनमें से कतिपय प्रयोजनों को इस सवैया में दिखलाया है—

एक लहैं तप पुंजनि के फल
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पति केसव
भूषन ज्यों वर बीर बड़ाई।
एकनि कों जसही सों प्रयोजन
है रसखानि रहीम की नाईं।
'दास' कवित्तनि की चरचा
बुधिवंतनि कों सुख दै सब ठाईं॥

काव्य से चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। इस विषय में विश्वनाथ कविराज का प्रसिद्ध मत यों है—

चतुर्वर्गफल-प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

काव्य के निरूपण का एक प्रधान कारण है। अल्पबुद्धिवाले लोगों को भी चारों वर्गों के फल की प्राप्ति सुखपूर्वक अल्प-प्रयास से काव्य से ही होती है। नीति-ग्रन्थों से भी होती है परन्तु वह सुख से नहीं होती। दर्शन-ग्रन्थों से भी यह प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु वह अधिक बुद्धिवालों के लिए है। फलतः काव्य के प्रयोजन में स्वतः एक विशिष्टता है।

काव्य और नैतिकता

काव्य से जब रस का उद्बोध होता है और श्रोता तथा पाठक की वृत्तियाँ उस विशेष रस की धारा से सिक्त होती हैं, तब अनैतिकता का कोई प्रश्न उठता ही नहीं। उस समय राजस तथा तामस वृत्तियों का सर्वथा तिरस्कार कर सात्त्विक भाव की ही प्रबलता होती है। जब तक दुःख के उत्पादक रजोगुण की तथा मोह के जनक तमोगुण की प्रधानता चित्त में बनी रहती है, आनन्द देनेवाला सत्त्व गुण तब तक जन्म ही नहीं लेता। रस की अनुभूति आनन्द की अनुभूति है। रस का अनुभव करनेवाला सामाजिक रसानुभव की दशा में कभी अपनी स्वार्थमयी वृत्तियों की चरितार्थता नहीं मानता। वह अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर समाज के साधारण जन के साथ साम्य धारण करता है तथा उसका प्रतिनिधित्व करने लगता है। वह यह नहीं समझता कि वह उस विशेष रस का आनन्द केवल अकेले ही उठा रहा है। उस समय तो वह अपना तादात्म्य प्रत्येक व्यक्ति के साथ मानता है और समझता है कि प्रत्येक व्यक्ति भी उसी के समान उस रस का आनन्द लेता है। रस ही शिव है, सत्य है तथा सुन्दर है। रस की दशा सदा आनन्द-दायिनी तथा मंगल-कारिणी होती है। वह दशा जिन उपकरणों की सहायता से सम्पन्न होती है वे अमंगल होने पर भी मंगल को उत्पन्न करते हैं, स्वतः अशिव होने पर भी शिव का ही उदय करते हैं। इस प्रकार रस की अनुभूति करनेवाले पाठक की दृष्टि उसके उपकरणों की क्षुद्रता तथा कलुषता पर कभी नहीं जाती। वह तो उससे सदा आनन्द प्राप्त करता है और इस दशा में अनैतिकता के लिए स्थान नहीं है।

'कला कला के लिए'

काव्य के उद्देश्य की समीक्षा के प्रसंग में पाश्चात्य जगत् का एक मान्य सिद्धान्त है—'कला कला के लिए' (Art for art sake)। अर्थात् कला का उद्देश्य कलात्मक

सृष्टि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस मत का अनुमोदन पश्चिमी जगत् के आलोचक तथा भारतवर्ष के नवीन समीक्षक इधर करने लगे हैं।

अभिव्यञ्जना-वादी (Expressionist) आलोचकों का कथन है कि अभिव्यञ्जना ही कला का विशुद्ध रूप है। कलाकार अपने विशिष्ट माध्यम के द्वारा अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति कर देता है। इतने में ही उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। समाज या व्यक्ति के ऊपर उस अभिव्यञ्जना के प्रकट या गुप्त प्रभाव की मात्रा को न तो वह ढूंढ़ता है और न उसे ढूंढ़ निकालने की जरूरत होती है। कलाकार बाह्य जगत् की अपनी अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना करके ही अपना काम समाप्त कर लेता है। अतः इन आलोचकों की दृष्टि में कला का उद्देश्य अन्य कुछ न होकर स्वतः कला ही होती है।

परन्तु अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नाल्ड काव्य को मूलतः जीवन की आलोचना मानते हैं।[1] काव्य तथा जीवन में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित है। कवि अपने सामने प्रस्तुत जीवन के नाना अंशों पर अपनी पैनी दृष्टि डालकर उन्हें अपने काव्य में चित्रित करता है। कवि आदर्शवाद का पक्षपाती होता है। कवि किसी वस्तु के हेय पक्ष को ग्रहण न कर ग्राह्य पक्ष को ही लेता है। पाठक काव्य में निबद्ध वस्तु के अनुशीलन से अपनी दशा का सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलना करता है और अपने जीवन को उदात्त बनाने के लिए घोर परिश्रम करता है। इस प्रकार काव्य जीवन की मूलभूत आलोचना ही होता है।

भारतीय आलोचकों ने काव्य का उद्देश्य उभय प्रकार का बतलाया है। भरत मुनि का कथन है—

> धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
> लोकोपदेशजननं नाट्यमेतत् भविष्यति॥

अर्थात् नाट्य धर्म, यश, आयु, कल्याण और बुद्धि को बढ़ानेवाला तथा लोगों को उपदेश देनेवाला होता है। भामह की सम्मति के अनुसार सुन्दर काव्य का पठन-पाठन कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) को उत्पन्न करता है। विश्वनाथ कविराज काव्य को चतुर्वर्ग—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—की प्राप्ति का सुगम साधन स्वीकार करते हैं। मम्मटाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट काव्य के उद्देश्यों का विश्लेषण करने से काव्य के द्विविध प्रयोजन प्रतीत होते हैं—मुख्य तथा गौण। इनमें से मुख्य प्रयोजन है—सद्यः परनिर्वृत्ति। अर्थात् काव्य-पाठ के अनन्तर सद्यः उत्पन्न होनेवाला अत्यधिक आनन्द।

1. Poetry is at bottom a criticism of life.

यही उद्देश्य 'सकल-प्रयोजन-मौलिभूत' माना गया है। गौण प्रयोजन अनेक हैं जिनमें यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, विघ्नों का नाश तथा स्त्री के समान उपदेश देना प्रधान हैं। काव्य नीति-शास्त्र के अनुसार रुखा-सूखा उपदेश देने में ही अपनी सफलता नहीं मानता। सरलता के साथ उपदेश देना ही काव्य का प्रयोजन है, परन्तु यह भी गौण प्रयोजन है। श्रोताओं तथा पाठकों के हृदय में अलौकिक आनन्दमय रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। मम्मटाचार्य का यह प्रतिपादन काव्य के द्विविध प्रयोजन की ओर संकेत करता है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (चा० प्र० १।२)

काव्य का द्विविध पक्ष

ध्यान देने की बात है कि काव्य के दो ही पक्ष होते हैं—सुन्दर तथा कुरूप। कवि की दृष्टि सदा सौन्दर्य की ओर ही जाती है चाहे वह मूर्तरूप में मिले या अमूर्त वाणी या कर्म में निवास करे। कवि की भीतरी दृष्टि सौन्दर्य को चुपके-चुपके देखती है और उसकी वाणी पुकार कर उसकी अभिव्यक्ति सुन्दर तथा उपयुक्त शब्दों में देती है। बस, कवि का ध्यान इसी बात पर रहता है। वह कभी मंगल-अमंगल का काव्य में चिंतन नहीं करता। वह केवल काव्य में सौन्दर्यविधान की ओर प्रवृत्त रहता है और यही उसके व्यवसाय के लिए पर्याप्त होता है। मंगल वस्तु या सुन्दर वस्तु में अंतर भी तो नहीं है। धार्मिक व्यक्ति जिस वस्तु को अपनी दृष्टि से मंगलमय मानता है, उसे ही कवि अपनी दृष्टि से सुन्दर समझता है। फलतः सौन्दर्य से युक्त होते ही काव्य मंगलमय बन जाता है। सौन्दर्य मंगल का प्रतीक है। सौन्दर्य सत्य का प्रतिनिधि है। फलतः सुन्दर काव्य स्वभाव से ही मंगल तथा कल्याण का विधायक होता है। उसके लिए रचयिता को प्रयत्न करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। संस्कृत में श्रीहर्ष कविराज द्वारा रचित 'नैषध-चरित' की बड़ी ही प्रसिद्धि है। उसके शृंगारी वर्णनों से अमंगल या अश्लीलता का संकेत निकालना उसी प्रकार उपहासास्पद है जिस प्रकार कामिनी के सुन्दर रूप में अमंगल की भावना करना है। इस प्रकार 'संस्कृत आलोचना' ने काव्य तथा नैतिकता के प्रश्न को बड़ी स्वाभाविक रीति से हल कर दिया है। काव्य 'सत्यं शिवं सुन्दरं' होता है। वह सदा मंगल का दायक तथा कल्याण का विधायक इसीलिए होता है कि वह सौन्दर्य का बोधक तथा विवेचक होता है।

जीवन-दर्शन

'काव्य के साथ नैतिकता का सम्बन्ध क्या है'?—इस प्रश्न को लेकर पाश्चात्य

आलोचकों ने गहरी छानबीन की है। अधिकांश आलोचक तो दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते ही हैं, परन्तु ऐसे भी आलोचक हैं जो काव्य का सम्बन्ध नैतिकता के साथ रखने के सर्वथा विरोधी हैं। वे अपने उद्देश्य के लिए यही कहते हैं कि 'कला कला के लिए होती है' (आर्ट फॉर आर्ट्स सेक), परन्तु भारतवर्ष के आलोचकों का स्पष्ट कथन रहा है कि काव्य का उद्देश्य सदा नैतिक ही होना चाहिए। काव्य यदि इस मार्ग को छोड़कर ऐसा वर्णन करता है जिससे पाठक का या श्रोता का हृदय अनीति के मार्ग पर आरूढ़ हो, तो उस काव्य को हम 'काव्य' ही नहीं कहते। हम काव्य आनन्द के लिए अवश्य पढ़ते हैं, परन्तु यह तो एक प्रयोजन हुआ। इतने से ही हमारा कार्य नहीं चलता। हम काव्य को 'जीवन की आलोचना' मानते हैं। उसमें वर्णित विषय के साथ हम अपने जीवन को मिलाते हैं और यदि उसमें त्रुटि लक्षित होती है, तो उसे हटाकर जीवन को सुधारने का भी पूरा प्रयत्न करते हैं।

नायिका-भेद

यहाँ पूछा जा सकता है कि संस्कृत की आलोचना में तथा तदनुसारी हिन्दी आलोचना में नायिका का भेद इतने विस्तार से क्यों वर्णित है तथा शृंगार-रस का इतना विस्तार क्यों लक्षित होता है कि वह अश्लीलता की कोटि को स्पष्टतः स्पर्श करता है? कहीं-कहीं तो यह नितान्त अश्लील हो उठता है। ऐसी दशा में काव्य में नैतिकता का दम भरना दम्भ नहीं तो क्या है? इसके उत्तर में आचार्यों का कहना है कि नहीं, बिल्कुल नहीं। काव्य कभी अनैतिकता का उपदेश नहीं देता। नायिकाओं का तथा धृष्ट, शठ आदि नायकों का जो चरित्र चित्रित किया जाता है वह साभिप्राय होता है। उसका तात्पर्य होता है। आपाततः अशिव विषयों का जो वर्णन कहीं काव्य में मिलता है उसका तात्पर्य यही है कि पाठक ऐसे भी पात्रों से परिचित हो जायँ। आखिर वे भी इस संसार में विद्यमान हैं तथा अपना करतब दिखाया करते हैं। यदि काव्य में उनके चरित्र का उद्घाटन नहीं हुआ, तो सामान्य जनता को उनसे परिचय पाने का अवसर ही कहाँ मिलेगा? यही कर्तव्य-दृष्टि कवियों को ऐसे विषयों के वर्णन की ओर अग्रसर करती है। आलोचक-शिरोमणि रुद्रट की यह उक्ति इस विषय में बड़ी ही स्पष्ट तथा सामयिक है—

> नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः,
> कर्तव्यतयान्येषां न तदुपायो विधातव्यः।
> किन्तु तदीयं वृत्तं काव्यांगतया स केवलं वक्ति,
> आराधयितुं विदुषो न तेन दोषः कवेरत्र॥

आशय यह है कि कवि को न तो स्वयं परदारा की कामना करनी चाहिए और न दूसरों को उसका उपदेश देना चाहिए। कर्तव्यरूप के दूसरे के लिए न तो उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाना चाहिए। तब कवि ऐसा वर्णन अपने काव्य में करता ही क्यों है? इसका उत्तर है कि काव्य के अंग होने के कारण वह विद्वानों की आराधना के लिए परदारा के चरित्र का वर्णन करता है। अतः उसका इस विषय में कोई दोष नहीं होता। यह बहुत ही सुन्दर उत्तर है उक्त आक्षेप का। काव्य जीवन के नाना पक्षों को स्पर्श करता है। ऐसी दशा में जीवन के इस कामपक्ष के वर्णन का अभाव काव्य में महती त्रुटि होती। फलतः ऐसे वर्णन करने के लिए कवि का कोई अपराध नहीं होता और न वह इसके लिए किसी न्यायालय में दण्ड का भागी बनता है। वह अपने कर्तव्य को ही निभाता है। इसलिए नायिका-भेद का यह विस्तृत वर्णन कवि के लिए कोई अपराध नहीं है।

——:०:——

५

काव्य और प्रकृति-वर्णन

काव्य में प्रकृति-वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय आलोचकों ने तो प्रबन्ध काव्य में प्रकृति का वर्णन होना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। जो कवि प्रकृति के बाह्य रूप को जितना सुन्दर वर्णन कर सकता है, वह उतना ही बड़ा कवि होता है। संस्कृत के कालिदास तथा भवभूति आदि कवियों ने प्रकृति के वर्णन में अलौकिक क्षमता दिखलायी है।

बाह्य प्रकृति का वर्णन भारतीय साहित्य के दो प्रकार से उपलब्ध होता है—(१) उद्दीपन के रूप में तथा (२) आलम्बन के रूप में। प्रकृति मनुष्य के भावों पर सदा अपना प्रभाव जमाती है। वह उसके मनोभावों को तीव्र तथा उद्दीप्त किया करती है। प्रेमी की सुप्त प्रेम-भावना को प्रकृति की रमणीयता का झकझोर झोरकर जगा डालता है। तड़ाग में खिले हुए कमल, उपवन में विकसित पुष्प और पञ्चम स्वर में कूकती हुई कोकिल का वर्णन हमारे अधिकांश कवि उद्दीपन विभाव के ही भीतर करते हैं और यह करना उचित ही है। परन्तु इससे पृथक् है प्रकृतिका स्वतन्त्र रूप से वर्णन; आलम्बन के रूप में काव्य में उसकी प्रतिष्ठा। यह तभी संभव होता है जब कवि की दृष्टि प्रकृति के मानव हृदय पर होनेवाले प्रभावों की ओर न जाकर प्रकृति के प्रकृत स्वाभाविक रूप की ओर स्वतः आकृष्ट होती है। बाह्य प्रकृति स्वयं सुन्दरता की राशि है परन्तु इसके परखने के लिए चाहिए कवि की स्निग्ध दृष्टि, जो प्रकृति के रूप का विश्लेषण अपना प्रधान कार्य मानती है। प्रकृति का आलम्बन रूप से वर्णन अपने को दूसरे प्रकार के वर्णन से स्वतः पृथक् कर देता है।

शब्दों के माध्यम द्वारा प्रकटित् किये गये पदार्थ दो प्रकार से गृहीत होते हैं—(१) अर्थ-ग्रहण तथा (२) बिम्ब-ग्रहण। अर्थ-ग्रहण का अर्थ है—किसी पदार्थ का सामान्य रूप प्रस्तुत करना। बिम्ब-ग्रहण से तात्पर्य है उस वस्तु के स्वरूपाधायक चित्र से। अर्थ-ग्रहण का क्षेत्र है शास्त्र और बिम्ब-ग्रहण का क्षेत्र है काव्य। उदाहरण के लिए किसी ने कहा 'कोकिल'। इसका सामान्य अर्थ हुआ एक प्रकार की विशिष्ट

चिड़िया। परन्तु इस शब्द के उच्चारण करते ही यदि श्रोता के सामने लाल आँख-वाली, स्वल्पकाय तथा काले रंग की चिड़िया की मूर्ति झलकने लगती है, तो समझना चाहिए कि यहाँ विम्ब ग्रहण हो रहा है। जब प्रकृति के पदार्थों का केवल नाम-ग्रहण कर अर्थात् उनका अलग-अलग नाम गिना कर कवि अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है, उपवन में खिलनेवाले अनेक पुष्पों का केवल नामोल्लेख कर चुप बैठ जाता है, तव वह यथार्थ रूप में प्रकृतिवर्णन नहीं करता। प्रकृति की प्रकृत प्रतिष्ठा काव्य में तभी होती है, जब कवि पूर्ण संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है। 'आम के पेड़ पर बैठी कोयल बोल रही है'—यह होगा प्रकृति का असंश्लिष्ट वर्णन। परन्तु 'वसन्त के आगमन पर हरे-भरे आम के पेड़ों की पीली मंजरियों से लदी हुई, मलयानिल के झोकों से झुकती हुई टहनियों के ऊपर बैठी हुई, लाल नेत्र वाली, काले रंग की कोयल पंचम स्वर में कूक रही है,—यह होगा प्रकृति का संश्लिष्ट वर्णन। 'संश्लेष' शब्द का अर्थ है आलिंगन। कवि समस्त आवश्यक पदार्थों का एकत्र आलिंगन कराकर इतना सुन्दर वर्णन करता है कि प्रकृति का चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगता है।

भारतीय साहित्य में प्रकृति-वर्णन का संश्लिष्ट रूप परम्परा से किया गया पाया जाता है। संस्कृत के मान्य कवियों—वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, आदि—ने प्रकृति के इस रूप का चित्रण अपने काव्यों में बड़ी मार्मिकता तथा स्निग्धता के साथ किया है। वाल्मीकि तथा कालिदास के द्वारा किया गया प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण इतना सुन्दर है कि उसे पढ़ कर सहृदय पाठक आनन्द सागर में गोता लगाने लगते हैं। इतना ही नहीं, प्रकृति-चित्रण की इस परम्परा की खोज करने पर वह वेदों में भी उपलब्ध होती है। वर्षा ऋतु का प्रथम वर्णन हमें ऋग्वेद संहिता के पर्जन्य सूक्त (७।१०३ सू०) में उपलब्ध होता है जहाँ अनेक नवीन कल्पनाएँ वर्णन को यथार्थ और सुन्दर बना देती हैं। वसिष्ठ ऋषि एक मण्डूक की आवाज सुनकर दूसरे मण्डूक के बोलने की तुलना वैदिक ब्राह्मणों के वेद-पाठ से करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी-उपमा को नीचे की चौपाई में दिया है :

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
वेद पढ़ै जनु बटु समुदाई।।

इस परम्परा का निर्वाह संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक कवियों ने अपने ग्रन्थों में किया है। इन कवियों ने प्रकृति के मार्मिक अंशों को ग्रहण कर उसे नाना उपादानों से सुसज्जित कर एक आकर्षक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया है।

(क) प्रकृति का निरीक्षण

प्राकृतिक दृश्यों के यथार्थ चित्रण के लिए कवि में निरीक्षण-शक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रकृति नानारूपात्मक होती है। उसके इन नाना रूपों का सूक्ष्म अवलोकन कर जो कवि अपनी शब्द-तूलिका के द्वारा इनका चित्रण करता है, वही वास्तविक कवि है। संस्कृत के प्राचीन कवियों में यह निरीक्षण-शक्ति प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है, परन्तु हिन्दी के आधुनिक कवियों में इस निरीक्षण शक्ति का अभाव पाया जाता है। महाकवि कालिदास के काव्यों में प्रकृति के मधुर संश्लिष्ट रूप की झाँकी किसे मुग्ध नहीं बनाती? कालिदास प्रकृति के प्रवीण पारखी थे। इनका प्रकृति वर्णन अत्यन्त रमणीय है। इन्हें प्रकृति-निरीक्षण की अद्भुत शक्ति प्राप्त थी। इनके प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का यह उदाहरण कितना सुन्दर है।

कवि हिमालय में सन्ध्या-वर्णन के प्रसंग में कहता है कि शिव जी पार्वती की दृष्टि को सन्ध्याकालीन सुषमा की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि पार्वती, तुम्हारे पिता के झरनों में सूर्य के पश्चिम की ओर लटक जाने से अब इन्द्रधनुष का मण्डल नहीं दीख पड़ता जो उनके ऊपर रहने पर दिखाई पड़ता था। बात यह है कि जब सूर्य की किरणें झरनों से उठने वाली फूही पर पड़ती हैं, तब हजारों इन्द्र-धनुष सूर्य की किरणों से सुशोभित जलकणों में अपना सतरंगी (सात रंगवाला) रूप सदा दिखाया करते हैं। कालिदास को सन्ध्याकालीन सूर्य के पश्चिम की ओर लटकने के कारण झरनों के जलबिन्दुओं में इन्द्र-चाप का अभाव बेतरह खटक रहा है। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक यह पद्य कवि की पैनी निरीक्षण शक्ति का एक विशिष्ट दृष्टान्त है :

शीकर-व्यतिकरं मरीचिभिः,
दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचाप – परिवेष – शून्यतां,
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

(कुमारसंभव, ८।३१)

भारतीय संस्कृति के प्रतीक रूप हिमालय की सुषमा का सूक्ष्म निरीक्षण महाकवि कालिदास ने किया है। हिमालय के इस वर्षाकालीन दृश्य का चित्रण बड़ा ही सजीव और सटीक है—

आमेखलं संचरतां घनानां
छायामधः सानुगतां निषेव्य।

उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते,
शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥

(कुमारसंभव, १।५)

हिमालय को चोटियाँ इतनी ऊँचीं उठी हैं कि मेघ भी उनके बीच तक पहुँच कर ही रह जाते हैं। उनके ऊपर का आधा भाग मेघों के ऊपर निकला रहता है। इसलिए निचले भाग में छाया का आनन्द लेनेवाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होने से घबरा उठते हैं, तब वे बादलों के ऊपर उठी हुई उन ऊँची चोटियों पर दौड़कर चढ़ जाते हैं जहाँ धूप बनी रहती है। कालिदास के प्रकृति-निरीक्षण की इस सूक्ष्मता को वे ही लोग समझ सकते हैं जिन्हें हिमालय की गोद में निवास करने का और इस वर्षाकालीन दृश्य के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

पिछले कैड़े के कवियों में प्रकृति-निरीक्षण की वह शक्ति नहीं पायी जाती जो प्राचीन कवियों में उपलब्ध होती है। इन कवियों के लिए तो प्रकृति-वर्णन अलंकारों की सजावट का एक विशिष्ट अवसर प्रदान करता है। वे न तो प्रकृति के बाह्यरूप की विचित्रता पर मुग्ध होते हैं और न उसे अपनी पैनी निगाहों से निरखने का प्रयास करते हैं। अलंकारों का जमघट खड़ा कर वे अपने चित्त को संतुष्ट किया करते हैं। नैषधकार श्रीहर्ष का सन्ध्या वर्णन सम्बन्धी यह श्लोक इस प्रसंग में उद्धृत किया जा सकता है जिसमें कवि ने डूबते हुए रक्त वर्ण सूर्य की उपमा मुर्गे की चोटी से दी है।

अस्ताद्रि चूडालय - पक्वणालि-
च्छेकस्य किं कुक्कुट-पेटकस्य।
यामान्त-कूजोल्लसितैः शिखोघैः-
दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम् ॥

(नैषध, २२।५)

श्लोक का भाव यह है—'अस्ताचल की चोटी पर बने हुए शबरों के घरों में रहने-वाले मुर्गे कूक रहे हैं। उनकी लाल लाल कलँगियाँ माथे पर खड़ी हो गयी हैं और इसी-लिए पश्चिम दिशा एक दम लाल रंग की बन गयी है'। इस पद्य में कुक्कुट जाति की विशिष्टता का निरीक्षण भले ही हो, परन्तु सन्ध्या की किसी मार्मिक विशिष्टता की ओर संकेत कहाँ है? इस विषय में कालिदास तथा श्रीहर्ष की तुलना ही क्या? कहाँ निर्झर-कण में इन्द्र-धनुष का साक्षात् निरीक्षण और कहाँ मुर्गों की कलँगी से आकाश के लाल होने की अकल्पित घटना!!! अन्तरं महदन्तरम्।

हिन्दी के कवियों में भी यह विषमता दिखाई पड़ती है। जहाँ प्राचीन काल के मान्य कवियों ने प्रकृति के मार्मिक रूप का स्वयं निरीक्षण कर भव्य भाषा में वर्णन

किया है, वहाँ रीतिकाल के कवियों ने फूलों और पत्तियों की एक लम्बी फिहरिस्त दे कर अपने काम से छुट्टी ले ली है। प्रकृति के बाहरी रूप को निरखने में ही जिन कवियों के नेत्र अटक रहते हैं, उन से प्रकृति की अन्तःप्रकृति के अवलोकन की आशा करना अपने आपको धोखे में डालना है। हिन्दी के रीतिकालीन अधिकांश कवियों की रचनाएँ ऐसी ही हैं जिनमें हमें प्रकृति के केवल बाह्य रूप का ही दर्शन होता है। अन्तःप्रकृति के अवलोकन का अवसर ही नहीं मिलता।

(ख) प्रकृति का सौंदर्य पक्ष

कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के अनेक पक्षों का विवरण प्रस्तुत किया है। परन्तु सच्चा कवि वही होता है जिसका मन प्रकृति के नाना रूपों में रमता है। जो केवल प्रकृति की सुषमा, कोमलता तथा सुन्दरता के ही ऊपर रीझता है, वह क्या प्रकृति का सच्चा प्रेमी माना जा सकता है? प्रकृति की मृदुलता के समान, प्रकृति के उग्रभाव, भयंकरता, कठोरता तथा विषमता के द्वारा भी जिस व्यक्ति का चित्त विस्फारित होकर आह्लाद का अनुभव करता है हम उसे ही सच्चा प्रकृति-प्रेमी मान सकते हैं। महाकवि कालिदास का प्रकृति-वर्णन प्रकृति के सौम्य पक्ष के विलास की मधुर झाँकी प्रस्तुत करता है, तो भवभूति में प्रकृतिका उग्ररूप अपनी स्वाभाविक भयंकरता के साथ पाठकों के हृदय को आह्लादित करता है।

कालिदास ने कहीं कहीं एक पंक्ति के द्वारा ही समस्त वस्तु का रंगीन चित्र उपस्थित कर दर्शकों के नेत्रों को लुभा रखा है। समुद्र के चित्रण के लिए यह एक ही पंक्ति पर्याप्त है—

प्राप तालीवनश्यामं उपकण्ठं महोदधेः।

(रघुवंश, ४।३४)

कवि कहता है कि रघु अपनी सेना के साथ ताड़ के वृक्ष-पुंजों से श्याम रंगवाले समुद्र के किनारे पहुँचे। यहाँ 'तालीवनश्यामम्' केवल एक विशेषण से तालवनों की सघनता के कारण नीलिमा-सम्पन्न समुद्र का चित्र हृदय पर अंकित हो जाता है। महाकवि कालिदास की दृष्टि पक्षियों की विचित्रता परखने में भी उतनी ही दक्ष है। 'पम्पा' तालाब के चित्र को सारस पक्षियों ने कितना सुन्दर तथा रोचक बना डाला है। वे रामचन्द्र के विमान में बजनेवाले घुंघुरुओं का शब्द सुनकर आकाश में उड़ कर स्वागत करते हुए प्रतीत हो रहे हैं:

अमूर्विमानान्तर - लम्बिनीनां
श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।

प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो
गोदावरी - सारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥
(रघुवंश, १३।३३)

कवि ने यहाँ चित्र के साथ संगीत का भी अनुपम मेल जुटा दिया है।

कवि के लिए चित्र को रंगीन बनाने की बड़ी जरूरत होती है। कवि चित्रकार होता है। चित्रकार अपनी तूलिका से चित्र में रंग भरता है और कवि अपनी लेखनी से शब्दों के माध्यम से वर्णमय चित्र की योजना करता है। इस कार्य में 'संश्लिष्ट चित्र' की चारुता बड़ी मुग्धकारिणी होती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमें भवभूति के इस सुन्दर श्लोक में मिलता है :

इह समदशकुन्ताक्रान्त—वानीरवीरुत्—
प्रसव-सुरभि-शीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरि-स्रोतसो निर्झरिण्यः॥
(उत्तररामचरितः)

यहि बेतस बल्लरि पै खग बैठि, कलोल करें मृदु बोल सुनावें।
तिनसों झरे पुष्प सुगन्धित तोय, बहै अति शीतल हीतल भावें॥
फल पुंज पकेनी के कारन श्यामल, मंजुल जम्बु निकुंज लखावें।
उनमें रुकि कै करि रोर घनी, झरनानि के स्रोत समूह सुहावें॥
—सत्यनारायण कविरत्न द्वारा अनूदित

इस पद्य का समस्त चमत्कार वर्णन की यथार्थता में है। यहाँ कवि की कला में चित्र और वीणा—रूप और शब्द—दोनों का ही मधुर सन्निवेश है।

हिन्दी के मान्य कवियों के काव्यों में बाह्य-प्रकृति अपनी भव्य झाँकी प्रस्तुत कर सहृदयों का अनुरंजन करती है। महाकवि सेनापति का प्रकृति-वर्णन अनेक दृष्टियों से अनूठा है। इनका हृदय प्रकृति के मनोरम दृश्यों में खूब रमता है और इसलिए उनके प्रकृति-वर्णनों में बड़ी सजीवता और रोचकता है। उन्होंने शीत तथा ग्रीष्म-ऋतु का जो वर्णन किया है वह रमणीय है तथा पाठकों के सामने एक चित्र-सा खड़ा कर देता है।

पूस महीने का यह दृश्य देखिए। रात में जलती हुई आग को घेर कर बैठने वाले ग्रामीणों का यह दृश्य कितना सच्चा, सजीव और सहृदयतापूर्ण है—

सीतकौ प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कैं।
हिम के समीर, तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन में जाइ कैं।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं, नैंक सुलगाइ कैं।
मानौ भीत जानि महासीत तैं, पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कैं।

(कवित्त रत्नाकर, ३।४५)

यथार्थता से ओतप्रोत यह वर्णन भारतीय ग्रामीण जीवन का बड़ा ही स्वाभाविक तथा आवर्जक चित्र प्रस्तुत करता है।

(ग) प्रकृति का अध्यात्म पक्ष

संसार के समस्त पदार्थों में चेतनता का साक्षात्कार करनेवाले भारतीय कवियों की दृष्टि में वाह्य प्रकृति सजीवता की ज्वलन्त मूर्ति है। हमारे कवियों ने 'वनश्री', 'वनलक्ष्मी' और 'वनदेवता' की कल्पना की है और सचराचर विश्व में व्याप्त एक प्रकृति का दर्शन तथा उसकी भव्यता सूचित करने के लिए उसे देवी के रूप में अंकित किया है। प्रकृति तथा मनुष्य, दोनों का सम्बन्ध इतना प्राचीन तथा मार्मिक है कि मनुष्य प्रकृति के सहयोग तथा सहानुभूति के अभाव में पनप नहीं सकता, उसका जीवन एकांगी हो जाता है तथा वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं होता।

कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक प्रकृति तथा मानव के मंजुल सहयोग तथा सामरस्य का मनोहर चित्रण है। उन्हें प्रकृति की साधारण से साधारण वस्तु भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथा सारगर्भित दिखाई देती है। कालिदास का सम्पूर्ण साहित्य एक प्रकार से प्रकृति का अमर चित्रण है। शकुन्तला का मादक सौन्दर्य तथा रूपलावण्य प्रकृति के प्रभाव का अमर विलास है। कवि शकुन्तला का वर्णन करता हुआ लिखता है—

अधरः किसलयरागः कोमल विटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥

इसी प्रकार कण्व के आश्रम से पति-गृह को जाते समय कवि ने शकुन्तला के वियोग में सारी प्रकृति को उसके साथ सहानुभूति प्रकट करती हुई दिखलाया है।

उद्गलितदर्भ - कवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृत - पाण्डुपत्राः, मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥
(शकुन्तला, ४।१०)

प्रकृति में मानव-वियोग-जन्य यह आलोड़न मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मनुष्य और प्रकृति का यह परस्पर सौहार्द किस रसिक की हृत्तन्त्री को निनादित नहीं करता।

महाकवि भवभूति ने अपने 'उत्तरराम-चरित' में वासन्ती नाम से वनदेवता को पात्ररूप में अंकित किया है। सीता के स्निग्ध हृदय की साक्षिणी वासन्ती उनकी अकृत्रिम सुहृद है। राम के द्वारा सीता-परित्याग रूपी निर्मम अत्याचार को सुनकर वह क्रुद्ध हो जाती है और रामचन्द्र को उलाहना देते हुए वह उनकी कठोर भर्त्सना करती है। वासन्ती के उलाहने में इतनी मर्मस्पर्शिनी बातें हैं कि राम का हृदय दुःख तथा आशंका से आघात से काँप उठता है।

वनदेवता वासन्ती का यह सुन्दर चित्र भवभूति की कोमल कला का विलास है। मनुष्य से अगम्य तथा असाध्य कार्य का सम्पादन कर वनदेवता की मानवहृदय के साथ गहरी सहानुभूति, एकतानता तथा एकसूत्रता का परिचय बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में चित्रित किया गया है। भवभूति ने प्रकृति को मानव जीवन की शोधिका रूप में चित्रित किया है। ये महाकवि प्रकृति के उग्ररूप के ही देखनेवाले तथ वर्णन करनेवाले नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृति के अन्तराल में विराजमान व्यवस्था, अपराध-मार्जना और कालुष्य-विभंजना शक्ति के भी विज्ञ विवेचक हैं।

भारतीय विद्वानों ने प्रकृति के भीतर जागरूक रहनेवाली व्यवस्था की ओर आदिम काल से दृष्टिपात किया है। यह संसार ही व्यवस्था-नटी के नाना अभिनय तथा नर्तन का विशाल रंगस्थल है। इसी को ही वैदिक ऋषियों ने 'ऋत' कहा है। फलतः प्रकृति कहीं भी अव्यवस्था को पनपने नहीं देती, अन्याय को अपनी क्रीड़ा दिखलाने का अवसर नहीं देती। प्रकृति का साम्राज्य न्याय के आधार पर खड़ा है।

जड़ प्रकृति के भीतर नितान्त उदात्त तथा महनीय तथ्यों का भी संकेत कवि-बुद्धि सदा पाती रही है। संस्कृत तथा हिन्दी के महाकवियों ने ऐसे स्थलों का निर्देश अन्योक्ति रूप में अधिकतर किया है। बाबा दीनदयाल गिरि की रम्भा, कौआ और ताड़ वृक्ष पर लिखी गयी अन्योक्तियाँ इसी कोटि में आती हैं। संस्कृत के पण्डित-राज जगन्नाथ ने भी ऐसी अनेक 'अन्योक्तियाँ' लिखी हैं जो चुभती हुई हैं। श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध (अध्याय २०) में प्रावृट् ऋतु के वर्णन के अवसर पर

प्रकृति द्वारा सूचित आध्यात्मिक उपदेशों की कमनीय लड़ी सहृदयों का नितान्त मनोरंजन करती है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी वर्षाकालीन प्रकृति से सुन्दर तथा उपादेय उपदेश ग्रहण करने में नहीं चूकते । यथा—

हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहिं पन्थ।
जिमि पाखंड विवाद तें गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ ॥

(घ) प्रकृति और मानव

मनुष्य तथा प्रकृति के परस्पर सामञ्जस्य के अतिरिक्त वैषम्य की ओर भी कवियों की दृष्टि स्वतः आकृष्ट हुई है। अंग्रेजी के कवियों ने प्रकृति को पदार्थों के समुच्चय रूप में ग्रहण कर मानव जीवन के साथ उसकी तुलना की है। प्रकृति सतत, अपरिवर्तनशील, अपरिणामी तथा शाश्वतिक है। उसकी अपेक्षा मनुष्य-जीवन की अवधि कितनी न्यून, कितनी क्षणिक तथा कितनी अस्थायी है। कवियों की दृष्टि में प्रकृति की तुलना में मानव जीवन की हीनता तथा अस्थायिता ही स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। अंग्रेजी के प्रख्यात कवि मैथ्यू आर्नाल्ड ने 'प्रकृति' के मुख से अपने एक प्रसिद्ध पद्य में इस रहस्य का उद्घाटन किया है। मानव समझता है कि वह प्रकृति के समस्त रहस्यों से परिचित है तथा प्रकृति का प्रयोजन मानव जीवन का अनुरञ्जन है, परन्तु यह समझना ठीक नहीं है। मानव धूल में मिल जाता है, मर जाता है, परिवर्तित हो जाता है, परन्तु प्रकृति अखण्ड तथा नित्यभाव से विद्यमान रहती है। महाकवि टेनिसन ने झरने के झरने में दिव्य सन्देश की वाणी सुनी है कि मनुष्य आते रहते हैं और जाते भी रहते हैं परन्तु मैं सदा ही चला करता हूँ, कभी रुकता ही नहीं—

For men may come and men may go,
But I go on for ever.

टेनिसन की दृष्टि में प्रकृति मनुष्यों को सतत गति तथा क्रियाशीलता की शिक्षा देती है। इस प्रकार प्रकृति में आध्यात्मिक तथ्यों की ओर स्पष्ट संकेत का दर्शन कविजनों की अन्तर्दृष्टि सदा किया करती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में, अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद (रोमेन्टिसिज्म) के ज़माने में, प्रकृति की भावना ने खूब ही पलटा खाया। इस युग के सबसे बड़े मार्मिक कवि वर्ड्स्वर्थ हैं जिन्होंने प्रकृति को एक अखण्ड तथा सजीव वस्तु मानकर उसका साक्षात्कार किया है। उनके लिए प्रकृति उपदेशों का भण्डार है। मानव जीवन को सुधारने तथा श्लाघनीय बनाने के लिए एक क्षुद्र पत्ते की भी शिक्षा पर्याप्त है।

प्रकृति की आध्यात्मिक व्याख्याएँ कवियों के वैयक्तिक सिद्धान्त तथा रुचि की

प्रतीक हैं। वर्ड्स्वर्थ की दृष्टि में प्रकृति स्वतः दिव्य रूप है तथा उसके अन्त-विद्यमान आत्मा के साथ एकता स्थापित कर मनुष्य अपने जीवन का सुधार कर सकता है। शैली की दृष्टि में प्रकृति उस परमात्मा की एक रहस्यात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें जगत् के नाना पदार्थ अपना एकत्व स्थापित करते हैं। महाकवि बायरन को प्रकृति के भीतर आनन्ददायक स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर होती है। पाश्चात्य साहित्य में ईसाई धर्म तथा तत्वज्ञान की शिक्षा में संघर्ष होने के कारण वहाँ के कवियों की दृष्टि में प्रकृति की अभिव्यक्ति अनेकरूपिणी है; उसमें एकरूपता नहीं है। परन्तु भारतीय साहित्य में धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई संघर्ष विद्यमान न था। फलतः हमारे साहित्य में कविजनों के द्वारा वर्णित तथा रूपायित प्रकृति की अभि-व्यञ्जना एकात्मिका है। दृष्टिकोण के इस वैषम्य पर ध्यान देना तुलनात्मक आलोचना का केन्द्र विन्दु है। यह तथ्य पूर्वोक्त निरूपण के द्वारा नितान्त स्पष्ट है।

---:o:---

६

काव्य का लक्षण

अब तक गत परिच्छेदों में काव्य के हेतु तथा काव्य के प्रयोजन की सामान्य चर्चा की गयी है। अब उसके स्वरूप या लक्षण जानने की नितान्त आवश्यकता है। संस्कृत के आचार्यों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—बहिरंग-निरूपक और अन्तरंग-निरूपक। बहिरंग-निरूपक लक्षण में उस वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिये वस्तु के बाहरी चिह्नों का वर्णन किया जाता है तथा अन्तरंग-निरूपक लक्षण में वस्तु के भीतरी चिह्नों का वर्णन कया जाता है। काव्य के दोनों प्रकार के लक्षण संस्कृत-आलोचना-शास्त्र में मिलते हैं। पहले में काव्य के बाहरी रूप का, उसके अवयवों का, उसके अंगों के संघटन का वर्णन किया जाता है और दूसरे में वह विशेषता दिखालायी जाती है जो केवल काव्य में ही प्राप्त होती है, अन्यत्र नहीं। आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण प्रथम प्रकार का है और विश्वनाथ तथा जगन्नाथ का काव्यलक्षण दूसरे प्रकार का। यहाँ दोनों लक्षणों का निर्देश क्रमशः किया जाता है।

बहिरंग लक्षण

आचार्य मम्मट की दृष्टि में काव्य का लक्षण है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थात् काव्य होता है शब्द और अर्थ—जो दोष से रहित हों, गुण से मण्डित हों तथा वे कहीं पर अलंकार से हीन भी हो सकते हैं।

इस लक्षण में काव्य के अंग तथा उपांगों की विशिष्टता का वर्णन किया है। काव्य में शब्द तथा अर्थ का मञ्जुल समन्वय होता है। काव्य कहाँ रहता है? शब्द में या शब्दार्थ-युगल में? इस प्रश्न के उत्तर में आलोचकों ने भिन्न-भिन्न मतों का उपन्यास किया है। कुछ आचार्य काव्य को शब्दमय ही मानते हैं। वे शब्द को ही काव्य में प्रधान मानते हैं, परन्तु अधिकांश आचार्यों की सम्मति में काव्य शब्द तथा अर्थ दोनों के मञ्जुल समन्वय में रहता है। जिस प्रकार शब्द रस के उन्मीलन में सहायता करता है, उसी प्रकार अर्थ भी। शब्द तथा अर्थ—दोनों का समन्वय काव्य

में प्रस्तुत रहता है। शब्द तथा अर्थ का नित्य-सम्बन्ध रहता है। शब्द के उच्चारण करते ही अर्थ स्वतः सामने चला जाता है, और शब्द अर्थ दोनों मिलकर काव्यगत आह्लाद उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। 'वागर्थ' के नित्य सम्बन्ध की उपमा कालिदास ने 'अर्धनारीश्वर' से दी है। जिस प्रकार पार्वती तथा शिव का परस्पर नित्य सम्वन्ध रहता है, उसी प्रकार वाक् और अर्थ भी स्वभाव से ही नित्य संयुक्त रहते हैं। काव्य इन दोनों में समभाव से रहता है। शब्द तथा अर्थ को 'काव्य' शब्द से विभूषित किये जाने के लिए तीन विशिष्टताओं की आवश्यकता होती है—(क) दोष का परिहार, (ख) गुण का सद्भाव, (ग) अलंकार की सर्वदा स्थिति। परन्तु कभी-कभी अलंकार से विरहित होने पर भी शब्द तथा अर्थ को 'काव्य' कहते हैं। इन विशिष्टताओं पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

(क) दोष का परिहार—काव्य के कतिपय विशिष्ट दोष होते हैं; जैसे—श्रुति-कटुता; संस्कारहीनता, भग्नप्रक्रमता आदि। ये यदि शब्द या अर्थ में विद्यमान रहते हैं, तो वहाँ 'काव्य' की सिद्धि नहीं होती। इस पर कतिपय आलोचकों का यह मत है कि दोष का सम्वन्ध काव्य के स्वरूप से न होकर उसके उत्कर्ष तथा अपकर्ष से है। घोड़े की पूँछ यदि किसी कारण से कट जाय या उसकी टाँग टूट जाय, तो क्या घोड़ा इन दोषों के आ जाने से घोड़ा नहीं रहता? रहता वह घोड़ा ही है, परन्तु उसका मूल्य कम हो जाता है। वह लोगों की नजर से गिर जाता है। काव्य की भी यही दशा होती है। श्रुतिकटु दोष के होने पर कोई काव्य काव्यत्व से क्या हीन हो जाता है? क्या उसे काव्य नहीं कह सकते? वह काव्य अवश्यमेव रहता है, परन्तु वह हो जाता है दुष्ट काव्य। फलतः दोष का सम्बन्ध काव्य के शरीर से नितान्त आवश्यक मानना उचित नहीं है। ऐसी आलोचना के विरुद्ध में यह कहना है कि मम्मट का मत बिल्कुल ठीक है। काव्य के शब्द-अर्थ को दोष से हीन होना नितान्त आवश्यक होता ही है। केवल दोष की सत्ता होने से काव्य त्याज्य नहीं होता। सब दोष, दोष नहीं होते। कुछ दोष सामान्य होते हैं और कुछ दोष विशिष्ट होते हैं। रस के दोष ही काव्य में मुख्य होते हैं जिनका परिहार काव्य में सदा जरूरी होता है। क्षुद्र दोष काव्य में भले बने रहें; यदि रस-दोष उसमें नहीं है, तो वह काव्य सच्चा काव्य है और उसका अनुशीलन परम श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार 'शब्दार्थौ' के लिए मम्मट ने जो 'अदोषौ' (दोष-रहित) विशेषण दिया है, वह सर्वथा उचित तथा न्याय्य है।

(ख) गुण का सद्भाव—काव्य के शब्दार्थों को गुणों से युक्त होना नितान्त आवश्यक है। काव्य में तीन मुख्य गुण होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये

काव्य के (आत्मा) रस के अचल धर्म हैं अर्थात् काव्य में इनकी सत्ता अनिवार्य है। गुणों का सम्बन्ध रस से है और गौण रूप से अर्थ तथा शब्द के साथ भी है। जिन शब्दों तथा अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है उनमें गुण की स्थिति अनिवार्य होती है। मम्मट का यही कथन है।

इसके ऊपर विश्वनाथ कविराज की यह आपत्ति है कि गुणों के रहने से काव्य की उपादेयता बढ़ती है और न रहने से उपादेयता घटती है। अतः गुण का सम्बन्ध काव्य के रूप से नहीं है। 'यह विद्वान् मनुष्य है'—यहाँ मनुष्य में विद्वत्ता गुण वर्णित है। फलतः गुणों के होने से इस मनुष्य का आदर तथा सत्कार होता है। वह समाज में पूजा जाता है और विद्वत्ता से हीन होने के कारण वह मूर्ख माना जाता है तथा समाज में अपमान का भाजन बनता है। अतः 'विद्वत्ता' की स्थिति मनुष्य में मनुष्यत्व के लिए आवश्यक नहीं होती, बल्कि उसके आदर-सत्कार में केवल सहायक बनती है। अतः 'सगुणौ' पद को लक्षण के भीतर रखना ठीक नहीं। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि यह काव्य का लक्षण कोई वैज्ञानिक लक्षण नहीं है जिसमें ज्यादा मीनमेष किया जाय। यह तो काव्य का सामान्य विवरण है और ऐसे स्थल में गुण की सम्पत्ति काव्य के लिए आवश्यक होती है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लव-कुश के द्वारा रामायण का गायन सुन कर वाल्मीकि का कथन है—

> अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
> चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्॥
>
> (बालकाण्ड, ४।१७)

अहो, इस गायन में, विशेषकर श्लोकों में, कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल में होनेवाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है। इस पद्य में माधुर्य गुण तथा भाविक अलंकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। महाभारत में भी व्यास जी ने श्रव्यत्व, श्रुतिसुखत्व, समता तथा माधुर्य को काव्यरचना के लिए आवश्यक गुण माना है। 'श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम्'—यह काव्य का व्यासजी के द्वारा निर्दिष्ट लक्षण है। इनकी समीक्षा से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि काव्य में गुणों का निवास बहुत ही आवश्यक होता है।

(ग) अलंकार की निवार्यता—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वदा अलंकार से युक्त होना चाहिए, परन्तु स्थितिविशेष में वह निवार्य भी हो सकता है। अलंकार की अनिवार्यता मम्मट नहीं मानते। वह स्थिति-विशेष कौन-सी है? रस की दशा।

काव्य में रस की स्थिति होने पर अलंकार की स्थिति आवश्यक नहीं होती। काव्य में चमत्कार होना ही चाहिए। यह दो प्रकार से हो सकता है—अलंकार के द्वारा अथवा रस के द्वारा। अतः रस के द्वारा चमत्कार उत्पन्न होने पर अलंकार की आवश्यकता काव्य में नहीं होती। इस प्रकार मम्मट की दृष्टि में अलंकार की अपेक्षा गुण की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। काव्य में अलंकार से विहीन शब्दार्थ हो सकते हैं, परन्तु शब्दार्थ गुण-विहीन नहीं हो सकते।

एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझना चाहिए। संस्कृत का एक कवि अपनी दशा का वर्णन यों कर रहा है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेष-भीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित् - सागर - भूधराः॥

किसी सुन्दरी के विरह वियोग से सन्तप्त नायक अपनी पूर्वावस्था के साथ वर्तमान हीन दशा की तुलना कर रहा है :—मैंने विलगता के डर से सुन्दरी के कण्ठ में हार नहीं पहनाया; क्योंकि हम दोनों के बीच में हार के आने के आश्लेष—आलिंगन ठीक ढंग से नहीं जमता। यह तो हुई संयोग की सुहावनी कल्पना। परन्तु आज! आज तो उसके और हमारे बीच में नदियाँ, समुद्र तथा पहाड़ आकर खड़े हो गये हैं। घनानन्द के शब्दों में नायक कहना चाहता है—

तब हार पहार से लागत हे
अब बीच में आनि पहार अड़े॥

इस पद्य में अलंकार का चमत्कार बिल्कुल ही नहीं है। यदि कुछ है, तो केवल 'हारो नारो' में यमक की एक फीकी झलक है। इस पद्य का प्रधान चमत्कार है विप्रलम्भ शृंगार के कारण। ऐसी दशा में यहाँ रस की ही मुख्य स्थिति है। फलतः अलंकार से हीन होने पर भी यहाँ चमत्कार है और भरपूर चमत्कार है। ऐसी ही स्थिति को लक्ष्य कर मम्मट ने काव्य में अलंकार को अनिवार्य नहीं माना है।

इस प्रकार मम्मट का यह काव्यलक्षण काव्य का **वर्णनात्मक लक्षण** कहा जा सकता है क्योंकि इसमें काव्य के अंगों की विलक्षणता का वर्णन है। यह आदर्श काव्य का संकेत करता है। इस तरह काव्य में ऐसे शब्द-अर्थ होने चाहिए जिसमें दोष का परिहार हो और गुणों की सम्पत्ति रहे। अलंकार भी अनिवार्य नहीं होता। साधारण रीति से अलंकार भी वर्तमान रहता है, परन्तु अलंकार से रहित होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

अन्तरंग लक्षण

अब काव्य के अन्तरंग लक्षण पर विचार किया जाता है। विश्वनाथ कविराज ने काव्य का एक बहुत प्रख्यात लक्षण दिया है—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। वह वाक्य जिसकी आत्मा रस है काव्य कहलाता है अर्थात् अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करनेवाले वाक्य को काव्य की संज्ञा प्रदान की जाती है। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस से सम्पन्न जो वाक्य होता है वह काव्य है। यहाँ 'रस' शब्द विस्तृत अर्थ में समझा जाता है। अर्थात्, भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि रस की समीपवर्ती भावनाएँ भी यहाँ रस के अन्तर्गत समझी जाती हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ को यह लक्षण संकीर्ण प्रतीत होता है। उनका कथन है कि यदि इस लक्षण को ही हम आग्रहपूर्वक काव्य का स्वरूपाधायक मानेंगे, तो बड़े-बड़े महाकवि भी अपने काव्य के लिए व्याकुल हो उठेंगे '(महाकवीनामाकुलीभाव-प्रसंगात्)। अर्थात् महाकवियों के काव्यों में भी काव्यत्व नहीं रहेगा। क्यों? महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में समुद्र, नदी, पर्वत आदि का वर्णन प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में कहीं भी रस का साक्षात् संबंध नहीं रहता। फलतः उन्हें अकाव्य कहना पड़ेगा। इसलिए रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना काव्य के क्षेत्र को संकुचित करना है। संस्कृत के अलंकार-प्रधान काव्यों में या पद्यों में रस की सत्ता नहीं रहती तो क्या ऐसे पद्यों में हम काव्यत्व नहीं मानें? इसलिए रस के ही लिए काव्य में आग्रह दिखलाना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। अतः पण्डितराज ने अपने काव्यलक्षण में न रस की ओर संकेत किया है, न गुण की ओर। वस्तुतः उन्होंने अर्थ की रमणीयता पर ही सबसे अधिक बल दिया है। उनका प्रख्यात काव्य-लक्षण है—

रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य के शब्द तथा अर्थ शरीर होते हैं। काव्य में शब्दों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमें चित्त रमण करे, आनन्द उठावे। 'रमणीयता' का ही पर्यायवाची शब्द है—चमत्कार। काव्य का अर्थ चमत्कारी अवश्य होना चाहिए। यहाँ 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में न करके व्यापक अर्थ में करना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक आनन्द का संचार करती है, वह 'काव्य' कहलाती है।

काव्य की वस्तु

कवि संसार की वस्तुओं के साथ अपना तादात्म्य या एकता स्थापित करता है,

उनमें रमता है और अपनी प्रतिभा के बल पर उन्हीं भावों का काव्य में इस सुन्दर ढंग से वर्णन करता है कि वे भाव श्रोता या पाठकों के हृदय पर भी उसी प्रकार से खिच जाते हैं; अर्थात् पाठक भी उन्हीं भावों का अनुभव करता है जिनमें कवि की आत्मा रमती थी। कवि की सवसे बड़ी सफलता का बीज यह है कि वह अपनी अनुभूतियों को पाठकों के हृदय तक उसी रूप में पहुँचा देता है जिससे पाठक भी उस भाव या रस से पूर्णतः सिक्त या आनन्दित हो उठे। इस प्रकार जगत् तथा प्रकृति के रूपों तथा व्यापारों के साथ कवि का वड़ा घनिष्ठ सम्वन्ध होता है। जगत् की ऐसी कोई भी वस्तु—बुरी या अच्छी, सुन्दर या कुरूप—नहीं होती जो रस का अंग बनकर आनन्द उत्पन्न न करे। धनञ्जय की यह उक्ति इस विषय की पर्याप्त बोधिका है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम्
उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावक-भावनीयं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके॥

(दशरूपक, ४।८५)

अर्थात् संसार में रमणीय या निन्दित, उदार या नीच, उग्र या प्रसन्न, विकट या विकृत ऐसी वस्तु या अवस्तु नहीं होती जो कवि की भावना के सहारे रस रूप को प्राप्त नहीं करती। यह कथन विल्कुल यथार्थ है।

श्मशान में हड्डियों का ढेर पड़ा हुआ है। मृतक शरीर में कीड़े-मकोड़े लगकर उसे दुर्गन्धयुक्त बना रहे हैं, सब चीजें सड़ी-गली वनी हैं। ऐसी विकृत-विचार-युक्त वस्तु जगत् में दूसरी नहीं हो सकती, परन्तु यही काव्य में वर्णित होने पर बीभत्स रस को उत्पन्न करती है। रमणीय वस्तु की तो कथा ही न्यारी है। कवि की प्रतिभा अवस्तु—केवल काल्पनिक या असिद्ध-वस्तु को भी रमणीय रूप देकर आनन्द का विषय बनाती है। सचमुच कवि का संसार बड़ा ही विशाल है—अहो भारो महान् कवेः।

किस प्रकार कल्पित वस्तु या असत्य वस्तु का उपयोग सुन्दर काव्य को जन्म देता है, इसका भव्य उदाहरण श्रीहर्ष के नैषध काव्य में मिलता है। किसी राजा की स्तुति में कवि कह रहा है—

अस्य क्षोणिपतेः परार्ध्यपरया लक्षीकृताः संख्यया,
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाण-तिमिर-प्रख्याः किलाकीर्तयः।

गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरात्,
मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ॥
(नैषधचरित, १२।१०६)

श्लोक का आशय है कि इस राजा की अकीर्ति परार्ध्य से ऊपरवाली संख्या से गिनी जाती है तथा अन्धों के द्वारा देखे गये अन्धकार के समान काले रंग की है। ऐसी उस अकीर्ति को गा रहा है जो गूँगों का समुदाय बाँझ स्त्रियों के पेट से उत्पन्न हुआ है तथा जो कछुए की स्त्री के दूधवाले समुद्र के किनारे पर बैठा हुआ है और अष्टम स्वर में उसे गा रहा है। इस सुन्दर पद्य में अनेक अवस्तुओं का उपयोग राजा की स्तुति के अवसर पर किया गया है। परार्ध्य से ऊपर की संख्या, अन्धों के द्वारा दर्शन, अष्टम स्वर, बाँझिन का पुत्र, गूँगों का गायन, कछुए की स्त्री का दूध और उससे उत्पन्न दूध का समुद्र—ये समस्त वस्तुएँ कवि की कमनीय कल्पना से प्रसूत हैं। ये सब वस्तुएँ भौतिक जगत् में विद्यमान नहीं हैं, कवि ने केवल अपनी कल्पना के द्वारा ही इन्हें उत्पन्न किया है, परन्तु इन सबके उपयोग करने से यहाँ एक भव्य काव्य का उदय हुआ है। पदसमूह तब काव्य बनता है जब उसमें 'योग्यता' होती है और पदों के लिए आवश्यक होता है पदों का परस्पर उचित सम्बन्ध। यहाँ योग्यता का सर्वथा अभाव है, तथापि यह काव्य है और सुन्दर काव्य है। इसलिए विश्वनाथ कविराज का काव्यलक्षण कि रसात्मक वाक्य काव्य होता है, प्रमाणहीन तथा निराधार लक्षण है। 'वाक्य से काव्य बनता है' यह कथन यहाँ ठीक नहीं है। इस श्लोक को हम वाक्य ही नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ परस्पर असम्बद्ध वस्तुओं का वर्णन है जिनकी असत्ता होने के कारण यह उचित वाक्य ही नहीं बन सकता। ध्यान देने की बात यही है कि कवि के लिए कोई भी चीज अनुपयोगी नहीं होती। वह जिस किसी भी वस्तु का उपयोग कर अपने काव्य को सुन्दर तथा शोभन बना सकता है।

विभाव-निर्माण

काव्यगत वस्तु विभाव के रूप में परिणत होकर ही रस के उन्मीलन में कृतकार्य होती है। रसोन्मेष में सफल होना ही काव्य वस्तु का वस्तुत्व है। इसके लिए कतिपय नियमों का पालन कवि के लिए नितान्त आवश्यक है। इतिवृत्त दो प्रकार के होते हैं। पहिला प्रकार है ऐतिहासिक तथा पौराणिक वृत्त जिसे ख्यातवृत्त कहते हैं। दूसरे प्रकार का नाम है काल्पनिक वृत्त या उपाद्य वृत्त। कवि अपने काव्य की वस्तु रचना के लिए उभय प्रकार के कथानकों से सामग्री एकत्र करता है तथा उन्हें संश्लिष्ट बनाकर कविता की रचना करता है।

कवि स्वतन्त्र होता है परन्तु उसकी स्वच्छन्दता के नियमन का प्रधान साधन है औचित्य-बोध। उचित वस्तु ही काव्य में निबद्ध की जा सकती है, अनुचित नहीं क्योंकि औचित्य का रसोन्मीलन के साथ बड़ा ही गहरा संबंध है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'।

रस से सिद्ध काव्य का प्राण औचित्य ही है। बिना औचित्य के काव्य में रस की धारा नहीं बहती। इसीलिए काव्य वस्तु में औचित्य के ऊपर भरत, लोल्लट, तथा आनन्दवर्धन आदि आचार्यों का समान रूप से आग्रह है। लोल्लट का तो इस विषय में स्पष्ट कथन है कि रसवत् वस्तु को ही काव्य में स्थान देना उचित होता है, नीरस वस्तु को नहीं[1]। इस विषय में आनन्दवर्धन का विवेचन विशेष विस्तृत एवं मार्मिक है। वस्तु का उसी रूप में वर्णन करना चाहिए जिससे दर्शक तथा पाठकों के चित्त में प्रतीति खण्डित न हो, काव्य में बाह्यवस्तु का सत्यरूप से उपन्यास होने पर ही सामाजिक को उससे साक्षात् रसबोध होता है। यदि असत्य रूप से उसका वर्णन किया जाता है तो अभीष्ट फल की प्राप्ति कदापि नहीं होती। यदि कवि किसी असंभव वस्तु का वर्णन करता है तब पाठकों का विश्वास उससे उठ जाता है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने औचित्य को काव्य शास्त्र का उपनिषद् अर्थात् रहस्य बतलाया है।

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्यकारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

(ध्वन्यालोक, पृ० १४५)

आनन्दवर्धन ने जोर देकर कहा है कि कवि को विशेषरूप से विभावादि के अनौचित्य के परिहार करने में यत्नवान् होना चाहिए। बिना इस औचित्य की रक्षा के रस की उत्पत्ति होना कठिन है। वृत्त कथा की अपेक्षा उत्पाद्य कथा के सम्बन्ध में उसे और भी अधिक सावधान होने की आवश्यकता है।

कथाशरीरमुत्पाद्य, वस्तु कार्यं यथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत् प्रतिभासते॥

(ध्वन्यालोक, पृ० १४७

---

१. किन्तु रसवत एवं निबन्धो युक्तः। न तु नीरसस्य इति अपराजिति (भट्ट लोल्लटः)। (का० मी० पृ० ४५)

भारतीय आलोचकों के समान पाश्चात्य लेखक भी काव्य में औचित्य के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनके यहाँ भी औचित्य कला का नितान्त स्पृहणीय सिद्धान्त है। अरस्तू ने लिखा है कि काव्य में कवि के लिए यह उचित है कि वह असंभव घटनीय वस्तु की अपेक्षा सुसंभव अघटनीय वस्तु का ही वर्णन करे[1]। उनका कथन है कि घटना के भीतर ऐसी कोई वस्तु नहीं होनी चाहिए जो युक्ति या प्रतीति से अगोचर हो[2]। इससे यह स्पष्ट है कि उनका आग्रह औचित्य से युक्त घटना के ही ऊपर है।

काव्य-सत्य

कवि की प्रतिभा शक्ति के द्वारा निर्मित काव्य में कितना सत्य होता है? कवि के द्वारा वर्णित घटनाओं में सत्य रहता है अथवा वहाँ बिल्कुल झूठ का ही राज्य होता है? इन प्रश्नों ने प्राचीन काल से भारत तथा यूरोप में आलोचकों की दृष्टि को आकर्षित कर रखा है। प्लेटो स्वयं प्रतिभा-सम्पन्न लेखक तथा तत्त्वज्ञानी थे परन्तु इसी सत्य के अभाव के कारण उन्होंने अपने आदर्श राज्य से कविजनों का पूर्ण वहिष्कार कर दिया था। इनके अनुसार कवियों को झूठ के प्रचारक होने के नाते किसी आदर्श राज्य में स्थान नहीं मिलना चाहिए।

भारतवर्ष में भी कभी ऐसा ही मत प्रचलित था, जिसकी प्रतिध्वनि 'काव्यालायांश्च वर्जयेत्' आदि स्मृति वाक्यों में आज भी उपलब्ध होती है। अतः काव्यगत सत्य की तर्क दृष्टि से गहरी छान-बीन बहुत जरूरी है। ऐतिहासिक वृत्त का आश्रय लेकर जो काव्य निर्मित होते हैं उनमें तथा विशुद्ध इतिहास में क्या अन्तर है?—इस प्रश्न की विशद मीमांसा आनन्दवर्धन ने बड़ी मार्मिकता के साथ की है। उनका कहना है कि काव्य-प्रबन्ध की रचना करते समय कविको सब प्रकार से रस-परतन्त्र होना चाहिए। इस विषय में यदि इतिवृत्त में रस की अनुकूल स्थिति नहीं दीख पड़े, तो उसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूप से रसानुकूल अन्य कथा की कल्पना करनी चाहिए; क्योंकि कवि को इतिवृत्त के सम्पादन से कुछ भी लाभ नहीं होता, उसकी सिद्धि तो इतिहास से ही हो जाती है।

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि कवि और ऐतिहासिक का क्षेत्र पृथक्-

---

1. The poet should prefer probabale in possibilities to improbable possibilities (पोइटिक्स २४।९०)।

2. Within the action there most be nothing irrational. (वही, १५/७)।

पृथक् है। कवि का परम उद्देश्य है किसी वस्तु में रसात्मकता लाना। यदि रसोन्मेष के लिए उसे किसी ऐतिहासिक तथ्य को तोड़ना मोड़ना भी पड़े तो वह ऐसा कर सकता है, परन्तु ऐतिहासिक का कर्तव्य है विशुद्ध घटनाओं का यथातथ वर्णन। यदि वह उसमें कुछ घटाता बढ़ाता है तो वह अपने ऊँचे आदर्श से गिर जाता है। इसलिए कवि की रचना में ऐतिहासिक तथ्य यथार्थ रूप से पाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। लोक में इतिहास की आराधना की जाती है तथ्य पाने के लिए और काव्य की उपासना की जाती है रस पाने के लिए। अतएव कवि का सत्य ऐतिहासिक के सत्य से भिन्न होता है।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू ने लिखा है कि कवि तथा ऐतिहासिक का भेद केवल पद्य या गद्य में लिखने से ही नहीं है। उनमें मुख्य अन्तर यह है कि इतिहास कहता है कि क्या हुआ है और काव्य कहता है कि क्या हो सकता है। काव्य इस प्रकार इतिहास की अपेक्षा विशिष्ट विचारशील तथा उन्नततर वस्तु है।

अरस्तू तथा आनन्दवर्धन के द्वारा निर्दिष्ट पार्थक्य प्रायः एक समान ही है। दोनों की दृष्टियों में कतिपय भेद दीख पड़ता है। अरस्तू ने सार्वजनीन तथा विशेष का निर्देश कर विभाव तथा वस्तु के पार्थक्य की ओर दृष्टिपात किया है; उधर आनन्दवर्धन ने रचना के औचित्य तथा रसानुकूलता पर दृष्टिपात कर विभाव की नियामक शक्ति को प्रतिष्ठित किया है।

काव्य का आनन्द

काव्य 'लोकोत्तर' आनन्द उत्पन्न करता है। जगत् के पदार्थों से जो सुख मिलता है, वह सीमित होने के कारण से लौकिक होता है, वह खण्डित रहता है, अस्थायी होता है; परन्तु काव्य के द्वारा उत्पन्न आनन्द विलक्षण होता है। वह असीमित होता है—उसकी सीमा या इयत्ता नहीं हाती। लोक में मनुष्य अपने ही सुखों से या आत्मीय जनों के सुखों से सुखी और दुःखों से दुःखी होता है। ऐसे उदात्त मानव बहुत ही कम हाते हैं जो दूसरों के सुख से सुखी या दुःख से दुःखी हों। परन्तु काव्य या नाटक से उत्पन्न आनन्द विलक्षण होता है। काव्य का पाठक और नाटक का दर्शक दूसरों के सुखों से अत्यधिक सुखी होता है। दूसरों के दुःखों से वह नितान्त दुःखी होता है। यह सब करामात कवि की वर्णन करनेवाली शक्ति की है। वह जादूगर के जादू के समान है जो सिर पर चढ़कर नाचता है। काव्य में वर्णित होने पर विषयों में हृदय को आकर्षण करने की जो विचित्र शक्ति उत्पन्न हो जाती है वह सार्वभौम होती है। वह किसी सहृदय को अछूता नहीं छोड़ती। उसके सामने

सब प्रभावित हो जाते हैं। आजकल वसुधैव कुटुम्बकम्—'संसार ही मेरा कुटुंब है'—का पाठ पढ़ाया जाता है कि संसार एक है और सब हमारे भाई हैं, परंतु इस बात की सच्ची शिक्षा हमें काव्य से मिलती है। काव्य के आनन्द में कोई भेद-भाव नहीं, कोई अलगाव-बिलगाव नहीं। सब लोग उसका एक ही प्रकार से, समभाव से, आनन्द उठाते हैं। काव्य का यह विजयघोष है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
रसभाव-प्रसक्तानां वसुधैव कुटुम्बकम्॥

काव्य-भेद

काव्य के तीन मुख्य भेद होते हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) अधम। काव्य में मुख्य अर्थ व्यंग्यार्थ होता है। उसकी प्रधानता होने पर उत्तम काव्य होता है। जहाँ व्यंग्य अर्थ तो है परन्तु गौण रूप में ही; वहाँ मध्यम काव्य होता है और जहाँ व्यंग्य अर्थ नही होता वहाँ अधम काव्य होता है। अतः काव्य में उत्तमता की कसौटी व्यंग्यार्थ ही होता है। इन्हीं तीनों प्रकारों का दूसरा नाम है—(१) ध्वनि, (२) गुणीभूत-व्यंग्य तथा (३) चित्र काव्य। इनका उदाहरण तथा लक्षण नीचे दिया जाता है।

ध्वनि काव्य

जहाँ वाच्य से व्यंग्य अर्थ में अधिक चमत्कार होता है, उसे 'ध्वनि' कहते हैं।

या ही अपमान मेरे शत्रु जो लखाई देत
तिनहूँ में तापस यौं लंक ही में आनो है।
करत बिधंस बंस बीर जातुधानन कौं
देखौं हौं जिअत धिक रावन कहानो है।
इन्द्र कौ जितैया कौ सहस्र फिटकार
और व्यर्थ ही दिखात कुम्भकर्ण को जगानो है।
नेक ही सों नाक पुरवा को लूटि फूलि गए,
बीस इन विफल भुजान को बखानो है॥

हनुमन्नाटक में रावण की गर्वोक्ति के प्रतिपादक एक प्रख्यात पद्य का यह हिन्दी अनुवाद है। रावण कह रहा है कि यही मेरा अनादर है जो मेरे भी शत्रु दिखाई देते हैं। तिनमें यह है तापस और वह लंका में आया है तथा राक्षसों के वीर वंशों को नाश करता है और रावण जीता उसे देख रहा है। इन्द्र के जीतनेवाले मेघनाद

को हजारों फटकार है। कुम्भकर्ण का जगाना व्यर्थ है। स्वर्गरूपी पुरवा (छोटा गाँव) को जीतकर फूलनेवाले इन हमारे बीसों भुजाओं को बारम्बार धिक्कार है।

इस पद्य में व्यंग्यार्थ का एक सुन्दर व्यूह ही वर्तमान है। 'मेरे' पद से सूचित होता है कि मेरे सामने इन्द्र और यम भय से थरथराते रहते हैं। उसके भी शत्रु हों, यह नितान्त अनादर का सूचक है। 'शत्रु' में बहुवचन विशेष महत्व का है। वह शत्रु यदि कोई वीर पुरुष होता, तो कोई बात भी होती। वह तो तपस्या में रत तपस्वी है और वह भी लंका में ही वर्तमान है, खास मेरी राजधानी में ही। वह भी एक राक्षस को नहीं, प्रत्युत राक्षसों के वंश को मार रहा है। और आश्चर्य है यह रावण जी रहा है। 'रावण' का अर्थ है संसार को रुलानेवाला। इतना अपमान होने पर तो रावण को मर जाना चाहिए, परन्तु वह जी रहा है। यह अनौचित्य की पराकाष्ठा को सूचित करता है। इसी प्रकार मेघनाद को इन्द्रजीत कहने से उसकी अपराजेयता ध्वनित होती है अर्थात् वह सर्वथा अजेय है। अन्तिम चरण में स्वर्ग एक छोटा पुरवा या टोला कहा गया है जिससे यह सूचित होता है कि उसका जीतना मेरे लिए अत्यन्त सरल काम था, परन्तु उतने से ही मेरी बीसों भुजाएँ गर्व से फूल गयी हैं जो अनौचित्य तथा अनादर का सूचक है। इस प्रकार इस सुन्दर पद्य में उत्साह स्थायी-भाव तथा वीररस की ध्वनि है।

गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ व्यंग्य अर्थ प्रधान न होकर गौण हो जाय, वहाँ 'गुणीभूत व्यंग्य' होता है। अर्थात् पद्य में व्यंग्य अर्थ की सत्ता तो अवश्य है, परन्तु वाच्य अर्थ व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है। ऐसी दशा में मध्यम कोटि का काव्य होता है। ध्वनि काव्य से इसका अन्तर स्पष्ट है। ध्वनि काव्य में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता तथा रुचिरत्ता रहती है, परन्तु गुणीभूत व्यंग्य में वाच्य अर्थ का चमत्कार ध्वनि की अपेक्षा गौण कहीं अधिक होता है और इसलिये यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा गौण या अप्रधान रहता है।

उदाहरण

बैठी गुरुजन बीच में, सुनि मुरली की तान।
मुरझति अति अकुलाय उर, परे साँकरे प्रान॥

राधा गुरुजन के बीच बैठी हुई है। उसी समय श्रीकृष्ण की मुरली बजती है। उसकी तान सुनकर वह हृदय में अत्यन्त व्याकुल होकर मुरझा जाती है। प्राण संकट में पड़ जाते हैं। यह वाच्यार्थ है। मुरली के द्वारा संकेत पाने पर भी राधा कृष्ण से

मिलने के लिये जाने में असमर्थ है। यह व्यंग्य अर्थ है। यह वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार है। क्यों? तान सुनकर भी मिलने के लिए न जाना अनेक कारणों से हो सकता है। सम्भव है कि राधा के हृदय में कृष्ण के लिए अब तनिक भी प्रेम नहीं है और इसलिए वह नहीं जा रही है। अतः व्यंग्यार्थ के मूल में स्नेह का अभाव भी कारण हो सकता है, परन्तु ऐसी दुविधा वाच्य अर्थ में नहीं है। 'हृदय मसोस कर मुरझाना' तो स्पष्ट ही गाढ़ अनुराग का सूचक है। इसलिए यहाँ वाच्यार्थ में विशेष चमत्कार है। व्यंग्यार्थ है अवश्य, परन्तु उसमें दम नहीं, चमत्कार नहीं; वह तो फीके रूप से झाँक रहा है।

चित्र काव्य

वह काव्य जिसमें व्यंग्य अर्थ का अभाव हो तथा वाच्य अर्थ की ही केवल मात्र सत्ता हो वह अवर या अधम काव्य कहलाता है। इसी को 'चित्र काव्य' कहते हैं। इसमें अलंकार की प्रधानता रहती है—शब्दालंकार के प्राधान्य होने पर होता है शब्दचित्र और अर्थालंकार की प्रधानता होने पर होता है अर्थचित्र। इस काव्य में कवि का लक्ष्य केवल शब्द या अर्थ को ही सुशोभित करने की या सजाने की ओर रहता है और इसलिए वह अन्य काव्यांगों के लिए उद्योगशील नहीं होता। दोनों का उदाहरण देखिए—

शब्दचित्र

कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
　　क्यारिन में कलित कलीन विकसंत हैं।
कहै 'पदमाकर' परागहूँ में पौन हूँ में
　　पातन में पीकन पलासन पगंत हैं।
द्वार में दिशान में दुनी में देश-देशन में
　　देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत हैं।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
　　बननमें बागन में बगरचो बसंत है।

यहाँ क, प, द आदि अक्षरों की आवृत्ति होने से यह 'वृत्यनुप्रास' शब्दालंकार है। कवि का ध्यान इस शाब्दी सुषमा की ओर ही है। अतएव यह शब्दचित्र कहलावेगा। संस्कृत कवियों ने ऐसे ही श्लोकों की रचना की है जिनमें एक अक्षर के अतिरिक्त दूसरा अक्षर ही नहीं। किसी प्राचीन 'पाजक पण्डित' की यह पकारबहुला सूक्ति पढ़िये जिसमें प्रत्येक शब्द पकार से ही आरम्भ होता है। शाब्दी चमत्कृति का यह भव्य आदर्श है—

पूजा-पद्म-परम्परा-पुलकितौ पार्ष्ण्योः परं पेलवौ;
पुण्यौ पातकि-पाप-पाटन-पटू पृथ्वीं प्रपन्नौ प्रथाम्।
प्रायः पर्वत-पुत्रिका-पृथु-पटैः पस्त्ये पुरा पूरितौ;
पादौ पण्डित पाजकः पशुपतेः प्रीत्या पुरः पश्यतु॥

इस घटाटोप का इतना ही अर्थ है कि पाजक पण्डित पशुपति के चरणों को प्रीति से अपने सामने अवलोकन करें। यह चतुर्थ चरण का अर्थ है। पहिले तीन पादों में चरणों के विशेषणों का व्यूह खड़ा किया गया हैं। इस पद्य में प्रत्येक शब्द पकार से आरम्भ होता है।

अर्थचित्र

आनन है, अरविन्द न फूले, अलीगन भूले कहा मड़रात हौ,
कीर तुम्हें कहा बाई लगी, भ्रम बिम्ब के ओठन को ललचात हौ।
'दास जू' व्याली न बेनी बनाव है, पापी कलापी कहा इतरात हौ,
बोलती बाल, न बाजती बीन, कहा सिगरे मिलि घेरत जात हौ॥

कवि किसी सुन्दरी के वर्णन-प्रसंग में कह रहा है कि यह मुख है, खिला हुआ कमल नहीं है। तब तुम भौंरे भूलकर क्यों इस मुख पर मड़रा रहे हो ? ऐ सुग्गे, तुम्हें क्या वाई लगी है जो बिम्बफल के भ्रम से इन होठों के लिए लपक रहे हो ? ऐ पापी मोर, यह गूही बेनी है, काली नागिन नहीं है कि उसे खाने के लिए इतने उतावले बन रहे हो। यह सुन्दर बाला बोल रही है, वीणा नहीं बज रही है। तो भ्रम में आकर सब लोग इसे क्यों घेर रहे हो ? इस सुन्दर सवैये में अपह्नुति का चमत्कार है जिसमें भ्रान्ति होने से और भी अधिक चमत्कार उत्पन्न हो गया है। 'भ्रान्ता-पह्नुति' को सजाने में ही कवि की प्रतिभा खर्च हुई है इस पद्य में। अतः इसे 'अर्थचित्र' नाम से पुकारते हैं।

काव्य और साहित्य

काव्य तथा साहित्य एक प्रकार से समानार्थक शब्द हैं, परन्तु दोनों से दो विभिन्न अभिप्रायों का प्रकाशन होता है। 'काव्य' का अर्थ है कवेः कर्म, कवि का कर्म। कवि वही होता है जो किसी वस्तु के वर्णन में निपुण होता है। वर्णना में निपुण ऐसे कवि का कर्म (या रचना) 'काव्य' कहलाता है। उधर 'साहित्य' की व्युत्पत्ति 'सहित' शब्द से भाववाचक 'य' (ष्यञ्) प्रत्यय के योग से निष्पन्न होती है। सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्। एक साथ सम्मिलित शब्द तथा अर्थ का भाव 'साहित्य' कहलाता है। यह पद द्योतित करता है कि कवि की रचना शब्द तथा अर्थ

के परस्पर समन्वय या सामञ्जस्य का परिणत फल होती है। अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने की शक्ति किसी विशिष्ट शब्द में ही होती है। कोई ही शब्द अभीष्ट अर्थ को प्रकट नहीं कर सकता। शब्दार्थ के साहित्य का तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ परस्पर स्पर्धा कर रमणीय होते हैं अर्थात् न शब्द अर्थ से घटकर है, और न अर्थ शब्द से न्यून। न कोई न्यून है और न कोई अतिरिक्त है अर्थात् न कोई घटकर है और न बढ़कर है, बल्कि दोनों सन्तुलित हैं। कुन्तक के शब्दों में शब्द और अर्थ का यह संतुलन 'परस्पर-स्पर्धी' कहलावेगा। जिस प्रकार दो मित्र आपस में स्पर्धा करके या होड़ रचकर उन्नति के शिखर पर पहुँच जाते हैं और आपस के सहयोग के एक आदर्श व्यक्तित्व की रचना करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी स्पर्धा कर सौन्दर्यशाली बनते हैं और आपस में मिलकर एक आदर्श वस्तु की रचना करते हैं जो 'काव्य' कहलाता है। इसका आशय यही है कि 'साहित्य' (काव्य) में शब्द तथा अर्थ का पूर्ण सौहार्द होना चाहिए—दोनों ही सुन्दर तथा भव्य होने चाहिए। यही साहित्य की मनोरम कल्पना है।

'साहित्य' का ऐतिहासिक विकास

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'—भामह।

'साहित्य' शब्द का प्रयोग आजकल दो अर्थों में किया जा रहा है, जिनमें एक अर्थ है व्यापक और दूसरा अर्थ है संकीर्ण। व्यापक अर्थ में साहित्य का प्रयोग उन समस्त रचनाओं के लिए किया जाता है जो किसी विशेष भाषा में लिखी गयी होती हैं; जैसे हिन्दी साहित्य और संस्कृत साहित्य आदि। काव्य, नाटक, इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि विषयक समग्र ग्रन्थों का सामूहिक नाम है 'साहित्य'। इस अर्थ में यह 'वाङमय' शब्द का प्रतिनिधि है और अंग्रेजी भाषा के 'लिटरेचर' शब्द का पर्यायवाची है। आजकल हिन्दी में इस अर्थ में इस शब्द का प्रचुर प्रचार हम पाते हैं। संस्कृत में भी 'साहित्य' का इस व्यापक अर्थ में प्रयोग हम सर्वप्रथम भोजराज के अलंकार ग्रंथों में पाते हैं। अतः इस अर्थ में यह शब्द लगभग एक हजार वर्ष से प्रयुक्त होता चला आ रहा है। संकीर्ण अर्थ में 'साहित्य' का प्रयोग कवि निर्मित कृतियों के लिए किया जाता है। इस प्रकार यह 'काव्य' का पर्यायवाची है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'काव्य' शब्द प्राचीन है और 'साहित्य' शब्द मध्य-युग का है। 'साहित्य' शब्द का यह संकीर्ण अर्थ इसके व्यापक अर्थ की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, क्योंकि भोजराज से एक शताब्दी पूर्व राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में इसका प्रयोग काव्य के लिए किया है। अलंकार शास्त्र

के मध्ययुग में 'कविवाङनिर्मिति' (कवियों की रचनाओं) के लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है। परन्तु पिछले युग में इन शब्दों के अर्थ में विशेष परिवर्तन लक्षित होता है। दृश्य तथा श्रव्य रूप से द्विविध सत्ता रखने वाला काव्य दृश्य के क्षेत्र से हटकर केवल श्रव्य कविता के रूप में ही संकुचित हो गया है तथा काव्य के पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द ने अपना क्षेत्र विस्तृत कर समस्त वाङमय को व्याप्त कर लिया है। इस प्रकार 'काव्य' शब्द का अर्थ 'संकोच' हो गया है परन्तु 'साहित्य' शब्द का 'अर्थ-विस्तार' हो गया है।

अलंकार शास्त्र के आद्य आचार्य भामह के ग्रन्थ में 'साहित्य 'शब्द विद्यमान तो नहीं है, परन्तु इसकी कल्पना अवश्यमेव विद्यमान है। भामह का काव्य लक्षण है— 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होते हैं। भामह के इस काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'सहित' शब्द से ही भाव वाचक प्रत्यय करने पर 'साहित्य' शब्द बनता है,—सहितयोः भावः साहित्यम्। भामह के अनन्तर अनेक मान्य आलोचकों ने काव्य को शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप माना है। वामन, रुद्रट, मम्मट, हेमचन्द्र तथा विद्यानाथ आदि आचार्य काव्य को शब्द और अर्थ से युक्त स्वीकार करते हैं, परन्तु इनके ग्रन्थों में 'साहित्य' शब्द नहीं पाया जाता। इस शब्द का प्रथम दर्शन राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' में होता है। अलंकार शास्त्र के इतिहास में राजशेखर ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग पहिली वार 'काव्य' के अर्थ में किया है।

पञ्चमी साहित्य विद्या इति यायावरीयः।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्दः॥

(का० मी०, पृ० ४)

साहित्य विद्या का अर्थ बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि साहित्य विद्या वह विद्या है जिसमें शब्द और अर्थ का यथार्थ रूप से सहभाव अर्थात् एकस्थिति हो।

शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य विद्या।

(का० मी०, पृ० ५)

भोज ने 'साहित्य' शब्द की यही व्याख्या अपने ग्रन्थ 'शृङ्गार प्रकाश' में की है। वे लिखते हैं—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ही दूसरा नाम 'साहित्य' है।

किं साहित्यम्? शब्दार्थयोः यः सम्बन्ध। भोज के मत में शब्द तथा अर्थ का वैशिष्ट्य जिसके कारण साधारण शब्दार्थ काव्य रूप में परिणत हो जाते हैं 'साहित्य' ही है।

कुन्तक अपनी जिन मौलिक कल्पनाओं के लिए साहित्य जगत् में प्रख्यात् हैं, उनमें से एक अत्यन्त कमनीय कल्पना है—साहित्य। 'साहित्य' शब्द के प्रकृत अर्थ के प्रथम व्याख्याता कुन्तक ही प्रतीत होते हैं। इन्होंने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

(व० जी०, १।१७)

अर्थात् शब्दार्थ युगल की एक अलौकिक विन्यासभंगी है जो न्यूनता और अतिरिक्तता से वर्जित होकर मनोहर तथा शोभित होती है। भाव यह है कि शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास 'साहित्य' है जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने घुले हुए हों कि न तो किसी में न्यूनता हो और न अधिकता हो। कुन्तक ने काव्य का जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह इसी 'साहित्य' की ही व्याख्या करता है। उनकी काव्य की परिभाषा है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाकारिणी ॥

(व० जी०, १।१८)

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि काव्य और साहित्य समानार्थक शब्द हैं, परन्तु इन दोनों पदों में दो विभिन्न अभिप्रायों का प्रकाशन किया गया है। 'काव्य' का अर्थ है कवि का कर्म अर्थात् कवि के द्वारा निर्मित वस्तु—कवेः कर्म काव्यम्। 'कवि' शब्द का अर्थ है वर्णन करने वाला। अतः उसकी रचना को काव्य कहते हैं।

'कवयीति कविः, तस्य कर्म काव्यम्'।

(विद्याधर)

सहित शब्द से भाववाचक् 'ष्यञ्ज्' प्रत्यय करने से 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति होती है। 'सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्'—अर्थात् एक साथ सम्मिलित शब्द तथा अर्थ का भाव है साहित्य। इस व्युत्पत्ति के अनुसार दोनों में कवि निर्मिति के द्विविध पक्ष का प्राधान्य लक्षित होता है। 'काव्य' शब्द कवि के अर्थात् वैयक्तिक उपादान की प्रधानता की ओर संकेत करता है। यह काव्य रचयिता के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। परन्तु 'साहित्य' शब्द कविरचना के कथाशरीर की ओर संकेत करता है। इस पद से यह प्रतीत होता है कि कवि की रचना शब्द तथा अर्थ के परस्पर समन्वय तथा सामञ्जस्य का परिणत फल है। 'काव्य' शब्द कर्तृ-पक्ष की प्रधानता बतलाता है तो 'साहित्य' पद कृति-(रचना) पक्ष की विशेषता को प्रकाशित करता है। कवि के द्वारा निर्मित सुन्दर कृति के अर्थ में दोनों ही समानार्थक हैं परन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों में यह सूक्ष्म विभेद किया जा सकता है।

——:०:——

: २ :

काव्य-रूप

६

श्रव्यकाव्य

काव्य के नाना रूपों का वर्णन संस्कृत अलंकार-शास्त्र में मिलता है। उनमें से प्रसिद्ध रूपों का ही यहाँ वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। काव्य मुख्यतया दो प्रकार का होता है—(१) श्रव्यकाव्य और (२) दृश्यकाव्य। 'श्रव्य' का अर्थ है सुनने योग्य। अतः जिस काव्य को हम कानों से सुनकर आनन्द उठाते हैं वह है श्रव्य-काव्य। इस प्रकार के काव्यों को कोई वक्ता पढ़ता है और दूसरे लोग सुनकर उसे उसका अर्थ समझते हैं तथा उससे आनन्द उठाते हैं। जैसे संस्कृत में कालिदास का महाकाव्य 'रघुवंश' तथा 'कुमारसंभव' और हिन्दी में तुलसी का 'रामचरितमानस' तथा केशवदास की 'रामचन्द्रिका'। 'दृश्य' का अर्थ है देखने योग्य। अतः 'दृश्य काव्य' उस काव्य को कहते हैं जिसका आनन्द हम देखकर ही उठा सकते हैं। ये काव्य पढ़े तथा सुने भी जा सकते हैं, परन्तु इससे उनका पूरा आनन्द नहीं उठाया जा सकता। पूरा आनन्द उठाने के लिए उनका रंगमंच के ऊपर नटों के द्वारा अभि-नय किया जाना नितान्त आवश्यक होता है। श्रव्य काव्य कानों के माध्यम से हमारे हृदय में आनन्द उत्पन्न करता है, तो दृश्य काव्य नेत्रों के माध्यम से आनन्द का बोध कराता है। फलतः इस माध्यम की भिन्नता के कारण काव्य के ये प्रसिद्ध दो रूप निष्पन्न होते हैं।

इन भेदों के भी उपभेद होते हैं। मोटे उपभेदों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। श्रव्यकाव्य के मुख्यतया तीन भेद होते हैं—(१) महाकाव्य, (२) खण्ड-काव्य तथा (३) मुक्तक। महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य उस विशिष्ट काव्य की संज्ञा है जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण घटना जैसे संग्राम आदि का वर्णन विस्तार तथा विशदता के साथ किया जाता है। खण्डकाव्य महाकाव्य की अपेक्षा मात्रा में छोटा होता है, परन्तु विषय की दृष्टि से वह स्वतः पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है। मुक्तक उस पद्य को कहते हैं जो विषय तथा रस की दृष्टि से स्वयं पूर्ण होता है। रचना की दृष्टि से काव्य के तीन और भेद होते हैं—(क) गद्य, (ख) पद्य, (ग) चम्पू। जिनमें छन्दोबद्ध रचना 'पद्य' कहलाती है, छंद से रहित रचना 'गद्य' और गद्य-पद्य की मिश्रित रचना 'चम्पू' के नाम से अभिहित होती है।

दृश्य काव्य के दो भेद होते हैं—(क) रूपक तथा (ख) उपरूपक। नाटकीय लक्षणों से पूर्ण रचना 'रूपक' कहलाती है जिसके दस भेद होते हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक तथा ईहामृग। उपरूपक में नृत्य की ही अधिकता रहती है और स्थान-स्थान पर नाटक के भी संवाद आदि तत्त्व मिले रहते हैं। इनके १८ भेद शास्त्रकारों ने बतलाये हैं जिनके नाम हैं—त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, रासक, प्रेंखण, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश, भाणिका तथा नाटिका।

महाकाव्य

महाकाव्य की सर्वप्रथम रचना महर्षि वाल्मीकि का 'रामायण' है। इसी ग्रन्थ की समीक्षा करने पर 'महाकाव्य' की कल्पना को आलंकारिकों ने प्रतिष्ठित किया। 'महाकाव्य' की महत्ता स्वरूप-जन्य नहीं है, प्रत्युत गुणजन्य है। कोई भी काव्य अपने विपुल काय के कारण महाकाव्य की पदवी से विभूषित नहीं किया जा सकता। उसके लिए कतिपय लक्षणों की स्थिति अनिवार्य होती है जिनका निर्देश सबसे पहले दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' नामक अलंकार ग्रंथ में किया है (काव्यादर्श १।१४-१९)। महाकाव्य की रचना सर्गों में की जाती है। उसमें एक ही नायक होता है जो या तो देवता होता है अथवा उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, शृङ्गार तथा शान्त—इन तीनों में से कोई एक रस अंगी (मुख्य) होता है और अन्यरस गौण रूप से ही वहाँ निबद्ध किये जाते हैं। कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है अथवा किसी सज्जन पुरुष का चरित वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार का वृत्त रचना के लिए चुना जाता है, परन्तु सर्ग के अन्त में वृत्त को बदल देने का नियम है। सर्ग का परिमाण न बड़ा होना चाहिए और न छोटा। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए तथा प्रतिसर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना भी अवश्य होनी चाहिए।

कथानक को अलंकृत तथा परिबृंहित करने के लिए नाना प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी स्थान-स्थान पर अपेक्षित होता है जैसे सन्ध्या, सूर्योदय, प्रदोष, रात्रि, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि का तथा वन, पर्वत, समुद्र तथा ऋतुओं का। बीच-बीच में श्रृंगाररस का भी परिपोष किया जाता है और इसीलिए स्त्रियो की जल-केलि का भी वर्णन अपेक्षित रहता है। वीररस के प्रसंग में लड़ाई, मन्त्रणा तथा आक्रमण आदि विषयों का भी सांगोपांग वर्णन रहता है। नायक तथा प्रतिनायक का संघर्ष महाकाव्य का मुख्य विषय होता है। अन्तिम उद्देश्य होता है धर्म तथा न्याय की विजय और अधर्म तथा अन्याय का विनाश।

दण्डी की महाकाव्य की यही कल्पना है जिसे पिछले आलंकारिकों ने कुछ शब्दभेद के साथ दुहराया है। रुद्रट तथा विश्वनाथ कविराज ने इसी को भिन्न-भिन्न शब्दों में वर्णित किया है। एक बात ध्यान देने की यह है कि ये आलंकारिक उतने ही विषयों के उपबृंहण तथा अलंकरण को उचित मानते हैं जिससे कथावस्तु का कथमपि विच्छेद न हो सके। यह बहुत ही आवश्यक वस्तु है। अलंकरण तथा सजावट का अपना तो कोई मूल्य नहीं होता; वे इसीलिए आवश्यक माने जाते हैं जिससे मूल वस्तु का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो। यदि अलंकरणों से मूल वस्तु या कथानक का विच्छेद हो जाय और पाठक इन्हीं के झमेले में पड़कर मुख्य कथानक को एकदम भूल बैठता हो, तो इससे लाभ ही क्या ?

इस लक्षण की समीक्षा करने पर महाकाव्य के आवश्यक उपकरणों का परिचय हमें प्राप्त हो सकता है। महाकाव्य के तत्त्व नीचे लिखे प्रकार से हैं :—

(क) कथानक—महाकाव्य का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होना चाहिए। भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटनाओं की कमी नहीं है, परन्तु इस कार्य के लिए वे ही चुनी जाती हैं जिनका हमारे जातीय जीवन में विशेष महत्त्व होता है तथा जिनका प्रभाव हमारे जीवन पर स्थायी रूप से होता है। क्षणिक महत्त्व की घटनायें इस कार्य के लिए कभी नहीं चुनी जातीं। संस्कृत के महाकाव्य रामायण तथा महाभारत के कथानक के ऊपर विशेष रूप से आश्रित होते हैं। कारण स्पष्ट है। रामायण और महाभारत हमारे जातीय गौरव के स्तम्भ हैं और हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के बोधक तथा प्रतिष्ठापक हैं। इसीलिए भारतवर्ष का कवि प्रत्येक युग में इन्हीं में से अपने काव्य का विषय चुनता है तथा अपने युग के अनुसार इन कथाओं का प्रदर्शन करता है। पुराणों में वर्णित घटनायें भी महाकाव्य के लिए चुनी जा सकती हैं। नीलकण्ठ कवि ने 'शिव लीलार्णव' में शिवपुराण का ही आधार लिया है तथा रत्नाकर कवि ने 'हरविजय' में भी उसी आधार पर अपने कथानक को प्रतिष्ठित किया है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य का कथानक किसी क्षुद्र या लघु घटना के आधार पर कभी नहीं निर्मित होता, न वह किसी सामान्य व्यक्ति का ही चरित्र चित्रित करता है। कथानक के चुनाव के लिए तथा वर्णन के प्रकार के लिए भी भव्यता महाकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक गुण है।

(ख) पात्र-चित्रण—वर्णित पात्रों के चरित्र को भी सुन्दरता से दिखलाना इस प्रकार के काव्य का उद्देश्य होता है। पात्रों में 'उदात्तता' का होना नितान्त आवश्यक होता है। चरित्र ऐसा होना चाहिए जिसको हम आदर्श मानकर अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अनुकरण कर सकें। यदि उसके नायक में आदर्श गुणों का अभाव हो तो वह हमारा हृदय कथमपि आकृष्ट नहीं कर सकता। नायक तथा प्रतिनायक का संघर्ष दिखलाकर कथानक का विकास दिखलाया जाता है। नायक होता है न्याय तथा धर्म

का रक्षक, जिसके कार्यों में प्रतिनायक विघ्न डालने के लिए खड़ा रहता है। फलतः प्रतिनायक को मारकर धर्म तथा न्याय का संरक्षण करना नायक का प्रधान कार्य होता है। नायक के चरित्र में इन शोभन गुणों का प्राधान्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

(ग) रस—महाकाव्य में शृंगार तथा वीर रस का प्रदर्शन कवि को अभीष्ट होता है। शौर्य-मण्डित कथानक में वीर रस का तथा शृंगारी विषयों में शृंगार रस का वर्णन नितान्त अपेक्षित होता है। अवान्तर रसों का भी वर्णन स्थान-स्थान पर आवश्यक होता है, परन्तु मुख्य रस का परिपोष ही इनका उद्देश्य होता है। मुख्य रस तथा गौण रस में कभी विरोध की भावना नहीं रहती। यदि ऐसा कभी हो, तो वह काव्य निन्दित तथा गर्हणीय माना जाता है।

(घ) प्रकृति-चित्रण—कथानक को सरसता तथा महत्ता प्रदान करने के लिए अवान्तर सामग्री से उसे मण्डित करना बहुत ही आवश्यक होता है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति के चित्रण को महाकाव्य में विशेष महत्त्व दिया है। प्रकृति के प्रति उनकी भावना विरोध की न थी। वे मानव तथा बाह्य प्रकृति को एक सुवर्णसूत्र में बाँधने के पक्षपाती थे। उचित भी यही है। प्रकृति अपना प्रभाव मानवीय स्वभाव पर बिना डाले रह नहीं सकती और मनुष्य भी प्रकृति के प्रति अपना अनुराग प्रकट किये बिना रह नहीं सकता। दोनों में न विरोध है और न भेदभाव। महाकाव्य में प्रकृति का चित्रण दोनों रूपों में मिलता है—आलम्बन के रूप में तथा उद्दीपन के रूप में। तड़ाग में खिले हुए नील कमल, उपवन में विकसित फूल, पञ्चम में कूकती हुई कोकिला—इन सबका वर्णन हमारे कवि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करते हैं और यह करना उचित ही है। वह प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन भी करता है। बाह्य प्रकृति को हमारा कवि, सुषमा का निकेतन तथा सौन्दर्य का सदन मानता है परन्तु उसके भीतरी रहस्य को जानने के लिए कवि में निरीक्षण शक्ति होनी चाहिए। आज की 'नागरिक सभ्यता' में नगर का कवि प्रकृति से दूर हटता जाता है और इसीलिए उसके वर्णन में कृत्रिमता है। प्रकृति को उसने कभी स्वच्छन्द विहार करनेवाली देखा ही नहीं, तो वह उसका तद्रूप वर्णन कर ही कहाँ से सकता है? परन्तु संस्कृत के कवि प्रकृति के पुजारी थे और इसलिए उनके वर्णन स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी होते हैं।

कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का एक मञ्जुल उदाहरण यहाँ दिया जाता है। हिमांचल की मनोरम सन्ध्या है। भगवान् शशिशेखर पार्वती की दृष्टि को सन्ध्याकालीन हैमवती सुषमा की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे पिता के झरने सूरज के पश्चिम की ओर लटक जाने के कारण अब इन्द्रधनुष से विरहित दीख पड़ते हैं। बात यह है कि सूरज की किरणें जब झरनों से उठनेवाली फूही पर पड़ती है, तब हजारों इन्द्रधनुष

जलकणों में दिखलाई पड़ते हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है जिसकी सत्यता का अनुभव जलप्रपात को देखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को होता है। प्रपातों के दर्शन की ओर दर्शकों के आकर्षण का रहस्य इसी सुषमा के भीतर छिपा है। महाकवि कालिदास तो हिमालय के प्रेमी कवि हैं। उनकी दृष्टि इन वैज्ञानिक दृश्यों के निरीक्षण में सर्वथा कृतकार्य रहती है। कवि के इस तथ्य के वर्णनपरक श्लोक पर दृष्टिपात कीजिए—

शीकर-व्यतिकरं मरीचिभि-
दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचाप - परिवेष - शून्यतां,
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

यह उक्ति किसी रूढ़िवादी कवि की नहीं है, प्रत्युत उस कवि की है जो प्रकृति की लीलाओं को अपने नेत्रों से निरख कर आनन्द-विभोर हो उठता है तथा आपा खो बैठता है। प्राकृतिक दृश्यों का यह भव्य वर्णन महाकाव्य का एक आवश्यक अंग है जिसकी उपेक्षा कभी भी श्लाघनीय नहीं होती।

इन्हीं तत्त्वों का योग महाकाव्य का जनक होता है।

खण्डकाव्य

वह काव्य जो मात्रा में महाकाव्य से छोटा हो परन्तु गुणों में उससे कथमपि न्यून न हो, 'खण्डकाव्य' कहलाता है। यह महाकाव्य का टुकड़ा न होकर, स्वयं पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है। परिमाण में कम होने के कारण इसमें महाकाव्य के विषय—युद्ध आदि—का विवरण नहीं दिया जाता, परन्तु इसमें कवि किसी विशिष्ट विषय पर अपनी अनुभूति प्रकट करता है। महाकाव्य विषय-प्रधान होता है, परन्तु खण्डकाव्य मुख्यतया विषयी-प्रधान होता है जिसमें लेखक कथानक के स्थूल साँचे में अपने वैयक्तिक विचारों को प्रसंगानुसार वर्णन करता है। 'मेघदूत' खण्डकाव्य का एक सुन्दर दृष्टान्त है। इसमें कालिदास ने एक विरही यक्ष के द्वारा अपनी वियोग-विधुरा पत्नी के पास प्रणय का सन्देश भिजवाया है। इसमें कथानक तो बिल्कुल छोटा है, परन्तु प्रकृति का वर्णन विशेष रूप से सुन्दर तथा भव्य है। यहाँ वाह्य प्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है और साथ ही साथ मानव हृदय के कोमल भावों का भी वर्णन बड़ा ही रुचिर है। यक्ष का प्रेमसन्देश उसके कोमल हृदय का, स्वाभाविक स्नेह का तथा सच्ची सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है। इस प्रकार महाकाव्य के विषय से इसका कथमपि साम्य नहीं। किन्हीं खण्डकाव्यों में ऐसा साम्य विद्यमान रहभी सकता है, परन्तु खण्ड-काव्य तिस पर भी अपनी स्वतन्त्रता से मण्डित रहता ही है। 'खण्डकाव्य' के नाम को

देखकर कितने ही आलोचकों की यह धारणा होती है कि यह प्रबन्ध काव्य का एक 'खण्ड-मात्र' है; परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है।

मुक्तक

'मुक्तक' का अर्थ है सन्दर्भ, प्रकरण आदि से मुक्त या विरहित काव्य। महाकाव्य में सन्दर्भ का बड़ा महत्त्व होता है। किसी पद्य का अर्थ जानने के लिए यह जरूरी होता है कि हम जानें कि कौन इसका वक्ता और कौन इसका बोधव्य है ? कौन कह रहा है और किससे कह रहा है ? इसके कथन का अवसर कब है ? यह क्यों कहा गया ? इन प्रश्नों के बिना उत्तर जाने हम महाकाव्य के पद्य का अर्थ भली भाँति नहीं जान सकते। परन्तु 'मुक्तक' इन सबसे 'मुक्त' (रहित) है, छोड़ा गया है। 'मुक्तक' नाम में 'क' प्रत्यय स्वार्थ बोधक है। जैसे बाल और बालक एक ही होते हैं, उसी प्रकार 'मुक्त' और 'मुक्तक' एक ही हैं। इस प्रकार 'मुक्तक' का अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाहरी उप-करणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है। इसके समझने के लिए बाहरी सामग्री की तनिक भी अपेक्षा नहीं होती। स्वयं रस के समस्त उपकरण—विभाव, अनुभाव आदि —उपस्थित रहते हैं जिससे उसके पाठ से आनन्द उठाने के लिए पाठक को किसी प्रकार का आयास नहीं करना पड़ता। मुक्तक तो उन रस-भरे मोदकों के समान हैं जिनके आस्वादनमात्र से सहृदयों का हृदय तुरन्त तृप्त तथा उल्लसित हो जाता है।

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में मुक्तकों के पाँच भेद किये हैं, परन्तु इस भेद का मूल आधार विशेष व्यापक नहीं है। राजशेखर के द्वारा निर्दिष्ट पाँच भेद ये हैं— (१) **शुद्ध**—जिसमें बिना किसी अतिरिक्त सामग्री के किसी भावना का वर्णन होता है; और जिसमें किसी इतिवृत्त का सम्बन्ध नहीं रहता। (२) **चित्र**—जहाँ शुद्ध मुक्तक में भावों की अनेक चित्र-विचित्र कल्पनायें प्रस्तुत की जाती हैं। (३) **कथोत्थ** (कथा से उत्थ, उठा हुआ)—किसी अतीत घटना का वर्णन करने वाला मुक्तक। (४) **संविधानकभू**—जिसमें घटना की सम्भावना की जाती है। (५) **आख्यानकवान्**—जिसमें घटना को कवि अपनी मनोरम प्रतिभा के सहारे बहुत ही विस्तृत कर दिखलाता है। बिहारी की 'सतसई' से इन प्रकरणों का हिन्दी उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

श्री राधिका की सुहावनी शोभा का, जिसमें किसी प्रकार की बनावट नहीं है, वर्णन पढ़ने से उनका चित्र सामने खड़ा हो जाता है—

रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन।
अंजन-रंजन हू बिना, खंजन-गंजन नैन॥

श्री राधिका के सामने कवि तीर्थों को विघ्न समझकर फेंकने या तिरस्कार करने की वात कह रहा है, क्योंकि वह वेनी (त्रिवेणी तथा तीन लटों में सँवारी गयी चोटी) जिसमें एक डुवकी लगाना दुःख से मोक्ष दिलाने की पराकाष्ठा है, उसके पैर को छूती है।

ताहि देखि मन तीरथन, बिकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय॥

इन पद्यों के अर्थ समझने के लिए कहीं वाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। ये अपने अर्थ वतलाने के लिए स्वतः पूर्ण हैं और यही मुक्तककाव्य की निजी विशिष्टता होती है।

प्रवन्धकाव्य तथा मुक्तककाव्य में मुख्य भेद क्या है? इतना तो निश्चित है कि स्थान की वहुलता के कारण प्रवन्धकाव्य में जीवन की घटनाओं की जो भव्य तथा विशद झाँकी दिखलाई जा सकती है, वह मुक्तककाव्य में नहीं है। मुक्तक में जीवन की कोई एक मनोरम, परन्तु प्रभावशाली, छोटी परन्तु अन्तरंग घटना का ही चित्रण सम्भव है। एक पद्य के संकीर्ण क्षेत्र में बँधे रहने के कारण कवि के सामने वह मैदान ही नहीं है, जिसमें वह अपनी प्रतिभा की दौड़ दिखा सके। परन्तु वह जितना स्थान पाता है उसी में ही वह जो कुछ दिखा पाता है, वह नितान्त सरस, हृदयावर्जक तथा प्रभावशाली होता है। संस्कृत साहित्य में कालिदास तथा अश्वघोष प्रबन्धकाव्य के प्रतिनिधि कवि हैं और अमरुक तथा भर्तृहरि मुक्तककाव्य के। हिन्दी साहित्य में तुलसी तथा केशव प्रबन्ध कवि हैं और विहारी तथा मतिराम मुक्तक कवि हैं। इनके काव्यों में जो अन्तर दीख पड़ता है, वह मर्मज्ञ पाठकों की दृष्टि से अगम्य नहीं है। इसी रसपेशलता के कारण आनन्दवर्धन की प्रसिद्ध उक्ति है कि प्रवन्धों के समान मुक्तकों में भी कविजन रसात्मक निबन्धन के विशेष आग्रही दीख पड़ते हैं और इसलिए अमरुक कवि के शृंगार रस चुलानेवाले मुक्तक स्वतः प्रबन्ध के समान हैं। तथ्य यह है कि मुक्तककवि रसकवि होता है। वह केवल रस के उन्मेष के ही लिए मुक्तकों की रचना करता है। इसलिए मुक्तक (जैसे अमरुक के पद तथा विहारी के दोहे) विशेषतः ध्वनिकाव्य के सुन्दर नमूने होते हैं जिन्हें आलंकारिकों ने अपने लक्षणग्रन्थों में बहुधा उद्धृत किया है।

अमरुक कवि के एक मुक्तक पर दृष्टिपात कीजिए—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता,
गन्तव्ये सति जीवित! प्रिय-सुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते।

भावी प्रोषितपतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रीतम ने जाने का

निश्चय किया तभी हाथ के कंगनों ने प्रस्थान कर दिया—खिसक गये; प्रिय मित्र आँसू भी लगातार जाने लगे। धृति एक क्षण के लिए भी न टिकी। मन जाने के लिए पहिले से ही तैयार हो गया। ऐ मेरे प्राण, जब तुम्हारा भी जाने का निश्चय है, तो अपने इन प्रिय मित्रों का संग-साथ मत छोड़ो। तुम भी अभी चलते बनो।

मुक्तक-भेद

मुक्तक को हम मोटे तौर से दो भागों में बाँट सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है। धार्मिक मुक्तक विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बद्ध रहते हैं। इसका ही प्रचलित नाम 'स्तोत्र' है। संस्कृत में 'स्तोत्र' का एक विशाल साहित्य है। संस्कृत का भक्त कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों से चकित हो उठता है, तो कभी भगवान् के भी विशाल हृदय, असीम अनुकम्पा और दीन जनों पर अकारण स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्म-विस्मृत हो जाता है। बच्चा अपनी माता के पास मनचाही प्यारी वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है, आत्मानन्द की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। भक्त कवि की यही दशा होती है। इसीलिए संस्कृत का मुक्तकसाहित्य हृदय के भावों के वर्णन करने में अपनी तुलना नहीं रखता। वह उस लघुचित्र (मिनियेचर पेन्टिंग) के समान होता है जिसके छोटे से दायरे में चित्र के पूरे अंग-प्रत्यंग खींचे जाते हैं तथा जो देखते ही अद्भुत चमत्कार पैदा करता है।

महाकवि मतिराम ने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण के रूपवर्णन में अपने हृदय के भावों का अच्छा परिचय दिया है। इसे हम धार्मिक मुक्तक का अच्छा उदाहरण मान सकते हैं—

> गुच्छनि के अवतंस लसैं सिर, पच्छन अच्छ किरीट बनायौ;
> पल्लव लाल समेत छरी कर-पल्लव सौं "मतिराम" सुहायो।
> गुंजनि के उर मंजुल हार सुकुंजनि तैं कढ़ि बाहर आयो।
> आजु के रूप लखैं नँदलाल को, आजहि नैनन को फल पायौ॥

इन भेदों का यदि अंग्रेजी पद्धति से वर्गीकरण करना पड़ेगा तो हम महाकाव्य को 'एपिक पोइट्री' के अन्तर्गत तथा पिछले दोनों भेदों को 'लिरिक पोइट्री' के भीतर रखेंगे। 'एपिक' के समान ही महाकाव्य में कवि विषय ढूँढ़ने के लिए अपने से बाहर जाता है और जातीय घटनाओं के वर्णन में अपनी प्रतिभा का वैभव दिखाता है। ये घटनायें वर्णन-प्रधान होती हैं अर्थात् उनमें संग्राम, आक्रमण, मारपीट आदि बाहरी घटनाओं का विवरण ही मुख्य रहता है। 'लिरिक' के समान मुक्तक काव्य का कवि विषय-निर्वाचन के लिए

अपने से बाहर नहीं जाता, प्रत्युत अपने ही भीतर डूबकर भावों के प्रकट करने में ही अपना काव्यगौरव मानता है। संस्कृत में गोवर्धनाचार्य तथा अमरुक इसके उज्ज्वल दृष्टांत हैं। हिन्दी में बिहारी तथा मतिराम इस कोटि के प्रमुख कवि हैं।

इतरभेद

छन्दोबद्ध रचना 'पद्य तथा छन्दोविहीन रचना 'गद्य' कहलाती है। संस्कृत आचार्यों के मन्तव्यानुसार 'छन्द' काव्य के लिए आवश्यक वस्तु नहीं है। काव्य की आवश्यक वस्तु तो रस है। यदि उसकी सत्ता है तो वह काव्य अवश्य है चाहे वह छन्द के माध्यम से प्रकट किया गया हो या नहीं। पद्यकाव्य के दो भेद ऊपर दिखलाये गये हैं। गद्यकाव्य दो प्रकार का मुख्यतया माना जाता है—कथा और आख्यायिका। इनके परस्पर वैशिष्ट्य के विषय में आलंकारिकों में पर्याप्त मतभेद है। आचार्य भामह ने दोनों में पार्थक्य दिखलाने का प्रथम उद्योग किया, परन्तु वह उद्योग सफल नहीं रहा। दोनों को पृथक् करनेवाली रेखा इतनी फीकी और धूमिल है कि दण्डी ने इसका सर्वथा तिरस्कार कर दिया। संस्कृत में इन दोनों प्रकार की रचनाओं को प्रस्तुत करने का श्रेय महाकवि बाणभट्ट को ही है। इन्होंने 'कादम्बरी' को 'अतिद्वयी कथा' और 'हर्षचरित' को 'आख्यायिका' नाम दिया है। दोनों में मुख्य भेद यह है कि कथा किसी प्राचीन आख्यान को कहते हैं जिसमें प्रतिभा के विलास को दिखाने के लिए कवि को अवसर मिलता है और आख्यायिका इसके विपरीत वह गद्यकाव्य है जिसका ऐतिहासिक आधार कोई न कोई अवश्य हो। कादम्बरी एक प्राचीन दन्तकथा या लोक-कथा के ऊपर आश्रित होने से स्पष्टतः 'कथा' है और 'हर्षचरित' इतिहासप्रसिद्ध चरित तथा घटनाओं के वर्णन करने के कारण 'आख्यायिका' कहा जाता है।

जिस काव्य में गद्य तथा पद्य का मिश्रण रहता है उसे चम्पूकाव्य कहते हैं। इस मिश्रण का उचित विभाग तो यही प्रतीत होता है कि भावात्मक विषयों का वर्णन पद्य के द्वारा हो और वर्णनात्मक विषयों का विवरण गद्य के द्वारा हो, परन्तु चम्पू के लेखकों ने इस तथ्य का अनुसरण तथा पालन अपने ग्रन्थों में समुचित रीति से नहीं किया। फलतः गद्य में वर्णित विषय का ही वर्णन कहीं-कहीं पद्यों के द्वारा उपलब्ध होता है और कहीं-कहीं शुद्ध वर्णन ही पद्यों के द्वारा उपन्यस्त किये जाते हैं। संस्कृत में 'नल चम्पू', 'रामायण चम्पू', 'भारत चम्पू' आदि का एक विशाल साहित्य है। परन्तु हिन्दी में 'चम्पू' को लोकख्याति प्राप्त न हो सकी। चम्पू हिन्दी में होता ही नहीं, परतु कन्नड़, तेलुगु आदि द्राविड़ी भाषा के कवियों को 'चम्पू' काव्य प्रतिभा दिखलाने का एक अत्यन्त लोकप्रिय माध्यम है।

संस्कृत गद्य की रूपरेखा

गद्य का आविर्भाव मानव-भाषा के साथ ही हुआ है। सृष्टि के आरंभ में मनुष्य ने जब अपने हृदय की बातों को प्रकट करने के लिए भाषा का माध्यम पकड़ा, तब वह गद्य के रूप में ही प्रकट हुआ। इस प्रकार भाषा के द्वारा भावाभिव्यक्ति का मौलिक माध्यम गद्य ही है। पद्य तो गद्य का एक नियमित तथा निश्चित प्रकार है। छन्दोबद्धता ही पद्य की मुख्य पहचान है। छन्दों के नियमों द्वारा निबद्ध गद्य ही पद्य है। गद्य के स्वतन्त्र रूप को जब लघु-गुरु के द्वारा व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता है, और उसमें संगीत की मधुरिमा का पुट दिया जाता है, तब पद्य का जन्म होता है। इस प्रकार, उत्पत्ति तथा व्यापकता की दृष्टि से, गद्य, पद्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा व्यापक है।

अभिव्यंजना की दृष्टि से इस पार्थक्य की परीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पद्य कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम होता है तथा गद्य तार्किक युक्तियों के प्रकटीकरण का माध्यम होता है। पद्य के सीमित क्षेत्र में तार्किक बातों का कथन उतनी सुन्दरता और उपादेयता के साथ नहीं हो सकता जितनी गद्य के विशाल क्षेत्र में। पद्य में, छन्दोबद्धता पर आग्रह होने के कारण कवि परतन्त्र रहता है। वह अपनी कल्पना के संपूर्ण उत्कर्ष को उचित रीति से अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं पाता। नियमों के बंधन से बाध्य हो कर वह अपनी कला का विलास नहीं दिखा पाता। अतः पद्य कवि-प्रतिभा के विमल विकास के लिए पूर्ण माध्यम नहीं बन सकता। इसके विपरीत गद्य का लेखक स्वतन्त्र रहता है। स्वरूपतः गद्य उसे किसी प्रकार के नियम में नहीं जकड़ता। पद्य का रचयिता पिंजर-बद्ध शुक के समान है, जो पिंजड़े की सीमा के बाहर उड़ने के लिए स्थान नहीं पाता, और उसके भीतर ही फड़फड़ाता रहता है। उधर गद्य का निर्माता उन्मुक्त पक्षी के समान है जो स्वतन्त्रता के आनन्द का रसिक बन कर विशाल साहित्य-गगन में स्वेच्छापूर्वक उड़ान भरता है, किसी बंधन में वह अपने-आप निबद्ध नहीं होता। इसीलिए गद्य कवि-प्रतिभा के परखने के लिए कसौटी माना जाता है। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' इस प्राचीन आभाणक का यही तात्पर्य है।

संस्कृत गद्य की अपनी निजी विशेषता है जो इसे अन्य साहित्यिक गद्यों से पृथक् करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हो सकती है। पहली विशेषता है, इसकी प्राचीनता। प्राचीनता की दृष्टि से यह सभी प्राप्त साहित्यिक गद्यों में प्रथम माना जा सकता है। गद्य का आविर्भाव हमें सर्वप्रथम वेदों में दिखाई देता है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही तो यजुर्वेद को 'कृष्ण' नाम से पुकारा जाता है। इसकी समग्र संहिताओं (तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी आदि) में गद्य की विपुल सत्ता उपलब्ध होती है। अथर्ववेद का गद्य

कालक्रम से इससे कुछ बाद का माना जा सकता है। अथर्व का छठा भाग गद्यात्मक ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो गद्य का साम्राज्य ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य वर्ण्य विषय है यज्ञ-भागों का विस्तृत विवरण और इस विवरणात्मक व्यापार के निमित्त गद्य उपयोगी माध्यम है। उपनिषदों में भी गद्य की सत्ता प्राचीनता की द्योतिका है। वह इस प्रकार वैदिक गद्य मात्रा में अधिक व्यापक, रूप में सरल एवं सुगम तथा प्रभाव में अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। काल-क्रम से लौकिक संस्कृत में गद्य की यह व्यापकता कुण्ठित हो गयी, और जिन स्थानों पर उसका नैसर्गिक अधिकार होना चाहिए था वहाँ भी हमें छन्द-बद्ध वाणी के ही दर्शन होते हैं।

संस्कृत गद्य की दूसरी विशेषता है, उसकी लघुकायता। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों की अभिव्यक्ति का गुण संस्कृत भाषा की अपनी विशेषता है। अन्य भाषाओं में एक लम्बे वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त भाव संस्कृत में अनायास एक शब्द के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और इस व्यापार में समासों की सत्ता विशेष जागरूक रहती है। समास संस्कृत भाषा का प्राण है जो अधिक से अधिक भावों को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता उसे प्रदान करता है। संस्कृत गद्य में समास का बाहुल्य होना नितान्त आवश्यक माना जाता है। आचार्य दण्डी की यह उक्ति सुप्रसिद्ध है—

ओजः समासभूयस्त्वम् एतद् गद्यस्य जीवितम्।

समास का बाहुल्य ओजगुण कहलाता है और यह गद्य का जीवन होता है। ओजगुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढ़बन्धता का संचार होता है जिससे गद्य का सौन्दर्य निखर उठता है। लौकिक संस्कृत में निबद्ध गद्य की यह निजी विशेषता हमें गद्य के स्वर्णयुग में ही दृष्टिगोचर नहीं होती, प्रत्युत गद्य के आरंभ-काल में—ईसवी प्रथम तथा द्वितीय शतक के आसपास भी इसकी उपलब्धि होती है। ओजगुण की सत्ता से संस्कृत गद्य वर्ण्य विषय का एक सामूहिक, सुसम्बद्ध संगठित चित्र प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ होता है। असमस्त वाक्यों से चित्र की गाढ़ता का परिचय नहीं मिलता। वह तो बिखरी हुई चीज होती है, जिसका कोई ही अंग हमारी दृष्टि के सामने आता है और कोई अंश ओझल हो रहता है, परन्तु समस्त पदों का अस्तित्व चित्र के समग्र रूप को, उसके व्यापक प्रभाव को, हमारे मानस-पटल पर अविलम्ब अंकित कर देता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति का यह एक वाक्य ही विजय-स्तम्भ के स्वरूप का पर्याप्त परिचायक है—

सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिम् इतस्त्रिदश-पतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयम् उच्छ्रितः स्तम्भः।

संस्कृत गद्य के दो रूप उपलब्ध होते हैं—(१) शास्त्रीय गद्य तथा (२) साहित्यिक गद्य। शास्त्रों में गद्य का साम्राज्य ही है। गद्य के ही माध्यम द्वारा शास्त्रों के विषयों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। यह गद्य भावप्रकाशन की दृष्टि से नितान्त प्रौढ़ तथा समर्थ है। हमारे शास्त्रीय ग्रन्थों में समस्त पदों की सहायता से विशेष विचारों का प्रकाशन थोड़े ही शब्दों में बड़ी सुन्दरता तथा सुबोधता के साथ किया गया है। इनमें गाढ़-बन्धता की विशेष चिन्ता न रख कर प्रसाद गुण की ओर समधिक ध्यान दिया गया है। हमारे शास्त्रीय लेखकों में अनेक आचार्यों के गद्य में भी वही लालित्य, वही रोचकता, वही हृदयानुरञ्जकता दृष्टिगोचर होती है जिसे हम गद्यकाव्यों में देखते हैं तथा जिसकी माधुरी का हम आस्वाद लेते हैं। ऐसे ग्रन्थकारों में महाभाष्य के रचयिता पतंजलि, मीमांसक शबरस्वामी, नैयायिक जयन्त भट्ट तथा श्री शंकराचार्य का गद्य विशेष लालित्य-संपन्न है। आचार्य शंकर का गद्य तो उनकी लेखनी का विशेष चमत्कार है। अद्वैत वेदान्त स्वभावतः तर्क-प्रवणता के कारण अत्यन्त दुर्बोध है, परन्तु आचार्य शंकर ने इतनी सुन्दर भाषा में, इतने चमत्कारी गद्य में सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है कि वे अनायास ही पाठकों के हृदय में प्रवेश कर जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्त की लोक-प्रियता का रहस्य उसके सिद्धान्तों की व्यापकता में जितना है, उतना ही वह शंकर के सरल सुबोध गद्य की सत्ता में भी है। आचार्य का यह सरल वाक्य इसका निदर्शन है—

पद्भ्यां पलायितुं परायमाणो नहि जानुभ्यां रंहितुम् अर्हति—

अर्थात् पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति को घुटनों के बल रेंगना उचित नहीं प्रतीत होता।

सातवीं शताब्दी को साहित्यिक गद्य का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है, इसकी विभूतियाँ हैं—सुबन्धु, बाणभट्ट तथा दण्डी। संस्कृत गद्य के लालित्य तथा भावाभिव्यक्ति का, माधुर्य तथा उन्नत रूप का दर्शन हमें इन लेखकों के काव्यों में भली भाँति होता है। रूप के आधार पर भारतीय आलोचक गद्य तथा पद्य में कोई भेद नहीं मानता। काव्य का स्वरूप रसात्मकता ही है, चाहे वह छन्दोमयी वाणी के पद्यात्मक रूप में हो अथवा छन्दोवर्जित वाणी के गद्य रूप में हो।

सुबन्धु

सुबन्धु उस युग के प्रतीक हैं जिसमें श्लेष का चमत्कार ही काव्यभूषणों में सबसे अधिक माना जाता था। श्लेषात्मक गद्य का जो संघटित रूप सुबन्धु की एकमात्र रचना 'वासवदत्ता' में प्रस्फुटित होता है वह साहित्य-संसार की एक अनोखी चीज है। सुजनैक-

बन्धु सुबन्धु ने अपनी रचना को 'प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रपञ्च विन्यास वैदग्धनिधि' बनाने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसे उन्होंने पूरा-पूरा निभाया। 'वासवदत्ता' नाम में ही एक विचित्र जादू है जो रसिकों के कोमल हृदय को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। कालिदास के जमाने में ही 'वासवदत्ता' की प्रेममयी कहानी सुना कर गाँव के बुड्ढे ग्रामीण जनता का मनोरंजन किया करते थे। इस ग्रन्थ की नायिका का केवल अभिधान ही वासवदत्ता है, कथावस्तु प्राचीन ऐतिहासिक आख्यान से नितान्त भिन्न है। इस गद्य-काव्य में विरोध, उपमा तथा उत्प्रेक्षा का भी विलास कम नहीं है, परन्तु श्लेष का चमत्कार ही इसका प्राण है। महाराज चिन्तामणि का यह श्लिष्ट वर्णन कितना चमत्कारी तथा कलात्मक है—

> नन्दगोप इव यशोदयान्वितः, जरासन्ध इव घटितसन्धिविग्रहः,
> भार्गव इव सदानभोगः, दशरथसुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च।

अभंग श्लेष की बहुलता होने से यह काव्य क्लिष्ट हो गया है और इसीलिए इसे अपने गौरव के अनुकूल लोकप्रियता नहीं मिली।

बाणभट्ट

सम्राट् हर्षवर्धन (सप्तम शताब्दी) के कृपापात्र तथा सभा-पण्डित बाणभट्ट का गद्य संस्कृत-गद्य का वह चूड़ान्त निदर्शन है जिसके पास अक्लान्त प्रयास करने पर भी बाद के कवि पहुँच नहीं सके। बाण की शैली का प्रवाह दर्शनीय है। उनकी कमनीय रचना 'कादम्बरी' अपने विषय में बेजोड़ है।

अलंकार तथा रस के मधुर सामञ्जस्य में, भाषा तथा भाव के परस्पर मधुर संयोग में, कल्पना तथा वर्णन के अनुरूपसंघटन में 'कादम्बरी' संस्कृत साहित्य में अनुपम है, अपनी जोड़ी रखती ही नहीं। बाणभट्ट को प्रकृति के विकराल, भयंकर रूप का इतना सच्चा ज्ञान है कि विन्ध्याटवी का वर्णन पढ़ कर किस पाठक के रोंगटे नहीं खड़े हो जाते। उधर प्रकृति का सौम्य रूप भी अपने पूर्ण विलास में झलक रहा है। तपोवन के वर्णन में, जाबालि की सदय मूर्ति के चित्रण में। बाण के चरित्र-चित्रण में विलक्षण सजीवता है। सौम्य तापस हारीत, आध्यात्मिकता की मूर्ति जाबालि, वदान्य नरपति तारापीड, शुभ्र-वसना तपस्विनी महाश्वेता, कोमल-हृदया कमनीयकलेवरा कादम्बरी—ये पात्र ऐसे हैं जिनका प्रभाव पाठकों के हृदय पर अमिट रूप से पड़ता है। 'कादम्बरी' विश्वसाहित्य में अपनी विलक्षण माधुरी के कारण, कलापक्ष तथा हृदयपक्ष के यथावत् मिश्रण के कारण, एक अद्वितीय वस्तु है तथा भविष्य में भी बनी रहेगी। बाण के द्वारा चित्रित प्रेम एक जन्म से सम्बद्ध शारीरिक विकार की साधकमात्र मनोवृत्ति नहीं है, प्रत्युत वह

जन्मान्तर से सम्बन्ध रखने वाली स्वर्ग लोक में भी अनुपलब्ध दैवी वस्तु है। इसीलिए संस्कृत का एक प्राचीन आलोचक डंके की चोट पुकार रहा है—

रुचिरस्वरवर्णपदा　रसभाववता　जगन्मनो　हरति।
स किं तरुणी ? नहिं नहि, वाणी　बाणस्य मधुरशीलस्य॥

दण्डी

दण्डी का सुप्रसिद्ध गद्य-काव्य 'दशकुमार चरित' कथानक की दृष्टि से विशेष महनीय है, जिसके कौतुकावह तथा विस्मयजनक घटनाओं की बहुलता के कारण अद्भुत रस का प्रभूत संचार होता है। इसकी कथा अत्यन्त सजीव है जिसके भीतर से तत्कालीन समाज अपनी मनोरम झाँकी पाठकों को दे रहा है। दण्डी जनता के कवि हैं और इसीलिए उनके काव्य में जनता के सुख-दुःख का—वेदना आनन्द का—पर्याप्त परिस्फुरण हुआ है। इनका गद्य व्यवहार योग्य, सजीव तथा चुस्त है। वह न तो श्लेष के बोझ से ही दबा हुआ है और न समास के प्रहार से प्रताड़ित है।

सप्तम शताब्दी से ले कर आज तक गद्य की रचना होती आ रही है। धनपाल की 'तिलक मञ्जरी', वादीभसिंह का 'गद्यचिन्तामणि', सोड्ढल की 'उदयसुन्दरी कथा आदि अनेक आख्यान ग्रन्थों के कारण यह परम्परा आज भी इसी प्रकार अक्षुण्ण है।

———

(१) दृश्य काव्य

काव्य के द्विविध भेदों का उल्लेख ऊपर किया गया है :—श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य श्रवण के माध्यम द्वारा सामाजिक के हृदय को स्पर्श करता है और दृश्य काव्य नेत्र के माध्यम द्वारा दर्शक के हृदय को आकृष्ट करता है। दोनों का लक्ष्य है एक ही—सामाजिक का हृदयावर्जन; परन्तु इस लक्ष्य की सिद्धि के माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। श्रव्य काव्य में माध्यम श्रवण है और दृश्य काव्य में नेत्र। यह निर्विवाद सत्य है कि कानों से सुनी गई वस्तु की अपेक्षा नेत्रों द्वारा देखी गई चीज़ विशेष रोचक होती और हृदय को अधिक खींचती है। इस कारण श्रव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य को अधिक रोचक, अधिक रम्य तथा अधिक मनोज्ञ होना उचित ही है।

रूपक की रमणीयता पर संस्कृत के आचार्यों ने बड़ी गम्भीरता से विमर्श किया है। दृश्य काव्य का सामान्य नाम है रूपक और 'नाटक' इसी का एक प्रधान अंग होता है। रूपक एक अलंकार होता है जिसमें एक वस्तु (जैसे मुख) के ऊपर तत्सदृश अन्य वस्तु (जैसे चन्द्रमा) का आरोप किया जाता है। इसी कारण दृष्य काव्य का भी 'नामकरण 'रूपक' पड़ गया है। नट तथा नटी राम तथा सीता की विभिन्न अवस्थाओं का रंगमंच के ऊपर अनुकरण करते हैं। वियोगी राम के समान नट भी सीता के विरह में पञ्चवटी के वृक्षों से, लताओं से तथा पशुओं से सीता का समाचार पूछता हुआ चलता है तथा अपनी कला से राम की उस काल की अवस्था का अभिनय बड़ी सुन्दरता के साथ करता है। नटी भी अशोकवाटिका में रावण की राक्षसियों द्वारा त्रस्त होनेवाली तथा आकाश से आग की चिनगारी माँगनेवाली सीता का अभिनय इतनी सरलता के साथ करती है कि दर्शक को इसका भान ही नहीं होता कि इनकी सत्ता राम तथा सीता से पृथक् है। अभिनय की कुशलता के कारण नट के ऊपर राम का तथा नटी के ऊपर सीता का आरोप दर्शक लोग स्वतः करते हैं। इसीलिए समारोप—ठीक-ठीक आरोप किये जाने—के कारण दृश्य काव्य को हम 'रूपक' नाम से पुकारते हैं।

रूपक की रम्यता

चाहे रूपक हो या महाकाव्य, काव्य में वर्णित या चित्रित घटनाओं का जब हम

मानस प्रत्यक्ष करते हैं, तभी हमें अपने हृदय में आनन्द का बोध होता है और यही आनन्द-बोध (या रसोन्मेष) तो काव्य का अन्तिम लक्ष्य ठहरा। श्रव्य काव्य में भी हम जीवन के साथ सम्पर्क रखते हैं, परन्तु यह सम्पर्क परोक्ष रूप से ही होता है, परन्तु दृश्य काव्य में हमारा सम्बन्ध वर्णित विषय के साथ बिल्कुल प्रत्यक्ष होता है। समग्र घटनायें चित्रपट के समान नाना रंगों में हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं और हमारा हृदय आकृष्ट करती हैं। परिणाम यह होता है कि समग्र कथानक यथार्थ रूप से उपस्थित हो जाता है। उसमें अस्फुटता की कोई छाप रहती ही नहीं। इसीलिए चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण रूपक महाकाव्य की अपेक्षा सुन्दरतम माना जाता है।

इतना ही नहीं, रूपक की रमणीयता के विषय में एक अन्य गम्भीर हेतु भी है। कवि की दृष्टि में नाटक उसकी प्रतिभा का सबसे श्रेष्ठ निदर्शन है। इसका कारण यह है कि वह नाटक के द्वारा स्वानुभूत आनन्द का दर्शकों के हृदय में बड़ी सरलता से संचार कर सकता है। और इस सुलभ संचरण का कारण है औचित्य। जिस काव्य में जितना ही औचित्य रहता है, वह उतनी ही मात्रा में श्रोता तथा दर्शक के हृदय में आनन्द का उद्‌बोधन कर सकता है। नाटक में औचित्य का सबसे अधिक अवलम्बन होता है। पात्र के वय के अनुसार ही उसका वेष रहता है। बालकृष्ण के माथे पर कलँगी सोहती है; तो बूढ़े नंदबाबा के सिर पर पगड़ी। दोनों का वय जो भिन्न ठहरा। वेष के अनुरूप ही होता है गति का संचार और तदनुरूप होता है पाठ्य अर्थात् संवाद, तथा पाठ्य के अनुरूप ही अभिनय होता है। इस प्रकार नाटक में औचित्य की परम्परा घर बनाये रहती है। नाटक की नायिका वही 'प्राकृत' बोलती है जो वह अपने वास्तव जीवन में तथा प्रतिदिन के व्यवहार में बोला करती है। यह कितना स्वाभाविक है, कितना उचित है। उधर श्रव्य काव्य में सब स्त्री पात्र अपनी स्वाभाविक भाषा छोड़कर 'संस्कृत' में बोलने के लिए बाध्य होते हैं। यह वस्तुतः स्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार हम नाटक में औचित्य का पूर्ण निर्वाह पाते हैं। स्वाभाविकता खुलकर यहाँ निवास करती है और इसलिए कर्ता की दृष्टि में अर्थात् कविपक्ष से रूपक में 'रसवत्ता' का बड़ा ही मधुर सन्निवेश रहता है।

सामाजिक (दर्शक) की दृष्टि से भी नाटक की मनोज्ञता होती है। सामाजिक प्रायः दो प्रकार का होता है। एक होता है 'सहृदय', जो काव्यकला के साथ गाढ़ परिचय तथा अभ्यास रखने के कारण कवि के हृदय के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है। दूसरा होता है 'अहृदय' जिसके हृदय में भावना की कथमपि प्रतीति नहीं होती। हम उन सहृदयों की बात नहीं करते जिनके स्वच्छ हृदय में काव्य अपना प्रतिबिम्ब सद्यः डालते हैं और इसलिए जो कविता के पाठमात्र का श्रवणमात्र से ही रस की अनुभूति कर लेते हैं। रसानुभूति आवश्यक सामग्रियों की अपेक्षा रखती है। जब तक ये विद्यमान न हों, तब तक

दर्शक के हृदय में आनन्द का उन्मेष नहीं होता। 'अहृदय' व्यक्तियों को तभी काव्य के पढ़ने या सुनने से आनन्द आता है जब रसोपयोगी सामग्री को उसके हृदय में पैठने के लिए अवसर दिया जाय। विहारी के—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
गाँठ परति दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

इस सरस दोहे पर वह कितना भी सर मारे, आनन्द नहीं आ सकता, जब तक इसके भीतर वर्तमान 'असंगति' का खुलकर विवेचन उसके सामने न किया जाय। परन्तु नाटक में यह झमेला नहीं। रस के आस्वादन के लिए जिस उचित वातावरण की आवश्यकता होती है, वह रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के वेष तथा सज्जा, परदों की चमक, रंगमंच की सजावट आदि के द्वारा तुरन्त उत्पन्न किया जाता है। भाषा की कठिनाई किसी प्रकार क विघ्न उपस्थित नहीं करती। हिन्दी के नाटकों की बात जाने दीजिये। वहाँ तो भाषा के समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। संस्कृत के नाटकों के प्रति भी साधारण जनता के आकर्षण का रहस्य क्या है? 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक में—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा॥

की प्रस्तावना के साथ परदा उठता है और रथ पर, चढ़ाये हुए धनुष को हाथ में लिये हुए, राजकीय वेषभूषा से मण्डित राजा दुष्यन्त हरिन के पीछे दौड़ा चला जाता है, तब बिना किसी व्याख्या के ही दर्शकों को समयोचित रस का आस्वादन होने लगता है। अनुकूल वातावरण के कारण से ही तो? यहाँ कल्पना को दौड़ाने की जरूरत नहीं होती। रंगमंच के ऊपर रस के उद्‌बोधन की समग्र सामग्री प्रस्तुत है—जंगल के सुहावने दृश्यों से चित्रित परदे, वेषभूषा से सुसज्जित राजा, तीखे दौड़नेवाले बेलगाम घोड़े तथा सामने भागनेवाला हरिन। बस, परदे के उठने की देर रहती है। रसास्वादन में तनिक भी विलम्ब नहीं होता। अतः अहृदयों को सहृदय बनाने की भरपूर क्षमता नाटक में ही होती है। इसलिए संस्कृत के आचार्य डंके की चोट घोषित करते हैं—**'काव्येषु नाटकं रम्यम्'** अर्थात् काव्यों में नाटक ही रमणीय होता है। यह बात अनेक दृष्टियों से चरितार्थ है। जीवन की सत्यता को अनुभव की दृष्टि से, रसवत्ता से स्निग्ध होने की दृष्टि से, और रसास्वादन की क्षमता की दृष्टि से देखने पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि समग्र काव्य-प्रभेदों में रूपक सर्वथा अभिराम, हृदयंगम तथा रमणीय होता है। इसीलिए कविकुल गुरु कालिदास की यह उक्ति प्रशस्ति न होकर तथ्योक्ति है :—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

जगत् के प्राणियों की रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है; कोई किसी चीज को पसंद करता है, तो कोई किसी को। परन्तु नाटक की उपयोगिता के विषय में उन सबका एक मत है, क्योंकि भिन्न रुचिवाले प्राणियों के चित्त को नाना प्रकार से आवर्जन करने का एक ही साधन है और वह साधन है नाट्य।

(२) संस्कृत नाटक की विशिष्टता

संस्कृत नाटक की अनेक विशिष्टतायें इसे पश्चिमी साहित्य के नाटकों से स्पष्ट रूप से पृथक् करती हैं। एशिया के नाटकों पर, बृहत्तर भारत, जावा तथा सुमात्रा आदि देशों के नाटकों के ऊपर भी भारतीय नाटकों की अमिट छाप पड़ी है; इसे अब प्रमाणों के द्वारा पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। जावा का छायानाटक ('वयंग') संस्कृत के छायानाटकों की छाया लेकर पुष्ट तथा समृद्ध हुआ है। भारतीय संस्कृति के प्रचार के साथ ही साथ भारतीय नाटकों का, कथाओं का तथा जातीय महाकाव्यों का भी प्रचार इन देशों में संपन्न हुआ। इसका सुन्दर परिणाम यह है कि संस्कृत के नाट्यशास्त्र का अनुसरण केवल संस्कृत भाषा के नाटकों में ही नहीं होता, प्रत्युत इन पूर्वीय देशों के नाटकों की रचना भी उसका अनुसरण बहुत अंश तक करती है।

(१) संस्कृत नाटकों में हम संस्कृत के साथ प्राकृत भाषाओं का मनोरम मिश्रण पाते हैं। संस्कृत नाटक लोकव्यवहार को दृष्टि में रखकर निर्मित हुआ है और उस युग में सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' थी। सामान्य रीति से संस्कृत समझने की योग्यता जनता में पाई जाती थी, परन्तु व्यवहार में बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' थी और इसीलिए हम स्त्रियों तथा निम्नवर्गीय पात्रों को अपने भाषणों में प्राकृत भाषा का प्रयोग करते पाते हैं। यह भाषागत मिश्रण संस्कृत नाटक की अन्यतम विशिष्टता है।

(२) आरम्भ से ही संस्कृत में नाटक **'अंकों'** में विभक्त किये जाते हैं और एक अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रंगमञ्च से बाहर चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेंच नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का 'अंक' में विभाजन एक निराली चीज है जो यूनानी नाटकों में नहीं पाई जाती। पाश्चात्य रूपकों में अंकों का विभाजन रोमन लोगों का आविष्कार माना जाता है जो द्वितीय या तृतीय शती में ही प्रथम बार दृष्टिगोचर होता है, परन्तु भारत में तो यह विभाजन नाटक की मौलिक विशेषता है जो उसके आरम्भ काल से ही पाया जाता है।

(३) संस्कृत के नाटक में **'अन्विति त्रयी'** का अभाव एक विलक्षण वस्तु है जो उसे यूनानी नाटकों से सर्वथा पृथक् करती है। यूनानी नाटकों में तीन प्रकार की 'अन्वितियाँ' (यूनिटीज) पाई जाती हैं—(क) **स्थानान्विति** = समग्र घटनायें नाटक में एक ही स्थान

पर घटित होती है; (ख) **कालान्विति** = समस्त घटनायें एक ही काल में अर्थात् एक ही दिन के भीतर घटित होती है; (ग) **कार्यान्विति** = नाटक की समग्र घटनाओं का एक ही उद्देश्य तथा प्रयोजन होता है जिसका सम्पादन हर एक घटना के द्वारा उचित मात्रा में होता है। यूनान देश के आलोचक-शिरोमणि अरस्तू का यह सिद्धान्त 'थ्री यूनिटीज़' (अन्वितित्रयी) के नाम से विख्यात है जिसका पालन यूरोप के नाटकों में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में, परन्तु फ्रेंच नाटकों में अक्षरशः किया जाता था। 'कार्यान्विति' तो नाटक का मूलभूत तत्त्व है जिसके बिना नाटक अपने एकत्व तथा उद्देश्य को ही सिद्ध नहीं कर सकता। इसका अनुपालन प्रत्येक नाटक के लिए अनिवार्य होता है और इसलिए संस्कृत के नाटकों में यह पूर्णतया वर्तमान है; परन्तु अन्य दोनों अन्वितियाँ यहाँ देखने को भी नहीं मिलतीं।

(४) नाटकीय पात्रों में **'विदूषक'** एक निराला पात्र है जिसके जोड़ का पात्र यूनानी नाटकों में नहीं मिलता। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं होता है। विदूषक अपनी उपस्थिति से नाटक को रूखा-सूखा, नीरस तथा फीका होने से अवश्य बचाता है परन्तु वह नायक को अनेक कार्यों में, विशेषतः प्रणय-प्रसंग में, बड़ी सहायता पहुँचाता है। मध्यकालीन यूरोपीय नाटकों में 'फूल' (मूर्ख) नामक एक पात्र अवश्यमेव प्रयुक्त होता था, परन्तु वह निरा हास्य का उपादान होता था। उसके विपरीत, संस्कृत के नाटकों में 'विदूषक' बहुत ही उपयोगी, उपादेय तथा सरस पात्र है।

(५) संस्कृत के नाटकों में **आदर्शवादी वातावरण** उपस्थित करने में कवि व्यस्त रहता है। भारतीय ललितकला के समान ही संस्कृत नाटक दर्शकों के हृदय पर आध्यात्मिक भावना; कमनीयता की कोमल अभिव्यक्ति डालने में तथा रस की अनुभूति कराने में ही अपने को कृतार्थ समझता है। इसीलिए भावों के अभिव्यञ्जक गीतात्मक पद्य ही नाटकों के सर्वस्व होते हैं जिनके द्वारा दर्शकों के सुप्त भावों का उद्बोधन नाट्यकर्ता बड़ी सुगमता के साथ करता है। पाश्चात्य नाटकों के समान 'सवाद' को सजाने तथा विकसित करने तथा 'चरित्र' के विश्लेषण की ओर हमारे नाटकों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रवृत्ति के कारण संस्कृत नाटकों में चित्रित पात्र 'परम्पराप्रयुक्त' होते हैं और अपने-अपने समाज के प्रतिनिधि (टाइप) होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत नाटकों के पात्र वैयक्तिकता से मण्डित नहीं होते, परन्तु उन्हें 'प्रतिनिधि' रूप से दिखलाने का ही अधिकतर प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत नाटक का वातावरण नितान्त सभ्य, शिष्ट तथा उदात्त होता है और इसीलिए अश्लीलता, घृणा तथा कुरुचि उत्पादक दृश्य रंगमंच के ऊपर कभी दिखलाये ही नहीं जाते—जैसे लड़ाई-दंगा, युद्ध तथा वध, भोजन

तथा स्नान, शयन तथा अनुलेपन आदि। आदर्शवादी तथा शिष्ट संस्कृत नाटक के लिए इन कुरुचिपूर्ण घटनाओं का निषेध भूषण है, दूषण नहीं।

(६) संस्कृत का नाटक कभी 'दुःखान्त' नहीं होता। उसका अन्त सदा ही शोभन घटनाओं से, पुनर्मिलन से, मैत्री से तथा विरोध के उपशमन से होता है। यूनानी नाटकों में 'ट्रेजिडी' ('त्रासद' या दुःखान्त नाटक) ही सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है, और संस्कृत में इसका सर्वथा अभाव !!! इस कमी के कारण आलोचकों का सदा प्रहार होता आया है कि संस्कृत का नाटक एकांगी है, अपूर्ण है, अधूरा है; वह जीवन के सुखपक्ष का ही व्याख्याता है और दुःखपक्ष की अवहेलना करता है। अतएव वह जीवन का सर्वांगीण चित्रण नहीं माना जा सकता। यह आलोचना वस्तुतः भारत की संस्कृति, दार्शनिक विचार तथा कलात्मक दृष्टि से नितान्त अपरिचित होने से एकदम भ्रान्त है।

भारतीय दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ़ मन्तव्य है कि जीवन का पर्यवसान सदा ही आनन्द का निकेतन होता है। मार्ग में भले ही नाना प्रकार के विघ्न, क्लेश तथा कष्ट उठाने पड़ते हों, परन्तु गन्तव्य स्थान सदा आनन्दमय होता है। क्लेश का जीवन में आगमन कभी स्थायी नहीं होता। वह अपनी स्थिति से मानव के हृदय को दृढ़ तथा सहनशील बनाकर उसके जीवन को अधिक सरस तथा उपभोगयोग्य बनाता है। भारतीय जीवन-दर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय संयोग संस्कृत नाटक को दुःखान्त होने से वचाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन में सुव्यवस्था का राज्य है; अव्यवस्था, क्लेश या दुःख केवल ऊपरी सतह के ऊपर ही तैरते दीखते हैं। भीतर प्रवेश करने पर शीतल जल की धारा उसे सदा आप्यायित करती है। भौतिक घटनाओं का दुःखद संघर्ष सर्वथा प्रयोजनहीन नहीं होता, प्रत्युत वह मानव के आध्यात्मिक जीवन के विकास में कारणभूत बनता है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि जीवन के दुःख तथा क्लेश को ही आत्यन्तिक वस्तु नहीं मानता, प्रत्युत वह उसे जीवन को अग्रसर करने तथा पूर्णता पर पहुँचाने का एक साधन मानता है जिसका अन्त सदा सुखद तथा कल्याणप्रद ही होता है।

कलात्मक दृष्टि का अनुशीलन नाटक के सुखान्त होने का अन्यतर हेतु है। कला का मुख्य लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का उदय है। कला अपने साधक को सर्वदा ही सत्य, सुन्दर तथा शिव (कल्याण) की ओर ले जाती है। नाटक कला का विशुद्ध विलास ठहरा। फलतः उसे 'शिवान्त' या 'सुखान्त' होना ही स्वाभाविक रीति से उचित है।

ऐसी दशा में संस्कृत के नाटकों में दुःख का, और कमजोरियों का चित्रण क्या नहीं होता ? इन विषयों के चित्रण से विरहित होने से क्या वह कभी पूर्ण तथा उपयोगी माना जा सकता है ? इन प्रश्नों के उत्तर में निवेदन है कि चित्रण होता है और भरपूर

चित्रण होता है, परन्तु कहाँ ? नाटक के आदि में अथवा मध्य में, अन्त में नहीं। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' से बढ़कर मानव क्लेश, वेदना तथा परिताप का चित्रण करनेवाला दूसरा नाटक हो नहीं सकता। कवि ने राम तथा सीता के हृदय को क्षुभित करनेवाली नितान्त वेदनापूर्ण घटनायें नाटक के तृतीय तथा पंचम अंक में दिखलाई हैं जिन्हें देखकर वज्र का भी कलेजा फट जाता है तथा पत्थर भी रो उठता है (अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्) तथापि भवभूति ने राम तथा सीता का पुनर्मिलन दिखलाकर अपने नाटक को जो सुखान्त वनाया है वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यञ्जना है, भारतीय आशावादिता का एक मञ्जुल प्रतीक है जो जीवन को पूर्ण, मधुर तथा सामञ्जस्यपूर्ण वनाता है। वाल्मीकि की दृष्टि में ऐतिहासिक रीत्या राम तथा सीता का आत्यन्तिक वियोग भले ही सिद्ध हो, परन्तु सीता जैसी पवित्रात्मा का अपने पति से तथा प्रजारञ्जन के लिए सर्वस्व निछावर करनेवाले राजा राम का अपनी पत्नी से अन्तिम मिलन 'नाटकीय नैतिकता' की दृष्टि से उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। यह वैशिष्टय वाह्यकला से सम्बद्ध न होकर आन्तरिक 'दर्शन' के ऊपर आश्रित है। अतएव संस्कृत नाटकों में दुःखान्त का अभाव दूषण न होकर भूषण ही है।

(३) नाटक तथा लोक-वृत्त

लोकचरित का अनुकरण ही नाटय है। लोक के व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्थायें ही एकाकार होती हैं। किसी व्यक्ति को हम सांसारिक सौख्य की चरम सीमा पर विराजमान पाते हैं तो किसी को दुःख के अन्धकार-पूर्ण गर्त में अपने भाग्य को कोसते हुए मग्न पाते हैं। सुख तथा दुःख, हर्ष तथा विषाद, प्रसन्नता तथा उदासीनता—नाना प्रकार की मानसिक विकृतियों की विशाल परम्परा की ही संज्ञा संसार है। जगतीतल पर प्राणियों के मानस भावों में हम इतनी विचित्रता पाते हैं कि जगत् के वैचित्र्य का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। इन्हीं नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोकवृत्त का अनुकरण नाटय है। नाटय के 'त्रैलोक्यानुकृति' कहलाने का यही तात्पर्य है।

लोक के ऊपर नाटय की प्रतिष्ठा इतनी अधिक है कि भरत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अभिनय या नाटयकला की सफलता के निर्णय का अन्तिम निर्देश संसार ही है। मानव स्वभाव की विचित्रता, शील तथा प्रकृति को भलीभाँति जानना प्रत्येक नाटक के रचयिता और अभिनेता का मुख्य कार्य होना चाहिए। लोकस्वभाव का अज्ञान नाटय-कला की असफलता का प्रधान कारण है। नाटय का 'प्राण' लोक ही है। नाटय में कितनी वस्तुएँ ग्राह्य हैं और व्यर्थ हैं ? कितना अभिनय अभिनन्दनीय है और कितना निन्दनीय ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर 'लोक' से ही प्राप्त होता है। नाटय सिद्धान्त

का प्रतिपादक पण्डित कतिपय नियमों का ही अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन कर सकता है। इतने विस्तृत और व्यापक नियमों की जानकारी के लिए वह लोक की ओर अपनी उँगली का निर्देश कर देता है। नाटच-शास्त्र ने इस तथ्य का निर्देश अनेक बार किया है। भरतमुनि के शब्दों में:—

लोक-सिद्धं भवेत् सिद्धं नाटचं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाटच-प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते॥११३॥
(नाटचशास्त्र, अध्याय २६)

लोक से सिद्ध वस्तु सुतरां सिद्ध होती है। नाटक लोक के स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसीलिए नाटच के प्रयोग में प्रमाणभूत यदि कोई वस्तु है तो वह 'लोक' ही है। नाटच का स्वभाव ही तो लोकचरित का अनुकरण है:—

लोकस्य चरितं यत्तु नानावस्थान्तरात्मकम्।
तदंगाभिनयोपेतं नाटचमित्यभिसंज्ञितम्॥११५॥
(नाटचशास्त्र, अध्याय २६)

ऐसी वस्तुस्थिति में लोक की जो वार्ता नाना अवस्थाओं से समन्वित रहती है उसका संविधान नाटक में अवश्य करना चाहिए। जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प, जो क्रियायें लोकधर्म में प्रवृत्त होती हैं उनका कीर्तन ही तो 'नाटच' कहलाता है। स्थावर तथा जंगम जगत् की चेष्टाएँ इतनी विचित्र, विपुल तथा विविधरूप हैं, उनके भाव इतने सूक्ष्म तथा गूढ़ हैं कि इनका निर्णय करना शास्त्र की क्षमता के बाहर है। प्रकृति अर्थात् जगत् के प्राणियों के शील नाना प्रकार के होते हैं। यही शील नाटच का प्रतिष्ठापीठ है। ऐसी दशा में शील का यथार्थ अभिनय नाटक में किस प्रकार किया जाय? यहाँ एक विषम प्रश्न है। इसका उचित उत्तर है—लोक का प्रामाण्य। लोक ही नाटच का प्रमाण है।[1] इसीलिए भरतमुनि का आदेश है कि जिन नियमों का निर्देश नाटच-ग्रन्थों में नहीं दिया गया है उनका ग्रहण लोक से करना चाहिए:—

नोक्तानि च मया यानि लोकग्राह्याणि तान्यपि। ना० शा० २४।२१४

इस लोक-प्रामाण्य के तत्त्व का भरत ने अपने ग्रन्थ में बड़े विवेक के साथ पालन किया है। नाटच-प्रयोग में भरत ने इसलिए दो प्रकार के धर्मी माने हैं—लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी। 'लोकधर्मी' से अभिप्राय उन धर्मों से है जो लोकसिद्ध हैं तथा जिसका ग्रहण

१—नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाटचं प्रतिष्ठितम्।
तस्मात् लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाटचयोक्तृभिः॥११६॥
(नाटचशास्त्र, अध्याय २६)

कवि के लिए अभिनय में अतीव समीचीन है। 'नाट्यधर्मी' का तात्पर्य नाट्य में प्रयुक्त होनेवाली अनेक परम्परागत वस्तुओं से है। लोकधर्मी का सिद्धान्त नाट्य में यथार्थवाद का पोषक है, तो नाट्यधर्मी का तथ्य नाट्य में आदर्शवाद तथा मानवीय रूढ़ियों का प्रतिपादक है। ग्राह्य दोनों हैं। इस तथ्य की दृष्टि से उन्होंने 'प्रकृति' का विचार किया है। उत्तम, मध्यम तथा उभय भेद से त्रिविध प्रकृति के गमन, स्थान तथा आसन का विधान नाट्यशास्त्र के त्रयोदश अध्याय में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। आहार्य अभिनय के अवसर पर भरत ने शासकीय पात्रों की वेश-भूषा, सज्जा आदि की रचना का विवरण बड़ी विवेचना से किया है। रंगमंच के ऊपर नाना अवस्था के, नाना प्रकार के पात्र लाये जाते हैं। कभी स्त्रियाँ भी पुरुषों की भूमिका में अवतीर्ण होती हैं। और कभी पुरुष स्त्रियों की भूमिका में उपस्थित होते हैं। इन दोनों का 'आहार्य अभिनय' एक प्रकार नहीं हो सकता। लोक के आदर्श पर यह नेपथ्य-विधान सम्पन्न किया जाता है। भरत ने भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए विभिन्न पाठ्य का निर्देश किया है (ना० शा०, १९ अध्याय) प्रकृति के अनुरूप भाषा का विधान होता है (१७ तथा १८ अ०) पुरुषपात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं तथा स्त्रीपात्र प्राकृत भाषा का।

परन्तु पात्रों की योग्यता तथा सामाजिक स्थिति के अनुरूप प्राकृत भाषाओं में भी भिन्नता होती है। पाठ्य-विधान के भी नियम होते हैं। नाटक की रचना को लक्ष्य कर भरत ने कवियों को आदेश दिया है कि रस तथा भाव के अनुरूप माधुर्य, ओज आदि गुणों का तथा उपमा, रूपक, दीपक और अनुप्रास—अलंकारचतुष्टय का सन्निवेश उन्हें नाटक में करना चाहिए। अभिनय का मुख्य लक्षण दर्शकों के हृदय में रस की अनुभूति उत्पन्न करना है। यदि दर्शकों का मन रस के आनन्द से उल्लसित नहीं होता, तो वह अभिनय केवल प्रदर्शनमात्र है, वह नाटकीय वस्तु नहीं। इस रसोन्मेष की ओर नाट्य का समग्र संविधानक अग्रसर होता है। इसी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाट्य के समस्त अंग जागरूक रहते हैं। अभिनय, प्रकृति, पाठ्य, छंद, अलंकार, स्वर, संगीत-नाट्य की इस विशाल सामग्री का अवसान दर्शकों के हृदय में तद्रूप रस-भाव का उनमीलन कराना ही होता है। रस को अवलम्बन मानकर ही भरत ने गुण दोष की व्यवस्था की है। गुण वही है जो रस के अनुगुण हो और दोष वही है जो रस के प्रतिकूल हो। रसोन्मीलन में सहायक 'गुण' हैं और रसोन्मीलन के अपकर्षण 'दोष'। समग्र अंग इसी मन्त्र को सिद्ध करने के लिए विरचित होते हैं।

(४) नाटक के तत्त्व

रूपकों की भिन्नता तीन तत्त्वों पर निर्भर होती है—(१) वस्तु, (२) नेता, (३) रस। वस्तु से अभिप्राय है कथानक या नाटकीय आख्यान, इतिवृत्त। अधिकारी, अभिनय तथा संवाद आदि के भेद से वस्तु के अनेक भेद हो सकते हैं।

वस्तु के भेद

(क) संस्कृत के आचार्यों ने अधिकारी की दृष्टि से वस्तु के दो भेद किये हैं—**आधिकारिक और प्रासंगिक**। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक 'अधिकारी'। अधिकारी से सम्बन्ध रखनेवाली कथा 'आधिकारिक' कहलाती है। वह तो नाटक की मुख्य कथा होती है, परन्तु नाटक में ऐसी अन्य भी कथायें हुआ करती हैं जो गौण हुआ करती हैं और विशेष स्थिति में मूल कथा को सहायता पहुँचाया करती हैं। इन्हें ही **प्रासंगिक** कथा कहते हैं। ये प्रासंगिक कथायें भी दो प्रकार की हो सकती हैं—बड़ी कथा जो दूर तक चलती रहती है और मूल कथा में बहुत ही अधिक सहायता और योग दिया करती है और छोटी-छोटी कथायें जो किसी विशेष अवसर पर आकर और मुख्य कथा की सहायता कर समाप्त हो जाती हैं। इनमें से पहिली को **'पताका'** तथा दूसरी को **'प्रकरी'** कहते हैं।

एक उदाहरण लीजिये। राम कथा के ऊपर विरचित नाटक संस्कृत में बहुत ही अधिक हैं। इनमें राम तथा रावण का युद्ध 'आधिकारिक' वस्तु है। सुग्रीव का चरित नाटक के लिए बहुत ही जरूरी होता है और बहुत दूर तक मूल कथा का अनुवर्तन भी करता है। फलतः उसे 'पताका' के नाम से हम पुकारते हैं। 'श्रवणा' नामक तापसी का वृत्तान्त अल्प है और मूल कथा का सामान्यतः सहायक है। अतः वह 'प्रकरी' कहा जावेगा।

(ख) अभिनय के विचार से कथायें दो प्रकार की होती हैं—**वाच्य** तथा **सूच्य**। ऊपर जिसका विचार किया गया है वह कथा 'वाच्य' कहलाती है। नाटक में समग्र घटनाओं के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। कार्य की सिद्धि के लिए उनमें परिष्कार करना, कांट-छाँट करना आवश्यक होता है। जो घटनायें कार्य की सिद्धि से सीधा लगाव या सम्बन्ध नहीं रखतीं, उन्हें काट-छाँटकर अलग करना तो पड़ता है, परन्तु कथा को अखण्ड बनाये रखने के लिए उनकी सूचना तो अवश्य ही दी जाती है। ऐसी ही घटनायें 'सूच्य' कहलाती हैं। इन्हीं का शास्त्रीय नाम है—**अर्थोपक्षेपक** जो संख्या में पाँच होतें हैं—(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अंकावतार, (५) अंकास्य। इनका थोड़ा परिचय यहाँ दिया जाता है।

अर्थोपक्षेपक

(१) जो घटनायें अतीत हो गई और जो घटनायें अभी भविष्य में आनेवाली हैं उन दोनों की सूचना देनेवाला **'विष्कम्भक'** कहलाता है और इसके सूचक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं।

(२) प्रवेशक में भी घटनाओं की सूचना पूर्ववत् दी जाती है, परन्तु इसमें सूचक पात्र अधम श्रेणी का ही होता है जैसे नौकर, नौकरानी आदि। नीच पात्रों से युक्त होने के कारण नाटक के आरम्भ में, (प्रथम अंक के आदि में) प्रवेशक का प्रयोग नहीं होता। विष्कम्भक कहीं भी प्रयुक्त हो सकता है। नाटक के आरम्भ में भी इसका प्रयोग वर्जनीय नहीं है। विष्कम्भक के दो भेद होते हैं—शुद्ध तथा मिश्र। 'शुद्ध विष्कम्भक' में सभी पात्र मध्यमश्रेणी के तथा संस्कृत बोलनेवाले होते हैं। 'मिश्र विष्कम्भक' में मध्यमश्रेणी तथा निम्नश्रेणी दोनों के पात्रों का मिश्रण होता है और प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है। प्रवेशक भी, विष्कम्भक के समान ही, सूचक होता है। इसके समग्र पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं और प्राकृत भाषा बोलते हैं। इन दोनों के उदाहरण 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में मिलते हैं। इसके चतुर्थ अंक में कण्व का शिष्य आता है और कण्व के आश्रम में लौट आने की सूचना देता है। यह 'शुद्ध विष्कम्भक' का उदाहरण है। षष्ठ अंक के आरम्भ में हम मछुए को पकड़कर दो पुलिसों को लाते हुए पाते हैं। यह नीच पात्रों के द्वारा संवलित होने के कारण 'प्रवेशक' का दृष्टान्त है।

(३) जहाँ परदे के भीतर से पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है वहाँ 'चूलिका' होती है, जैसे उत्तर-रामचरित के द्वितीय अंक के आरम्भ में तपोधना का प्रवेश परदे के भीतर से सूचित किया जाता है।

(४) यदि किसी अंक के अन्त में पात्रों के द्वारा किसी ऐसी बात की सूचना दी जाय जिससे अगले अंक का आरम्भ होता है तो उसे 'अंकास्य' या अंकमुख कहते हैं। जैसे वीरचरित के द्वितीय अंक के अंत में।

(५) जहाँ प्रथम अंक की वस्तु का विच्छेद किये विना दूसरे अंक की वस्तु आरम्भ हो, वहाँ अंकावतार होता है अर्थात् जब प्रथम अंक के पात्र किसी बात की सूचना दें तथा वे ही पात्र उसी कथावस्तु को लेकर अगले अंक में भी प्रवेश करें, तब इसे 'अंकावतार' कहते हैं। जैसे 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अंक के अन्त में।

नाटकों में बहुत सी बातें वर्ज्य मानी जाती हैं। उनका प्रदर्शन रंगमंच के ऊपर नहीं होता है। वे भी किसी-न-किसी प्रकार 'सूच्य' ही की जाती है जैसे दूर से बोलना; वध, युद्ध; राजविप्लव, देशविप्लव, विवाह, भोजन; मृत्यु, रमण आदि। इसी प्रकार की अन्य लज्जाकारी बातें, शयन, अधर-चुम्बन, नगर का घेर लेना, स्नान, चन्दन आदि का लेप तथा किसी बात का अति विस्तार भी रंगमंच के ऊपर निषिद्ध माना जाता है और इसलिए ये भी 'संसूच्य' कोटि में आते हैं।

(ग) संवाद के विचार से भी कथा के विभाग किये जाते हैं। ये तीन होते हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। किसी पात्र की उक्ति को यदि रंगशाला में उप-

स्थित सब पुरुष सुनें, तो इसे **सर्वश्राव्य** कहते हैं। और यदि उनमें से कुछ ही लोग सुनें, तो इसे **'नियतश्राव्य'** कहते हैं। यदि कहनेवाला ही पात्र अपनी उक्ति सुनता है और दूसरे लोग उसे नहीं सुनते हैं या उनके सुनने के अधिकारी नहीं होते हैं, तो इसे **'अश्राव्य'** कहते हैं। इस अश्राव्य को ही 'स्वगतकथन' कहा जाता है। 'नियतश्राव्य' दो भेद होते हैं—जनान्तिक और अपवारित। इस प्रकार संस्कृत के नाट्यशास्त्री विद्वान् इस बात पर भी गहरा विचार करते थे कि यह उक्ति सबके सुनने योग्य है या नहीं, परन्तु आजकल की दृष्टि से 'सर्वश्राव्य' को छोड़कर शेष दोनों भेद उपयोगी नहीं माने जाते। यदि स्वगतकथन की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की बात व्यक्त करते दिखलाई पड़ता है जब रंगमंच के ऊपर उसे छोड़कर दूसरा पात्र उपस्थित नहीं रहता। इसलिए इसे 'एकांत कथन' (सॉलिलॉकी) कहते हैं।

इस प्रकार संस्कृत के नाट्यकर्ताओं ने नाना दृष्टियों से नाटक के कथानक (या वस्तु) का विचार प्रस्तुत किया है। अब उसके विकास तथा परिवर्धन के नियम के विषय में ज्ञातव्य बातें संक्षेप में प्रस्तुत की जाती हैं।

(५) पञ्च सन्धि

अवस्था-पञ्चक

लोक में जिस प्रकार कार्य की स्पष्ट पाँच अवस्थायें होती हैं, नाटक में भी ठीक इसी प्रकार और इतनी ही अवस्थायें होती हैं। मान लीजिए, किसी छात्र ने अपने जीवन का लक्ष्य एम० ए० परीक्षा में सफलता को मान रखा है। इस कार्य की पहिली दशा में वह छात्र अपने कार्य की सिद्धि के लिए उत्सुकता दिखलाता है। उसके हृदय में तीव्र इच्छा जागती है कि वह परीक्षा पासकर अपने जीवन को कृतकृत्य बनावे। यह दशा **'आरम्भ'** कहलाती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार के व्यापार करता है। वह अपना घर छोड़कर महाविद्यालय में पढ़ता है, घोर अध्यवसाय करता है और अन्त में एम० ए० की परीक्षा देता है। ये सब व्यापार उसके प्रयत्न के सूचक हैं। यह उसकी दूसरी दशा है जो **'यत्न'** के नाम से पुकारी जाती है। परीक्षा देने पर उसे पता चलता है कि कुछ पर्चों का उत्तर तो वह ठीक-ठीक दे सका है, परन्तु कुछ के उत्तर बिल्कुल ठीक होने में उसे सन्देह रहता है। इसलिए उसे फ़ल की प्राप्ति की आशा बनी रहती है। यह तीसरी दशा है—**प्राप्त्याशा** जहाँ फल के होने की संभावना तो रहती है, किन्तु वह अपाय (विघ्न) तथा उपाय दोनों की आशंकाओं से घिरी रहती है। अनेक उपाय करने से जब विघ्नबाधायें हट जाती हैं और उसे विश्वास हो जाता है कि परीक्षाफल अच्छा ही होगा तब उस कार्य की चौथी दशा होती है—**नियताप्ति**, जिसमें विरुद्ध वस्तुओं

के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति आ जाती है। जब उसका नाम गजेट में निकल जाता है, वह पास हो जाता है और उसके जीवन का लक्ष्य पूरा हो जाता है, तब फल की प्राप्ति होने से कार्य की अन्तिम दशा होती है जिसका अन्वर्थक नाम 'फलागम' है (फल का आगम अर्थात् प्राप्ति)।

यही बात नाटक के कथानक के विषय में भी लागू होती है। नाटक के आदि से लेकर अन्त तक कथानक या कथावस्तु की पूर्वोक्त पाँच अवस्थायें होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। कार्य की दशा का यह विश्लेषण नितान्त सुन्दर तथा व्यावहारिक है तथा यह विश्लेषण गूढ़ मनोवैज्ञानिकता का पर्याप्त सूचक है। यह दिखलाता है कि मानव को अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नाना विरोधी घटनाओं के साथ संघर्ष करना पड़ता है। वह सीधे ढंग से अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, बल्कि रास्ते में आनेवाले विघ्नों को कुचलना तथा पददलित करना उसका आवश्यक कार्य होता है। इस प्रकार नाटक के कथानक में 'संघर्ष' अवश्य रहता है। यह सघर्ष—विरुद्ध घटनाओं का आपस में रगड़ खाना तथा अपनी प्रभुता जमाने का भाव—नाटक की कथा में बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। यह संघर्ष बाहरी घटनाओं में होने पर अत्यन्त स्थूल होता है, परन्तु मानसिक वृत्तियों में भी जब संघर्ष दृष्टिगोचर होता है, तब वह सूक्ष्म रूप धारण करता है। संघर्ष जितना भी सूक्ष्म होगा, वह नाटक भी उतना ही प्रभावशाली, अन्तरंग तथा प्रख्यात होगा। कालिदास तथा भवभूति के नाटकों की प्रसिद्धि इसी कारण से है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में कालिदास ने काम तथा धर्म का, कर्त्तव्य तथा स्नेह का परस्पर संघर्ष दिखलाया है तथा अन्त में धर्म की विजय होने में नाटक का महत्त्व और औदार्य परिस्फुटित होता है।

अर्थप्रकृति

फलरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक अवान्तर घटनायें मिलकर व्यापार करती हैं और तब कहीं जाकर फल की सिद्धि होती है। इन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। 'अर्थ' का तात्पर्य है प्रयोजन या वस्तु का फल और 'प्रकृति' का अर्थ है कारण या हेतु। ये प्रयोजन की सिद्धि के कारण होते हैं और इसीलिए इनका नाम 'अर्थप्रकृति' है। ये पाँच प्रकार के होते हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य।

फल के प्रथम हेतु को बीज कहते हैं। जिस प्रकार वृक्ष से फल पाने के लिए छोटा सा बीज जरूरी होता है, उसी प्रकार यह बीज भी होता है जो आरम्भ में बहुत ही छोटा है परन्तु आगे चलकर अनेक रूपों में विस्तार को पा लेता है। अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर जो घटना उसे प्रधान कथा के साथ जोड़नेवाली होती है उसे जोड़ देने के हेतु को 'बिन्दु' कहते हैं। यह बिन्दु उसी प्रकार नाटक में फैला दिखलाई पड़ता है जिस प्रकार

पानी के ऊपर तेल का बूंद। इसे 'बिन्दु' के नाम से पुकारने का यही रहस्य है। पताका तथा प्रकरी का लक्षण गत पृष्ठों में किया गया है। वह साध्य जिसकी सिद्धि के लिए नाटक में समग्र सामग्री एकत्र की जाती है 'कार्य' कहलाता है। अर्थ-प्रकृति के साथ पूर्व-निर्दिष्ट 'अवस्थापञ्चक' की तुलना करने पर दोनों के रूपों में भेद स्पष्टतया प्रतीत होता है। 'अर्थप्रकृति' तो भौतिक विभाजन है जिसका सम्बन्ध कथावस्तु से ही है। इनके होने पर नाटक का रूप या ढाँचा खड़ा हो जाता है। परन्तु अवस्थाओं का सम्बन्ध, जैसा हमने उदाहरणों में दिखलाया है, नायक की मानसदशा से होता है। कार्य की सिद्धि के निमित्त नायक की मानसिक प्रवृत्ति का विश्लेषण इस 'अवस्थापञ्चक' में किया गया है।

सन्धिपञ्चक

'सन्धि' का अर्थ होता है जोड़। कोई भी वस्तु बिना जोड़ों की नहीं होती। अनेक जोड़ो को समुचित रीति से मिला देने पर वह समग्र पदार्थ एक विशिष्ट समन्वित रूप में हमारे नेत्रों के सामने आता है। नाटक भी ऐसा ही एक समन्वित पदार्थ है जिसमें पाँच सन्धियाँ होती हैं। सन्धि का सामान्य लक्षण दशरूपक में इस प्रकार का है—

अन्तरैकार्यसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।

अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथाओं को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहलाता है। इसमें पूर्ववर्णित अर्थप्रकृतियों का कार्य के अवस्थापञ्चक के साथ क्रमशः योग या सम्बन्ध होता है जिससे पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) अवमर्श या विमर्श तथा (५) निर्बहण (या उपसंहार)। बीज तथा आरम्भ को मिलानेवाली सन्धि को, जिसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है, मुखसन्धि कहते हैं। विन्दु तथा यत्न को मिलानेवाली सन्धि **'प्रतिमुख'** होती है जिसमें मुखसन्धि में उत्पन्न वीज कभी लक्षित होता है और कभी अलक्षित रहता है। जिस सन्धि में उपाय कहीं दब जाय और उसकी खोज करने के लिए वीज का और भी विकास हो उसे **गर्भसन्धि** कहते हैं। इसमें प्राप्त्याशा तथा पताका का योग होना चाहिए। इनमें से 'पताका' की आवश्यकता सर्वत्र नहीं रहती—कहीं वह विद्यमान रहती है और कही नहीं। परन्तु प्राप्त्याशा का तो होना एकदम निश्चित है। इसमें फल छिपा रहता है और इसीलिए इसे 'गर्भसन्धि' कहते हैं। जहाँ पर फल का उपाय तो पहले की अपेक्षा अधिक विकसित होता है, परन्तु विघ्नों के आ जाने से उसमें आघात पहुँचता है—वहाँ **विमर्श सन्धि** होती है। 'विमर्श' का अर्थ है विचार करना। इस सन्धि में फल प्राप्ति की पर्यालोचना की जाती है। यही इस नामकरण का कारण है। इसमें नियताप्ति तथा प्रकरी का योग अपेक्षित होता है,

परन्तु प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक है । जहाँ कार्य तथा फलागम मिलते हैं अर्थात् प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है, वहाँ निर्वहण सन्धि होती है, । इन दोनों तत्त्वों के समन्वय के लिए इस वृक्ष पर दृष्टिपात कीजिए :—

सन्धि समन्विति

१. मुख—आरम्भ तथा बीज का संयोग ।
२ प्रतिमुख—यत्न तथा बिन्दु का योग ।
३. गर्भ—प्राप्त्याशा तथा पताका का योग ।
४. प्रकरी—नियताप्ति तथा प्रकरी का योग ।
५. निर्वहण—फलागम तथा कार्य का योग ।

सन्धियों का विचार करने से स्पष्ट है कि मुख से कार्य आरम्भ होता है, प्रतिमुख में बढ़ता है; गर्भ में उत्कर्ष को पाता है; विमर्श में वह फल की ओर झुकता है तथा निर्वहण में वह पूर्ण सिद्धि को प्राप्त करता है । इन पञ्च सिद्धियों की स्वरूप तुलना पाश्चात्य शैली में 'ड्रैमेटिक लाइन्स' से भली भाँति की जा सकती है । दोनों का स्वरूप प्रायः एक समान ही होता है । इनकी गति को इस रेखा-चित्र से समझिए—
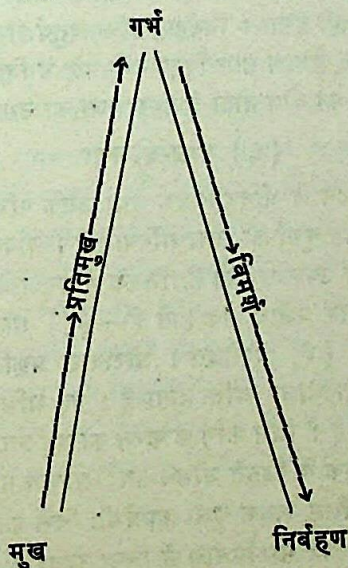
इसका निष्कर्ष यही है कि मुखसन्धि में निहित बीज ही अन्तिम सन्धि में फल के रूप में परिणत हो जाता है, परन्तु उसे अंकुरित तथा विकसित, पल्लवित तथा परिणत

होने में बीच की तीन सन्धियों के मध्य से होकर गुजरना बहुत ही जरूरी होता है। तभी उसका पूर्ण विकास होता है। पञ्च सन्धि की कल्पना का यही रहस्य है।

'रत्नावली' के कथानक का यहाँ भारतीय पद्धति से विश्लेषण किया जा रहा है। रत्नावली नाटिका का बीज वत्सराज के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारणभूत अनुकूल दैव है जो राजा के अनुराग को बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार प्रथम अंक में अनुराग बीज का प्रक्षेप है और यहीं मुख-सन्धि भी वर्तमान है। विन्दु का आक्षेप **'अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवौ'** वाले श्लोक में है। प्रतिमुख सन्धि द्वितीय अंक में आती है। जहाँ वत्सराज और सागरिका के मिलन के लिए उद्योगशील सुसंगता और विदूषक उस अनुरागबीज को पूर्णतया जान लेते हैं। तथा वासवदत्ता भी चित्रफलक के वृत्तान्त से उस अनुराग का अनुमान करती है। इस प्रकार दृश्य और अदृश्यरूप से विकसित होने के कारण इस अंक में प्रतिमुख सन्धि है। गर्भ सन्धि तृतीय अंक से है जहाँ वेश बदलकर सागरिका के अभिसरण से राजा के हृदय में उसकी प्राप्ति की आशा बँध जाती है, परन्तु वासवदत्ता के अड़ंगा लगा देने से उस आशा पर भी पानी फिर जाता है। अवमर्श सन्धि रत्नावली के चतुर्थ अंक में आग लगने तक के कथानक तक है, क्योंकि यहाँ वासवदत्ता की प्रसन्नता हो जाने से रत्नावली की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न दृष्टिगोचर नहीं होता। निर्वहण सन्धि चतुर्थ अंक के अंत में है जहाँ वसुभूति तथा बाभ्रव्य के साक्षात् प्रमाण तथा विदूषक के गले में विद्यमान रत्नावली को देखकर सागरिका के सच्चे रूप का बोध होता है तथा राजा का उससे मिलन सम्पन्न होता है।

(६) पात्र-योजना

नेता—नेता के वर्णन के भीतर नायक तथा उसके परिकर का भी समावेश किया जाता है। नेता में शोभन गुणों की सत्ता अनिवार्य है। नायक तथा नायिका के कतिपय ढाँचे पहिले से बने-बनाये उपलब्ध होते हैं, जिनके भीतर प्रत्येक नाटक का नेता रखा जा सकता है। नेता के चार प्रधान भेद होते हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरप्रशान्त तथा (४) धीरोद्धत। **धीरोदात्त** प्रकृति का नायक प्रायः राजा या राजकुल में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति होता है। वह अभिमानशून्य, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा विनयी होता है। जिस काम के करने का वह व्रत ग्रहण कर लेता है उसे वह कभी नहीं छोड़ता। नायक के जितने शोभन तथा सामान्य गुण होते हैं वे सब इस नेता में पाए जाते हैं। **धीरललित** नायक कला का प्रेमी, चित्त का रसिक तथा राजपाट की चिन्ता से मुक्त होता है। वह भोगविलास में लिप्त रहता है; प्रेम का उपासक होता है और अनेक पत्नीवाला राजा होता है। राज-कार्य को मन्त्री के ऊपर छोड़कर वह अपने आपको भोग-विलास में ही लगाये रहता है। धीरोदात्त के उदाहरण हैं राम तथा दुष्यन्त

जो नाटक के नायक हैं। धीरललित नायक नाटिका का नेता होता है जैसे रत्नावली नाटिका का नेता राजा उदयन। धीरप्रशान्त ब्राह्मण तथा वैश्य जाति का व्यक्ति स्वभाव से शान्त होता है और इसलिए इस प्रकार का नायक इन्हीं वर्णों में पाया जाता है। वह कला का प्रेमी भी होता है। प्रकरण का नेता इसी कोटि का होता है जैसे मृच्छकटिक का नेता चारुदत्त तथा मालतीमाधव का नेता माधव। धीरोद्धत नायक घमण्डी, ईर्ष्यालु, बकवादी और छली होता है, जैसे भीमसेन। नायिका का वर्णन स्थानाभाव से यहाँ नहीं किया गया है।

प्रकृतिविचार

भरतमुनि ने पात्रों को प्रकृति के अनुसार तीन वर्गों में बाँटा है—उत्तम प्रकृति, मध्यम प्रकृति तथा अधम प्रकृति। 'प्रकृति' का अर्थ है स्वभाव। स्वभाव के अनुसार ये तीन भेद हैं और इस प्रकृति के अनुसार ही उनके व्यापार होते हैं। उत्तम प्रकृति-वाला पुरुष सदा उदात्त व्यापारों में ही आसक्त होता है। वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जिससे उसकी गम्भीरता तथा सहानुभूति को कभी धक्का पहुँचे। मध्यम प्रकृति का कार्य साधारण लोगों का व्यापार होता है। अधम प्रकृतिवाला पुरुष स्वभाव से ही नीचे की ओर जानेवाला होता है। वह नीचों के साथ बैठता-उठता है, काम-धंधा करता है। उधर ही उसकी चित्त-वृत्ति का रुझान होता है। एक बार जिस पात्र की जो भी प्रकृति स्वीकृत कर ली जाती है उसे पूरे नाटक में उसी प्रकार निर्वाह करना पड़ता है। उसकी बोल-चाल, भाषण-वचन सब उसकी प्रकृति के अनुरूप होने चाहिए।

एक उदाहरण से इसे समझना चाहिए। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में कालि-दास ने महर्षि कण्व को उनकी उदात्त प्रकृति के अनुसार ही चित्रित किया है। वे उत्तम प्रकृति के पात्र हैं। फलतः उनका प्रत्येक कार्य, भाषा तथा भाव, कथन तथा आचरण, सब कुछ उसी प्रकृति के अनुरूप हैं। वे वैदिक ऋषि हैं। इसके लिए उनके द्वारा प्रयुक्त उपमाओं में वैदिक यज्ञ याग की सुगन्धि आती है। जब शकुन्तला की राजा दुष्यन्त के प्रति प्रेमभावना का पता उन्हें मिलता है तब वे कह उठते हैं—धूम से आकुलित दृष्टि होने पर भी सौभाग्य से यजमान की आहुति ठीक अग्नि में ही पड़ी। यह उपमा यज्ञ से सम्बन्ध रखती है। उनके मुख से आशीर्वादवचन भी वैदिक छन्द के द्वारा अवतीर्ण किये गये हैं। यह सब कुछ उनकी उत्तम प्रकृति के अनुरूप ही निबद्ध किया गया है।

विदूषक के चरित्र की मीमांसा कीजिए। यह सब कुछ उसकी हास्य प्रकृति के अनुरूप ही है। वह भोजनभट्ट है। भोजन में अत्यासक्ति उसकी प्रधान रुचि है और अपने वचनों से दर्शकों के हृदय में हास्य उत्पन्न करना उसका मुख्य कार्य है। जब वह बातचीत करता है तब वह अपने प्रिय विषय भोजन को कभी भुलाता ही नहीं। कालि-

दास की एतद्विषयक उक्ति बड़ी सुन्दर है—**सर्वदा औदरिकस्य अभ्यवहार्यमेव विषयः**—उदरभक्त-पेटू पुरुष के लिए खाना-पीना ही हमेशा बातचीत का विषय हुआ करता है। इसलिए जब विदूषक पूर्णिमा की रात को चन्द्रोदय होते देख कह उठता है कि नीले आकाश में उगनेवाला पूर्ण चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता है मानों नीलम के पात्र में रखा हुआ बनारसी मक्खन का गोला, तब हम कवि की सहृदयता पर रीझे बिना नहीं रह सकते। 'विद्धशालभञ्जिका' नाटिका का विदूषक सिन्धुवार के फूलों की उपमा सफेद भात के दानों के साथ देता है। यह कथन अपने औचित्य के कारण दोनों कार्य करता है—लोगों में हास्यरस भी उत्पन्न करता है तथा विदूषक की हास्यमयी प्रकृति को भी अभिव्यक्त करता है।

उसका रूप भी वैसे ही हास्यवर्धक होता है। विदूषक होता है गंजी खोपड़ीवाला, पीली आँखोंवाला, हास्य स्वभाववाला, पीले बालवाला, भूरी दाढ़ीवाला तथा नाचनेवाला। अवसर के अनुकूल आचरण करनेवाली प्रतिभा से सम्पन्न, चारों प्रकार के मर्म को जाननेवाला, वेद का वेत्ता तथा नायक के मनोविनोद के साधन का पहुँचानेवाला विदूषक होता है—

> **खलतिः पिंगलाक्षश्च हास्यानूकविभूषितः।**
> **पिंगकेशो हरिश्मश्रुर्नर्तकश्च विदूषकः॥**
> **तदा त्वप्रतिभो नर्मचतुर्भेदप्रयोगवित्।**
> **वेदविन्नर्मवेदी च यो नेतुः स्यात् स विदूषकः॥**
>
> —**शारदातनय**

रंगमंच के ऊपर अभिनय करनेवाले व्यक्तियों के स्वरूप में भी भेद किया जाता है। नट, भरत तथा शैलूष—इन तीनों का काम अभिनय करना ही है, परन्तु कार्यों में वैलक्षण्य भी है। जो लोग रस और भाव से युक्त भूतकाल की कथा को स्वाभाविक रीति से अभिनीत करते हैं, वे नट कहलाते हैं। भरत केवल दूसरे के वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टाओं का अनुकरण भाषा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियों के साथ करता है। अतः भरत का कार्य नट की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली होता है। जो वर्तमान काल के लोगों के चरित्र को भूमिका (पार्ट) ग्रहण कर दिखलाता है वह 'शैलूष' (नकल उतारनेवाला) कहलाता है। इस प्रकार अन्य पात्रों के रूप तथा कार्य का वर्णन बड़ी सुन्दरता से शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' नामक अपने ग्रन्थ में किया है।

इस प्रकार भरतमुनि तथा शारदातनय आदि नाट्यकारों ने 'पात्रयोजना' के विषय में भी बड़ी गम्भीर तथा उपादेय बातें लिखी हैं जिनका अनुशीलन आज के युग में भी किसी प्रकार कम उपयोगी तथा कम महत्त्वशाली नहीं है।

(७) संवादयोजना

संवादों के द्वारा ही नाटक का कथानक आगे बढ़ता है और अपनी सिद्धि को प्राप्त करता है। संवाद के विषय में नाट्याचार्यों ने बड़ी उपादेय बातें विस्तार के साथ लिखी हैं। कौन नाटक दर्शकों के लिए सुन्दर तथा उपयोगी होता है? इस प्रश्न का उत्तर भरतमुनि ने यों दिया है—"नाटक मृदु तथा ललित पदों से युक्त तथा अस्पष्ट शब्द अर्थ से हीन होना चाहिए। बुद्धिमानों को सुख देनेवाला, बुद्धिमानों के द्वारा खेला जा सकनेवाला बहुत से रसों को व्यक्त करने का मार्ग खोलनेवाला, ठीक सन्धियों से सधा हुआ ही नाटक दर्शकों के लिए उपयोगी होता है।" इसका तात्पर्य यह है कि भरतमुनि ने संवादयोजना के विषय में तीन बातें स्पष्टतः प्रतिपादित की हैं। एक तो यह कि संवाद कहीं भी ऐसा न होना चाहिए कि जिसके अर्थ समझने में श्रोताओं को कठिनाई हो। सुनते ही वक्ता का भाव स्पष्ट हो जाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि उन संवादों से दर्शकों को रसानुभूति होनी चाहिए अर्थात् संवाद न नीरस होने चाहिए और न केवल सूचना देनेवाला होना चाहिए, बल्कि रस से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। तीसरी बात यह है कि बुद्धिमान् लोग ही उसे खेल सकते हैं। भरत की सम्मति में संवाद की योजना करते समय नाटककार को अलंकार के प्रपंच में नहीं पड़ना चाहिए; उसे सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसमें ऐसी बात न आवे जो श्रोताओं की समझ में न आवे, या अस्वाभाविक हो या उचित न हो और जिसके अनुसार अभिनय करने में अभिनेताओं को असुविधा हो। संवाद के लिए औचित्य का बहुत ही अधिक महत्त्व होता है। क्या कहना चाहिए? कब कहना चाहिए? कैसे कहना चाहिए? इन प्रश्नों को समाधान कर विरचित संवाद ही प्रेक्षकों के हृदय को आकृष्ट करता है, दूसरा नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि नाटककार को काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिए। कविकर्म के लिए काव्यशास्त्र का अनुशीलन नितान्त आवश्यक होता है, परन्तु कवि को नाटक में बलपूर्वक खोजकर अलंकारों का विधान नहीं करना चाहिए, अन्यथा भाषा दुरूह, अस्वाभाविक, क्लिष्ट तथा दुर्बोध बन जाती है।

संवाद के लिए भाषा का अध्ययन आवश्यक है। संस्कृत के नाटकों में संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का मिश्रण रहता है जो पात्र की सामाजिक और सांस्कृतिक योग्यता के अनुसार ही निबद्ध की जाती है। संवाद के लिए काव्य के समस्त गुण आवश्यक होते हैं, परन्तु दो गुणों की आवश्यकता अनिवार्य है। एक है प्रसाद और दूसरा है कुतूहल। 'प्रसाद' के द्वारा वक्ता की बात श्रोता के हृदय तक पहुँचती है। वह उसे भलीभाँति समझता है और उसका आनन्द लेने की ओर प्रवृत्त होता है। 'कुतूहल' के द्वारा दर्शक की प्रवृत्ति नाटक देखने की ओर स्वतः जागरूक रहती है। यदि संवाद कुतूहलवर्धन न

करेगा, तो वह फीका, अरुचिकर तथा अनाकर्षक होगा। संवाद में सदा आकर्षण रहना चाहिए। संवाद के दोष वे ही हैं जो सामान्य रूप से काव्य के दोष होते हैं—क्लिष्ट, अश्लील, अमंगल, सन्दिग्धार्थ आदि।

आचार्यों ने पात्रों के उच्चारण के लिए विशेष नियम बना रखा है। उच्चारण करनेवाले या पढ़नेवाले पात्र के गुण छः होते हैं—माधुर्य, अक्षरव्यक्ति, पदच्छेद, सुस्वरता, धैर्य तथा लयसमर्थता। शब्दों का उच्चारण मीठा होना चाहिए, कर्णकटु नहीं। अक्षरों को स्पष्ट बोलना चाहिए तथा अलग अलग बोलना चाहिए। स्वरों के उचित चढ़ाव-उतार के साथ बोलना चाहिए। 'सुस्वरता' बहुत ही महत्त्वपूर्ण गुण है। रसों के अनुसार स्वर का परिवर्तन होता है। शृंगार कोमल स्वर चाहता है, परन्तु रौद्र उग्र स्वर। स्वरों में भी प्रसंग तथा विषय के अनुसार चढ़ाव-उतार होना ही चाहिए। तभी तो बोलने का प्रभाव श्रोता पर पड़ता है और उसका ध्यान आकृष्ट हो जाता है। बोलने में उचित लय भी होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि संवाद का कथन ऐसे ढंग से होना चाहिए कि श्रोतागण आकृष्ट हो जायँ तथा पात्रों के कथनोपकथन में रस लेते हुए उसे सुनें। तभी तो पात्रों की भाषा में आकर्षण उत्पन्न होता है।

इस प्रकार भरतमुनि ने संवाद के दोनों तत्त्वों—भाषातत्त्व तथा काव्यतत्त्व—पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किया है जिसका अनुसरण आज भी नाटक को उपादेय तथा रोचक बनाने के लिए उपयुक्त है। भारतीय नाटक न केवल आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित रहता है और न केवल यथार्थवाद पर, प्रत्युत उसमें दोनों का मञ्जुल समन्वय घटित होता है और यही कारण है कि आज के वैज्ञानिक रंगमंच के युग में भी संस्कृत के नाटकों का अभिनय उतना ही आकर्षक तथा मनोरञ्जक सिद्ध हो रहा है। लन्दन, न्यूयार्क तथा मेलबोर्न में शाकुन्तल तथा मृच्छकटिक के सफल अभिनय से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो रही है।

(८) रूपक के भेद

इन्हीं तीन तत्त्व के—वस्तु, नेता तथा रस के—आधार पर रूपक के १० भेद किये जाते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है:—

(१) **नाटक**—कथावस्तु इतिहास में तथा पुराण में प्रसिद्ध होनी चाहिए। पाँचों सन्धियों का विकास होना चाहिए। अंकों की संख्या ५ से लेकर १० तक होनी चाहिए। नायक होता है धीरोदात्त; वीर या शृंगार रस की मुख्यता रहती है। वृत्ति सात्त्वती या आरभटी होती है।

(२) **प्रकरण**—वस्तु कल्पित, सन्धि पाँच, नायक धीरप्रशान्त, नायिका कुल-

वती या वेश्या; रस शृंगार, वृत्ति कैशिकी, अंक ५ से लेकर १० तक; नायक अमात्य, विप्र या वणिक् में से कोई एक।

(३) **भाण**—वस्तु कल्पित; जिसमें धूर्त के चरित का विशेष वर्णन रहता है; मुख तथा निर्वहण सन्धि; धूर्त या विट नायक; वीर तथा शृंगार रस; अंक एक ही; भारती या कैशिकी वृत्ति; एक ही पात्र की उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग।

(४) **प्रहसन**—वस्तु कल्पित; मुख तथा निर्वहण सन्धि; पाखंडी, कामुक, धूर्त आदि पात्र; रस हास्य, अंक एक ही। विष्कम्भक और प्रवेशक से रहित।

(५) **व्यायोग**—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु; गर्भ और विमर्श रहित तीन सन्धियाँ, धीरोद्धत नायक, अंक एक; हास्य तथा शृंगार से रहित छः रस; सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति; स्त्री के कारण युद्ध नहीं, एक दिन का चरित दिखलाया जाता है।

(६) **डिम**—पौराणिक वस्तु; चार अंक; विमर्श से हीन चार सन्धियों में विभक्त कथानक; धीरोद्धत सोलह नायक (देव, यक्ष, गन्धर्व आदि); रौद्ररस; सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति; माया, इन्द्रजाल की चेष्टायें। विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होता। शृंगार तथा हास्य का अभाव तथा इसीलिए कैशिकी वृत्ति का अभाव। 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक डिम ही था जिसके प्रयोग से नाटक का आरम्भ हुआ था।

(७) **समवकार**—दैत्य-दानवों से सम्बद्ध प्रसिद्ध पौराणिक कथा; विमर्श सन्धि से रहित चार सन्धियों की स्थिति; अंक तीन; धीरोदात्त तथा धीरोद्धत प्रकृति के १२ नायक, वीररस; सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति।

(८) **वीथी**—कल्पित वस्तु; एक अंक, शृंगारप्रिय नायक; शृंगाररस; कैशिकी वृत्ति।

(९) **अंक**—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु; मुख और निर्वहण सन्धि; प्राकृत पुरुष नायक, अंक एक; करुणरस; सात्त्वती वृत्ति; वाग्युद्ध और निर्वेदवचन की सत्ता।

(१०) **ईहामृग**—मिश्रित कथावस्तु; चार अंक; गर्भ और विमर्श से रहित तीन सन्धियाँ, धीरोदात्त नायक; शृंगाररस; प्रतिनायक धीरोद्धत। मृगी के समान अलभ्य कामिनी की इच्छा होने से इसका विशिष्ट नामकरण।

नाटिका में नाटक तथा प्रकरण का मिश्रण रहता है। वस्तु कल्पित होती है तथा नायक धीरललित; रस शृंगाररस तथा कैशिकी वृत्ति; अंक चार। स्त्रियों का आधिक्य। प्राकृत भाषा में बिल्कुल होने पर यह 'नाटिका' ही 'सट्टक' का नाम धारण करती है।

रूपक के ये ही मुख्य भेद होते हैं जिनमें नाटक सबसे प्रसिद्ध होता है। इसके बाद प्रकरण, प्रहसन तथा नाटिका मुख्य रूपक माने जा सकते हैं।

(९) प्रेक्षागृह

अत्यन्त प्राचीन काल में नाटक का अभिनय बाहर मैदान में आकाश के नीचे ही हुआ करता था, परन्तु नाना प्रकार के विघ्नों के उठ खड़े होने पर रंगमंच का आविर्भाव हुआ। नाटचशास्त्र 'प्रेक्षागृह' का विवरण बड़े विस्तार से प्रस्तुत करता है। प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। इनमें विकृष्ट भेद विस्तृत होता था जिसमें देवताओं से सम्बद्ध दृश्य दिखलाये जाते थे। चतुरस्र स्पष्ट ही चौकोना होता था; परिमाण में मध्यम आकार का होता था और विशेष कर राजाओं के लिए निश्चित किया गया था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढंग का प्रेक्षागृह था जो मात्रा में सबसे छोटा था तथा सामान्य प्रकृति के लिए विहित था। प्रेक्षागृहों के विधान के विषय में भरतमुनि बड़े ही वैज्ञानिक हैं। उनका स्पष्ट कथन ह कि प्रेक्षागृह का विस्तार में अधिक होना नितान्त अनुचित है, क्योंकि ऐसी दशा में उच्चारित शब्द स्पष्ट रूप से दर्शकों के कानों तक पहुँच नहीं सकता। 'सुश्रव्यता' नाटच का प्रधान गुण है और इसकी सिद्धि मध्यम परिमाणवाले प्रेक्षागृहों के अस्तित्व पर ही आश्रित हो सकती है—

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठचमुच्चारितस्वरम्।
अनभिव्यक्तवर्णत्वात् विस्वरत्वं भृशं व्रजेत्॥
(नाटचशास्त्र २।१९)

प्रेक्षागृह का आधा भाग तो दर्शकों के निमित्त सुरक्षित रखा जाता था और आधा भाग नटों के व्यवसाय के लिए निश्चित रहता था। इसमें भी आधा भाग रंगपीठ कहलाता था जिसके ऊपर अभिनय कार्य निष्पन्न होता था। सबसे पिछला भाग 'रंगशीर्ष' के नाम से अभिहित होता था और यहीं नटों के लिए नेपथ्य विधान होता था। प्रेक्षागृहों के विभिन्न स्थानों पर नाना देवताओं की पूजा होती थी। सूत्रधार का वस्तुतः इन आवश्यक विधानों का सम्पादन ही मुख्य कार्य होता था। यह आरम्भिक पूजन 'पूर्वरंग' कहलाता था और यह एक विस्तृत व्यापार होता था जिसका केवल अंतिम अंश नान्दी के नाम से आज भी संस्कृत नाटकों में अवशिष्ट है। इस नान्दी के अनन्तर ही पात्र का प्रवेश होता था। पूर्वरंगी के अवसान में श्रोताओं के हृदयावर्जन के लिए संगीत का यथावत् संविधान होता था और इस अवसर पर गाई जानेवाली गीति ध्रुवा के नाम से विख्यात है। ध्रुवा गीति के पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—उत्थापनी, परिवर्ता, अपकृष्टा, अड्डिता तथा विक्षिप्ता। इनका गायन विशिष्ट स्वर में विशिष्ट ताल तथा मात्रा के योग से होता था।

भरत मुनि का आदेश है कि नाटचमण्डप पर्वत की गुफाओं के आकार का होना चाहिए जिसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपर खण्ड में देवताओं सेसम्बद्ध

घटनायें प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था। खिड़कियाँ कम होनी चाहिए। वायु का संचार कम होना उचित है। ऐसा होने से उस मण्डप में गम्भीर शब्द हो सकता है। रंगमंच की रचना निर्वात में (विशेष हवादार जगहों में नहीं) होना चाहिए। नहीं तो आवाज गम्भीर न होगी और शब्दों का श्रवण श्रोताओं को ठीक-ठीक नहीं हो सकेगा—

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीर-शब्दवान्॥

दर्शकों के बैठने के लिए आसन का उचित प्रबन्ध होता है। आजकल के समान दर्शकों के बैठने के लिए उस समय की गैलरी या सीढ़ीनुमा आसन की व्यवस्था कम आश्चर्यजनक नहीं है। दर्शकों के बैठने के लिए सीढ़ी की तरह आसन होते थे (सोपानाकृति)। जमीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं और इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। निवेशनों की बनावट तथा व्यवस्था ऐसी होती थी कि कहीं पर बैठ-कर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भली भाँति किया जा सकता था। यह बात बड़े महत्व की है और प्राचीन आचार्यों की व्यावहारिक बुद्धि का विशेष परिचायक है—

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधै - र्भूमिभाग - समुत्थितैः।
रंगपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम्॥

भारत का प्राचीन रंगमंच यथार्थवादी होते हुए भी आदर्शवादी था। वहाँ घृणोत्पादक या उद्वेगजनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। रंगपीठ पर भोजन तथा शयन, युद्ध तथा आक्रमण आदि का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े और हाथी रंगमंच पर दिखालाये जाते थे। उस समय घासफूस के बने पदार्थों को चाम से मढ़कर घोड़े या हाथी का रूप बनाकर रंगमंच पर दिखलाने की प्रथा थी। भारतीय रंगमंच के प्रभाव का बृहत्तर भारत की रंगशाला पर पड़ना कोई अचरज की चीज नहीं है। कम्बोज, जावा तथा स्याम की रंगशालायें ठीक भारतीय रंगशाला के समान होती थीं। आज भी जावा में छाया नाटकों का (जिन्हें वहाँ 'वयंग' कहते हैं) बहुत प्रचार है जो भारत के 'पुत्तलिका नृत्य' के समान ही प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रकार जावा का साहित्य, नाटकों के विषय तथा प्रकार के समान अभिनय तथा प्रयोग के लिए भी भारतवर्ष का चिर ऋणी रहेगा।

(१०) अभिनय

अब प्राचीन काल के अभिनय की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अभिनय

चार प्रकार के होते हैं—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य तथा (४) सात्त्विक। इन चारों अभिनयों के द्वारा प्रस्तुत कथावस्तु ही दर्शकों के सामने अभिनेय पदार्थ का यथार्थ रूप दिखला सकती है तथा उनका मनोरंजन कर सकती है। आंगिक अभिनय का सम्बन्ध दृष्टि, मुख, हस्त तथा पाद आदि नाना अवयवों से है। भरतमुनि ने इस अभिनय का इतना सांगोपांग विस्तृत विवरण दिया है कि आजकल के वैज्ञानिक युग में भी वह विलक्षण तथा विचित्र प्रतीत होता है। हाथों के द्वारा प्रस्तुत अभिनय का प्रकार, दो चार दस नहीं प्रत्युत पूरे १०८ हैं। इन अंगहारों का रूप भी समझना आजकल के लिए असम्भव हो जाता, परन्तु धन्य है तेरहवीं शती में दक्षिण भारत पर शासन करनेवाले राजसिंह (१२४३ ई०—१२७३ ई०) को, जिन्होंने चिदम्बरम् में सुप्रसिद्ध शैव मन्दिर के गोपुर में इन समस्त करणों को नाटयशास्त्र के तद्विषयक श्लोकों के साथ खुदवाया है। ये आज भी नटराज मन्दिर की शोभा बढ़ा रहे हैं। रस का सद्यः उन्मीलन दर्शकों के हृदय में करना ही नाटय का प्रधान लक्ष्य है और इस कार्य में नेत्रों का विधान बड़ा ही सहायक होता है। भरत ने ३६ प्रकार की रस तथा भावोद्बोधक दृष्टियों का विवरण अपने ग्रंथ में दिया है जिनसे हमारे मनोभावों की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से दर्शकों को होती है। इस प्रसंग के महनीय मनोवैज्ञानिक मूल्य की ओर हम अपने श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करना उचित समझते हैं।

वाचिक अभिनय में नटों तथा पात्रों के पाठय का विधान रहता है। पाठय के द्वारा ही कोई पात्र अपनी भावना अभिव्यक्त करता है तथा अन्य पात्रों के साथ कथनोपकथन में प्रवृत्त होता है। इसीलिए भरत ने इसे 'नाटय का शरीर' माना है तथा इस कार्य में विशेष यत्न करने के लिए कहा है—

> **वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाटयस्येयं तनुः स्मृता ।**
> **अंगनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि॥**
>
> **(नाटयशास्त्र—५।२)**

पाठय दो प्रकार का होता है—संस्कृत तथा प्राकृत। उच्च कोटि के पात्रों की भाषा संस्कृत होती है तथा नीच श्रेणी के पात्रों की भाषा प्राकृत होती है। नाटय का पाठय कवित्वमय होता है। अतः उसके लिए दोषों का परिहार, गुण तथा अलंकारों का संग्रह करना नितान्त आवश्यक होता है। अभिनय का सर्वस्व होता है—औचित्य का विधान, जो वस्तु जिस प्रकार की होती है उसे उसी प्रकार से रंगमंच के ऊपर दिखलाना औचित्य की परिधि के भीतर आता है। भरत का विधान बड़ा ही साहित्यिक, सरस तथा उपादेय है। प्रथम तो उम्र के विचार से उचित वेष होना चाहिए। वेष के अनुरूप होनी चाहिए गति तथा क्रिया। पाठय गतिप्रचार के अनुरूप होता है तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय

करना चाहिए। इस नियम के यथावत् पालन करने से ही नाटचकला में सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

आहार्य अभिनय के भीतर वेशभूषा तथा आभूषणों का विधान किया जाता है। अधिक आभूषणों के धारण करने से नट श्रान्त हो जाता है, इसीलिए ठोस सोने के गहनों के स्थान पर लाह से भरे गहने होने चाहिए। इसी प्रसंग में श्मश्रुकर्म का विधान भी किया जाता था। दाढ़ी रखने की प्रथा प्राचीन भारत में बहुलता से थी। अतः रंगमंच पर अवतीर्ण होनेवाले पात्रों के वेश को सजाने के लिए अच्छी दाढ़ी रखने का भी विशेष नियम रखा जाता था।

सात्त्विक अभिनय अन्तिम प्रकार का अभिनय है जिसमें पुरुषों की तथा स्त्रियों की नाना चेष्टाओं—हाव, भाव, हेला आदि—का प्रदर्शन दिखलाया जाता था। नाटच के साथ संगीत का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। संगीत के प्रयोग से अभिनय नितान्त स्निग्ध तथा मंजुल हो जाता है। अतः आजकल की भाँति प्राचीन काल में संगीत का मधुर संविधान रंगमंच पर अवश्य होता था।

प्रवृत्ति—नाटच प्राचीन काल में जीवित कला थी। नाटच प्रदर्शन की तत्कालीन अनेक शैलियाँ थीं जिनमें चार शैली का, जिसे प्रवृत्ति कहते थे, भरतमुनि ने निर्देश किया है। दाक्षिणात्य प्रवृत्ति का प्रचलन विदर्भ तथा उससे दक्षिण देशों में था। आवन्तिका में वीर तथा शृंगार रसों का प्रदर्शन मुख्य था। औड्र मागधी पूर्व भारत की प्रवृत्ति थी तथा मध्य देश की शैली पांचाली के नाम से पुकारी जाती थी।

भारतीय नाटचशास्त्र का यह एक सामान्य चित्रण है। इससे स्पष्ट है कि नाटच भारतवर्ष की प्रतिभा का स्वतंत्र विलास है। जिस 'जवनिका' शब्द का आश्रय लेकर नाटच के ऊपर यूनानी प्रभाव बतलाया जाता है वह शब्द वस्तुतः जवनिका है, यवनिका नहीं। प्रयोग नाटच का साधन है और दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष लक्ष्य। इस व्यवसाय में प्राचीन नाटच सर्वथा समर्थ होता था, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है।

(११) जवनिका

नाटक के परदे को 'जवनिका' कहते हैं। यह नाटचशास्त्र का कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है। 'जवनिका' शब्द का प्रयोग 'पटमण्डप' (खेमा) को ढकनेवाले परदे के लिए किया जाता था जिसे आजकल हिंदी में 'कनात' कहते हैं। नाव की गति को तीव्र करने के लिए ग़ोनधर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपड़े को मल्लाह बाँधते हैं वह भी संस्कृत में 'जवनिका' ही कहलाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है—ढकना, आवरण करना और इसलिए जवनिका का सामान्य अर्थ होता है किसी वस्तु को

छिपा देनेवाला परदा। 'जवनिका' का एक दूसरा रूप 'जवनी' भी इसी अर्थ में गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' (आर्या संख्या ५३८) में प्रयुक्त है। फलतः 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है—आवरण, परदा और इस प्रकार यह संस्कृत भाषा का एक सामान्य शब्द है। गति तथा वेगवाचक 'जु' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर यह शब्द निष्पन्न होता है। अतः 'जवनिका' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर-उधर हटाई जा सके। इस शब्द का प्रयोग संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी बहुशः किया गया है।

वस्तुस्थिति यही है। परन्तु राजशेखर के प्राकृत भाषा में लिखे गये 'कर्पूरमञ्जरी' नामक सट्टक के अंक 'जवनिकान्तर' कहलाते हैं। इसी शब्द का संस्कृत प्रतिरूप 'यवनिका' कर लिया गया है जो अनेक झगड़ों, आक्षेपों तथा विरुद्ध भावनाओं का घर है। 'यवनिका' शब्द की मीमांसा कर यूरोपीय विद्वान् भारतीय नाटक के परदे को ही यवनदेश (यूनान) से उधार लिया हुआ नहीं मानते, प्रत्युत वे संस्कृत के नाटकों के अभ्युदय तथा विकाश के ऊपर भी यूनानी नाटकों का गहरा प्रभाव मानते हैं। परन्तु यह बात मानने योग्य नहीं है। यूनानी नाटकों का अभिनय खुले मैदान में दर्शकों के सुभीते के लिए किया जाता था। वहाँ किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। तब उधार कैसे लिया गया? यदि यह शब्द यूनानी रंगमंच से लिया गया होता, तो यह अपने सीमित पारिभाषिक अर्थ में ही व्यवहृत होता, परन्तु वस्तुस्थिति इससे नितान्त भिन्न है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार अभिनय कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। यदि मूलशब्द 'यवनिका' ही होता, तो 'यवनी' का भी प्रयोग परदे के लिये न्याय्य तथा उचित होता। ऐसा न होने से स्पष्ट है कि भारतीय नाटककार 'जवनिका' के लिए यवनों के ऋणी नहीं हैं। नाटक का परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नहीं।

(१२) नाटक का उद्गम

भारतवर्ष में नाटक का उद्गम किस प्रकार हुआ? किन उपकरणों को लेकर भारतीयों ने दृश्य काव्य का निर्माण किया? ये प्रश्न आज भी यथार्थ रूप से निर्णीत नहीं हुए। इन प्रश्नों का उत्तर प्राचीन काल से लेकर आजतक नाना विद्वानों ने अनेक रूपों में दिया है, परन्तु उनके मतों में एकता नहीं दीख पड़ती। यूरोप के विद्वानों ने भी इस विषय में बहुत कुछ लिखा है, परन्तु उनके मतों में त्रुटि यह है कि वे यूनानी नाटकों की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित सिद्धान्तों को भारतीय नाटक के उद्गम के ऊपर आरोप करते हैं अथवा भारत की आधुनिक नाट्य पद्धति के आधार पर सुदूर प्राचीन में नाटक

के उद्गम के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं। देश-काल की इस भिन्नता के कारण ये मत सर्वथा निर्दोष और ग्राह्य सिद्ध नहीं हुए हैं। यहाँ प्रधान मतों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

डा० रिजवे की मान्यता है कि नाटक का उद्गम वीरपूजा के तथ्य पर आधारित है। यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान सन्तान अपने दिवंगत शक्तिशाली पितरों के प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन करती है, उनके सुन्दर कार्यों का अभिनय कर अपना मनोरंजन करती है और उससे उपयोगी शिक्षा ग्रहण करती है। भारतवर्ष में रामलीला और कृष्णलीला इस प्रवृत्ति के जागरूक दृष्टान्त हैं। यह मत तो सिद्धान्ततः ठीक है, परन्तु आजकल के प्रचलित नाटकीय उत्सवों के आधार पर नाटक का मूल खोज निकालना दुःसाहस का काम है।

डा० कीथ का मत भी इसी प्रकार ग्राह्य नहीं माना जा सकता। उनका कहना है कि प्रकृति के परिवर्तनों को जन-साधारण के सामने मूर्तरूप से दिखलाने की प्रवृत्ति से ही भारत में नाटक का उद्गम सम्पन्न हुआ। पतंजलि के 'महाभाष्य' में उल्लिखित 'कंसवध' नाटक के अभिनय पर दृष्टिपात करने से इस तथ्य का संकेत मिल सकता है। महाभाष्य का कहना है कि विजयी कृष्ण तथा उनके अनुयायी अभिनय के समय अपना मुँह लाल रंग में रँगा करते थे; विजित कंस और उनके अनुयायी इसके विपरीत अपने मुँह को काला रँगते थे। लाल विजय का रंग है और काला पराजय का। फलतः कंस के ऊपर कृष्ण की विजय, कीथ की दृष्टि में हेमन्त के ऊपर वसन्त की विजय का संकेत है। कृष्ण की विजय उद्भिद् जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीकमात्र है। इस मत का नाम है थ्योरी आफ विजिटेशन स्पिरिट अर्थात् उद्भिज्जगत् की आत्मा की आविर्भूति का सिद्धान्त। इस मन्तव्य में कल्पना का ही विशेष विलास है, तथ्य का कम। और इसीलिए न तो भारतीय ग्रन्थों में इसका कहीं संकेत है और न आधुनिक विद्वानों को इसकी युक्ति-युक्तता पर विश्वास।

जर्मनी के ख्यातनामा विद्वान् डा० पिशेल के नाम से दो विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं। उनका मत है कि नाटक का उद्गम 'पुत्तलिकानृत्य' (पुतली के नाच) से हुआ। पिशेल ने अपने मत की पुष्टि में 'सूत्रधार' और 'स्थापक' के मूल अर्थ को प्रमाण रूप से उपस्थित किया है। 'सूत्रधार' का अर्थ है डोरे को पकड़ने वाला व्यक्ति (सूत्रं धारयतीति सूत्रधारः)। 'स्थापक' का अर्थ है 'किसी वस्तु को लाकर स्थापित करने वाला पुरुष' (स्थापयतीति स्थापकः)। ये दोनों नाम पुत्तलिकानृत्य से मूलतः सम्बद्ध हैं। पुतली के नाच में एक व्यक्ति डोरी पकड़कर पुतलियों को नचाता है और दूसरा व्यक्ति उन्हें एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर लाने का काम करता है। इन नामों की व्युत्पत्ति से

सिद्ध होता है कि इस नृत्य का उदय भारतवर्ष में हुआ था और यहीं से यह संसार के अन्य देशों में प्रचलित हुआ। परन्तु इस सामान्य नृत्य से रसभाव संवलित नाटक का उद्गम मानना कल्पना की एक ऊँची उड़ान है। पिशेल ने एक अवान्तर मत की भी उद्भावना की है कि नाटक का उद्गम 'छाया नाटक' से हुआ। परन्तु यह भी मत निराधार ही है। 'छाया नाटक' का तो भारतीय नाट्यशास्त्र में न कहीं उल्लेख है, और न इसके एकमात्र दृष्टान्त 'दूतांगद' की प्राचीनता ही सिद्ध है। फलतः जावा के नाटकों पर प्रभाव डालने पर भी 'छायानाटक' भारत का प्राचीन नाटक नहीं माना जा सकता और न इससे नाट्य के उद्गम का मत ही मान्य हो सकता है।

तथ्य यह है कि भारत में नाटक का उद्गम वेदमूलक है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें एक से अधिक वक्ता विद्यमान हैं। अनेक व्यक्तियों के कथनोपकथन होने के कारण ये सूक्त 'संवादसूक्त' के नाम से प्रख्यात हैं। ऐसे सूक्तों में 'यम-यमी सूक्त' तथा 'पुरुरवा-उर्वशी सूक्त' नितान्त प्रसिद्ध हैं। इनमें दूसरा सूक्त कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक का आधार निःसन्देह माना गया है। वैदिक युग में यज्ञ के अवसर पर कतिपय मनोरंजन सामग्री के प्रदर्शन का भी बहुशः निर्देश ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। गाने, बजाने और नाचने का प्रबन्ध तो अवश्यमेव उस समय किया जाता था। उस युग में इन संवादसूक्तों को भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा भिन्न-भिन्न स्वर में उच्चरित होने और अभिनीत होने का भी हम अनुमान कर सकते हैं। यूरोपी विद्वानों ने भी इस विषय में विभिन्न मत प्रकट किये हैं। डा० विन्टरनित्स इन सूक्तों को 'आख्यान' के नाम से भले ही पुकारें, परन्तु डा० श्रोदर के इस कथन में भी सत्य प्रतीत होता है कि ये वस्तुतः 'आनुष्ठानिक नाटक' (रिचुअल ड्रामा) थे जिनका अभिनय नर्तन और गायन के साथ यज्ञ के विशिष्ट अनुष्ठानों पर नाना पात्रों के द्वारा किया जाता था। इनका विकसित रूप आज भी बंगाल के धार्मिक नाटकों में (जिन्हें 'यात्रा' के नाम से पुकारते हैं) देखा जा सकता है।

सच्ची बात तो यह है कि किसी भी युग का प्राणी ऐसा नीरस और हृदयहीन नहीं होता कि वह अपना मनोरंजन संगीत और अभिनय जैसे आनन्ददायक साधनों के द्वारा नहीं करता। वैदिक युग इस नियम का अपवाद नहीं माना जा सकता। उस युग में संगीत के साधन उपस्थित थे। वैदिक मन्त्रों में 'उषा' का चित्रण एक रूपवती नर्तकी के रूप में बहुशः किया गया है। फलतः अभिनय का भी उस युग में नितान्त अभाव मानना कथमपि उचित और न्याय्य नहीं प्रतीत होता। अतएव वेद के इन संवादसूक्तों में नाटक के उद्गम का बीज मानना सर्वथा मान्य तथा ग्राह्य है। भरतमुनि की सम्मति भी इस विषय को पुष्ट और प्रामाणिक सिद्ध करती है। भरत ने अपने मत का विस्तृत प्रतिपादन

'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में किया है। उन्होंने भी नाट्यवेद को चारों वेदों के तथ्यों से संवलित पञ्चम वेद मान कर नाटक के वैदिक उद्गम के सिद्धान्त को स्वीकृत किया है। नाटक में होता है घटनाओं का घात-प्रतिघात, घटनाओं में सुख-दुःख की अभिव्यक्ति। फलतः सौख्यपूर्ण सत्ययुग में नाटक के उदय का प्रसंग ही उपस्थित नहीं हुआ। त्रेता युग में दुःख-शोक के आविर्भाव के साथ ही साथ इस जगतीतल पर नाटक का भी उद्गम हुआ। देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने यह सार्ववर्णिक वेद बनाया जिसमें स्त्री तथा पुरुष का, बाल तथा वृद्ध का, धनी तथा दरिद्र का, दुष्ट तथा शिष्ट का—सबका मनोरंजन हो सके। नाटक के निर्माण में उन्होंने चारों वेदों से चार तत्त्वों को ग्रहण किया—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेवच।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

भारतीय नाटक के चार उपकरण होते हैं—पाठ्य (संवाद), गीत (गायन), अभिनय (हाथ, पैर आदि का प्रक्षेप) तथा रस (हृदय को आकृष्ट करनेवाला अलौकिक आनन्द विशेष)। इन चारों को ब्रह्मा ने क्रमशः ऋग्वेद से, सामवेद से, यजुर्वेद से और अथर्ववेद से ग्रहण किया। इस संग्रहवृत्ति का औचित्य थोड़ा अवधान देने पर किसी भी विद्वान् को प्रतीत हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा ने चारो वेदों से पूर्वोक्त चारों तत्वों को ग्रहण कर नाट्य का आविर्भाव किया। जब देवों ने नाटक के अभिनय करने में अपनी असमर्थता दिखलाई, तब भरत को ही यह काम सौंपा गया। पुरुष की भूमिका तो भरत के पुत्रों ने ग्रहण की, परन्तु स्त्री की भूमिका के लिए ब्रह्मा ने अप्सराओं का सर्जन किया। इन्द्र के महोत्सव के अवसर पर 'इन्द्र-विजय' नाटक का प्रथम अभिनय प्रदर्शित किया गया। मनोरंजन इससे तो सब किसी का हुआ, किन्तु देवों का उत्कर्ष देखकर दैत्य बड़े ही रुष्ट हुए और उन्होंने नाना प्रकार के विघ्नों को उत्पन्न किया। इन्द्र ने जर्जर नामक अपने ध्वज से इन विघ्नों के नाश का पूरा प्रयत्न किया। पहिले अभिनय आकाश के नीचे खुले स्थान पर होता था जिससे उत्पात करने का अवसर दुष्टों को मिल जाता था। इस त्रुटि को दूर करने के लिए विश्वकर्मा ने नाट्यगृह (अर्थात् थियेटर) की रचना की। ब्रह्मा ने यह कहकर दैत्यों को शान्त किया कि नाटक सार्ववर्णिक उत्सव है जिसमें सब वर्णों के सुख-दुःख का, हर्षविषाद का प्रदर्शन किया जाता है। किसी नाटक में दैत्यों का अपकर्ष दिखलाया जाता है, तो किसी में देवों का अपकर्ष। नाटक का क्षेत्र बड़ा विशाल है। इसीलिए इसमें धर्म, क्रीड़ा, युद्ध और हास्य सब प्रदर्शित किये जाते हैं। ऐसा कोई शिल्प, ज्ञान, विद्या, कला, योग तथा कर्म नहीं है जो नाटक में दिखलाया नहीं जाता। भरत ने नाटक का महत्त्व तथा उद्देश्य इस सुन्दर श्लोक में दिखलाया है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ (१।११२)

नाट्य के उद्गम के विषय में यही मत सर्वत्र मान्य स्वीकार किया गया है।

(१३) नाटक की रम्यता

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।[1]

—वामन

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्ममेव।[2]

—अभिनवगुप्त

हमारे भारतीय आलोचकों ने काव्य के नाना प्रभेदों के सौन्दर्य तथा चारुता की दृष्टि से उत्कर्षापकर्ष का विवेचन बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। इस विषय में एक विख्यात लौकिक आभाणक है—काव्येषु नाटकं रम्यम्—काव्यों में नाटक रमणीय होता है, सामाजिक के हृदय को रमाने वाला होता है। इसकी पर्याप्त समीक्षा करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह लोकोक्ति कोई सामान्य निराधार उक्ति नहीं है, प्रत्युत यह साहित्यशास्त्र के एक प्रौढ़ सिद्धान्त की परिचायिका है।

इस विषय का पर्याप्त विवेचन भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों ने समय-समय पर किया है। बहुमत इसी पक्ष में है कि श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य समधिक रुचिर तथा मनोज्ञ होता है। भारतवर्ष में भरतमुनि ने नाट्य की ही सर्वप्रथम समीक्षा की। श्रव्य काव्य तो वाचिक अभिनय का प्रकार मात्र होने के कारण गौण माना गया है और श्रव्य काव्य की समीक्षा भी नाट्य-समीक्षा के बाद ही आरम्भ हुई है। नाटक सरल साहित्यिक रचना का प्रतीक ठहरा। अतः वही समीक्षा का सर्वमान्य विषय निर्धारित किया गया था।

काव्य के दो मुख्य भेद हैं—श्रव्य तथा दृश्य। श्रव्य काव्य श्रवण के माध्यम द्वारा सामाजिक के हृदय को स्पर्श करता है और दृश्य-काव्य नेत्र-माध्यम द्वारा दर्शक के हृदय को आकृष्ट करता है। लक्ष्य है एक ही सामाजिक का हृदयावर्जन, परन्तु माध्यम भिन्न-भिन्न है। श्रव्य काव्य में माध्यम है श्रवण तथा दृश्य काव्य में वह माध्यम है नेत्र। यह निर्विवाद सत्य है कि कानों सुनी गई वस्तु की अपेक्षा नेत्रों के द्वारा दृष्ट वस्तु विशेष रोचक तथा सद्यः हृदयावर्जक होती है। अतः लौकिक दृष्टि को आधार मानकर हमारा यह कथन कथमपि आयुक्तिक नहीं कहा जायगा कि श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य अधिक रोचक, अधिक रम्य तथा अधिक मनोज्ञ होता है।

---

१. वामन—काव्यलंकारसूत्र, १।३।३०

२. अभिनवभारती, पृ० २९२

नाट्य और चित्रपट

अब शास्त्र-दृष्टि से विचार कीजिए। इस विषय का विवेचन हमारे शास्त्रकारों ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। आचार्य वामन हमारे प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने इस विषय की विवेचना की ओर ध्यान दिया है। वे अनिबद्ध काव्य—मुक्तक—की अपेक्षा निबद्ध को श्रेयान् मानते हैं और निबद्ध काव्यों या सन्दर्भ-काव्यों में दशरूपक को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। इस श्रेष्ठता की व्याख्या के समय वे नाटक की तुलना चित्रपट के साथ करते हैं। समग्र सामग्री के अस्तित्व के कारण चित्रपट दर्शकों के नेत्रों का कितना आवर्जन करता है? चित्रकार की तूलिका रेखात्मक आकारों में नाना प्रकार के रंगों को भरकर उनमें जीवन का इतना संचरण कर देती है कि वे एकान्त जीवित पदार्थ प्रतीत होते हैं तथा रंग के रुचिर मिश्रण के कारण चित्रपट एकदम सजीव तथा रोचक हो उठता है। चित्रपट की विचित्रता का क्या कारण है? 'विशेषसाकल्य' अर्थात् चित्रोपयोगी समस्त विशिष्ट वस्तुओं की पूर्णता। रूपक की भी यही दशा है। रंगमंच के ऊपर शिक्षित नटों के द्वारा उचित भावभंगी के साथ जब रूपक का अभिनय होता है, तब दर्शकों के लोचनों के सामने जीवित पदार्थ अपने पूर्ण सुभग वेश में अपनी पूर्ण गरिमा के साथ प्रस्तुत होते हैं। दर्शक जीवन के साथ इतना तादात्म्य तथा एकात्म देखता है कि आत्मविभोर बन जाता है और वह भूल जाता है कि वह किसी बाह्य अभिनेय पदार्थ का ही साक्षात्कार कर रहा है। रूपक हमारे जीवन का औचित्यपूर्ण यथार्थ अनुकरण है। अभिनीयमान राम, सीता आदि व्यक्तियों का नटों के ऊपर आरोपण होने के हेतु ही रूपक की 'रूपक' संज्ञा सार्थक मानी जाती है। धनञ्जय का कहना है[3]—रूपकं तु समोरापात्। श्रव्य काव्य—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि—को पाठक पढ़ता है तथा सुनता है। जिस कथानक का साहित्यिक वर्णन उसमें प्रस्तुत किया जाता है उसका मानस प्रत्यक्ष कर के ही वह आनन्दबोध कर सकता है। इस प्रकार श्रव्य काव्य में जीवन के साथ सम्पर्क परोक्ष ही होता है, परन्तु दृश्य काव्य में वास्तव जीवित व्यक्तियों का अनुकरण हम शिक्षित नटों के द्वारा अनुकूल वेशभूषा के साथ इतनी सुन्दरता से पाते हैं कि वर्ण्य विषय एकदम जीवित-सम्पन्न बन हमारे इन विलोचनों के सामने ही झूलने लगता है। अतः नाटक में जीवन के साथ सम्पर्क अपरोक्ष होता है; जीवन की यथार्थता का केवल आभास ही उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत यथार्थता की पूर्ण अभिव्यक्ति यहाँ सम्पन्न होती है। इसी प्रत्यक्ष-दृश्यता तथा यथार्थता के कारण रूपक चित्र के सदृश मनोज्ञ और समस्त काव्यप्रकारों में मनोज्ञतम है।

---

३. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्।
—वामन, काव्यालंकारसूत्र १।३।३०-३१

रूपक—साहित्यिक कृति की 'प्रकृति'

वामन ने रूपक की श्रेष्ठता का जो द्वितीय कारण बतलाया है उसका भी समर्थन किया जा सकता है[४]। उनका कहना है—दशरूपक से ही काव्य के अन्य प्रभेदों की कल्पना की जाती है। कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्य—यह दशरूपक का ही विलास है। इस मत का समर्थन किया जा सकता है। नाटक में केवल कथनोपकथन के ही द्वारा कथानक की मुख्य घटनाएँ दर्शकों के सामने रखी जाती हैं। अनेक वस्तुओं की तो केवल सूचना ही दी जाती है। इन्हीं सूच्य अंशों को पूर्ण कर यदि छन्दोमयी वाणी में कवि कथानक का वर्णन करता है तो वही बन जाता है महाकाव्य और यदि गद्य के माध्यम द्वारा कथानक का चित्रण करता है तो यह हो जाता है कथा या आख्यायिका। अतः इस ढंग से हम सिद्ध कर सकते हैं कि नाटक ही साहित्यिक रचना का चरम अवसान है। रसस्निग्ध रचना का अन्तिम रसपेशल विकास है। परन्तु नाटक को समग्र काव्य-प्रभेदों की 'प्रकृति' मानना अर्थवाद मात्र ही प्रतीत होता है, कोई प्रौढ़ अभ्रान्त शास्त्रीय तथ्य नहीं। किसी काव्यप्रकार को 'प्रकृति' और किसी को उसकी 'विकृति' मानना केवल आलोचक की वैयक्तिक रुचि की सूचनिका है, दृढ़ साहित्य-सिद्धान्त नहीं।

काव्य-कला के द्विविध पक्ष

वामन के ही पद का अनुसरण हमारे आलोचक-शिरोमणि परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में किया है। उनकी इस विषय की मीमांसा अधिक प्रौढ़ तथा अधिक सयुक्तिक है। उनकी आलोचना समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि काव्यचिन्तन के विषय में भारतीय आलोचनाशास्त्र का दृष्टिकोण क्या है। काव्य-समीक्षण के दो पक्ष होते हैं—कविपक्ष तथा सामाजिक पक्ष अथवा कारक पक्ष और भावक पक्ष। सारस्वत तत्त्व के ये ही कवि और सहृदय ही, दो उपादेय उपकरण हैं। कवि अपने प्रातिभ चक्षु के द्वारा अदृष्टपूर्व तत्त्वों का साक्षात्कार कर अपनी शब्द-तूलिका से उनका उन्मीलन करता है। सहृदय अपनी भावयित्री प्रतिभा के आधार पर इन शब्दार्थमय चित्रण के अन्तर्निहित आनन्द का अपनी वासना के द्वारा अनुभव करता है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने कवि तथा सहृदय को 'सारस्वत तत्त्व' के उन्मीलन का आश्रय माना है—

---

४. ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्यैव सर्वं हीदं विलसितं यत् कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।
—वामन काव्यालंकारसूत्र, १।३।३१

सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयताम् ।[५]

इन उभय पक्षों से रूपक अन्य काव्यभेदों से श्रेयस्कर है। कारयित्री प्रतिभा का जितना चमत्कार रूपक में दृष्टिगोचर होता है, भावयित्री प्रतिभा का उतना ही प्रभाव उसमें स्पष्टतर होता है। रसवत्ता की दृष्टि से और रसास्वाद के उत्कर्ष की दृष्टि से दोनों प्रकार से रूपक श्रव्य काव्य की अपेक्षा निःसन्देह मनोज्ञ होता है।

रसवत्ता की पूर्णता

रूपक रसवत्ता की पूर्ति का चरम दृष्टान्त है। रसवत्ता का आश्रय है औचित्य। जिस रचना में औचित्य का जितना ही अधिक सहयोग होता है, वह रचना उतनी अधिक रसपेशल होती है। नाट्य औचित्य का समधिक अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है। भरत-मुनि का एतद्विषयक महत्त्व-सम्पन्न सिद्धान्त है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥[६]

नाट्य में औचित्य की प्रशंसनीय परम्परा विद्यमान रहती है। वय के अनुरूप रहता है वेष, वेष के अनुसार होता है गति-प्रकार, तदनुगत होता है पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप ही रहता है अभिनय। इस औचित्य की परम्परा के विद्यमान रहने के कारण नाट्य में रसवत्ता पूर्णरूपेण विद्यमान रहती है। इसी विशिष्टता को लक्ष्य में रखकर अभिनवगुप्त का कहना है[७] कि नाट्य में भाषा, वृत्ति, काकु, नेपथ्य आदि के औचित्य संवलित होने के हेतु रसवत्ता की पूर्ति होती है, परन्तु काव्य में इतना औचित्य दृष्टिगत नहीं होता। महाकाव्य की नायिका अपनी स्वभाविक प्राकृत भाषा को छोड़कर संस्कृत में बोलती है। क्या यह सर्वथा अनुचित नहीं है? सन्दर्भरस के अनुकूल न होने पर भी महाकाव्य का रचयिता नदियों तथा पर्वतों से लम्बायमान बीहड़ वर्णनों में अपनी व्युत्पत्ति क्या प्रदर्शित नहीं करता? ऐसी दशा में नाटक की स्वाभाविकता, औचित्य तथा रसवत्ता की पूर्णता से बाध्य होकर आलोचक-प्रवर अभिनवगुप्त को कहना पड़ रहा है कि काव्य तो मुख्यतः दशरूपकात्मक ही होता है—

५. लोचन का मंगलश्लोक।
६. भरत—नाट्यशास्त्र (काशी संस्करण) १४।६८
७. तत्र नाट्ये ह्युचितैर्भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः—पूर्यते च रसवत्ता। सर्ग-बन्धादौ तु नायिकाया अपि संस्कृतैवोक्तिरिति बहुतरमनुचितम्।
—अभिनवभारती, पृ० २९२

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव[८]

रहस्यवाद का उत्कर्ष

काव्य का प्रधान लक्ष्य है सामाजिक के हृदय में रसोन्मेष। पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र काव्य में कविपक्ष की बलवत्ता मानता है, भारतीय रसशास्त्र काव्य में सहृदयपक्ष की प्रधानता अंगीकार करता है। पश्चिम में काव्य 'कविप्रतिभाव्यापारगोचर' होता है तो भारत में वह 'सहृदय-चर्वणाव्यापारगोचर' माना जाता है। रस की प्रतीति के लिये सामाजिक या 'सहृदय' होना नितान्त आवश्यक है। सहृदय का वृत्तिलभ्य अर्थ है कवि के हृदय के साथ संवाद—साम्य, एकरूपता—धारण करने वाला व्यक्ति। अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार सहृदय वही व्यक्ति होता है जिसका मनोमुकुर काव्य के अनुशीलन के अभ्यास से—काव्य के निरन्तर अध्ययन तथा चिन्तन से—नितान्त विशद हो जाता है, जिससे वह वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवन-योग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः[९]।

अतः सहृदय का हृदय कवि के हृदय के साथ इतना साम्य रखता है कि स्फुट तथा प्रकीर्ण पद्यों के श्रवण मात्र से ही उसे रस-प्रतीति हो जाती है; क्योंकि वह अनभिव्यक्त अंशों की पूर्ति स्वतः अपनी भावयित्री प्रतिभा के बल पर कर लेता है। नाटक के श्रवण-मात्र से वह आनन्द की अनुभूति कर लेता है। साधारण जन की यह दशा नहीं होती। उसे मुक्तक काव्य से रसास्वाद लेने के अवसर पर अनेक पदार्थों तथा घटनाओं की व्याख्या करनी पड़ती है। इस आवश्यक भूमिका के विना वह इन प्रकीर्णक पद्यों से रस का आस्वादन नहीं कर सकता। यही कारण है कि अव्युत्पन्न व्यक्ति को विहारी के दोहे समझाने के अवसर पर उनके समुचित प्रसंगों की मीमांसा आवश्यक होती है। रूपक भी आस्वाद्य होने के निमित्त व्याख्या की अपेक्षा रखता है। निर्मल चित्तवाले सहृदय को इस व्याख्या तथा प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो नाट्य की अपेक्षा के बिना ही काव्यमात्र से प्रतीति ग्रहण कर लेता है[१०]। परन्तु ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं, जब सहृदय

---

८. अभिनवभारती, पृ० २९२

९. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ११

१०. ये तु काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयाः तेषां परिमित-विभावाद्युन्मीलनेन परिस्फुट एवं साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अतएव तेषां काव्यमेव प्रतीत्युत्पत्तिक्रम् अनपेक्षितनाट्यमपि।
—अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८८

का भी हृदय चिन्ता तथा उद्वेग से कलुषित तथा विक्षिप्त होता है। हृदय का उद्वेग चित्त को इतना विक्षिप्त कर देता है कि रूपक के पढ़ने तथा सुनने पर भी पठन तथा आकर्णन-मात्र से उसे रस का आस्वाद नहीं होता। ऐसी दशा में उसके लिए भी अभिनय की विपुल मनोरञ्जन सामग्री की अपेक्षा रहती है।

जब सहृदयों की ऐसी दशा है, तब 'अहृदयों' की तो कथा ही निराली है। उनके रसबोध के लिये नाट्य की भूयसी आवश्यकता है। नाट्य उनको दो प्रकार से सहायता पहुँचाता है। प्रथम तो नटों के द्वारा रूपक के अभिनय से वह वर्णनीय वस्तुओं को प्रत्यक्ष तथा जीवित रूप में चित्रित करता है। उचित वेष-भूषा, जवनिका की सज्जा, रंगमंच की सजावट, नेत्ररञ्जक चित्रकारी तथा विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी के अभिनय आदि के द्वारा दर्शकों को वर्ण्य वस्तु में जीवन की सत्यता प्रतीत होने लगती है। उनके लिये शकुन्तला किसी अतीत काल की कोई विस्मृत नायिका नहीं रहती, मालिनीतट पर हिमालय की तलेटी में रचा गया महर्षि कण्व का आश्रम किसी अज्ञात अतीत युग की स्मृति उद्बुद्ध नहीं करता, प्रत्युत रंगमंच के चारु चित्र तथा नट के कौशलपूर्वक अभिनय से वस्तुएँ जीवित वर्तमान की सजीव मूर्तियाँ ही प्रतीत होती हैं। इतना ही नहीं, रसिक नटों के द्वारा प्रस्तुत संगीत की माधुरी श्रोताओं के ऊपर अपना विचित्र प्रभाव जमाती है। उनका हृदय अपने स्वगत दुःखों से कितना भी दबा क्यों न हो, शोक तथा क्रोध आदि रसप्रतीति से प्रतिकूल वृत्तियों के उदय के कारण कितना भी संकट-संकीर्ण तथा ग्रंथिल क्यों न हो गया हो, उदात्त संगीत की स्निग्ध माधुरी उनके श्रवणों को सिक्त कर हृदय की ग्रन्थि भञ्जन करने में सर्वथा कृतकार्य होती ही है।[११] तथ्य यह है कि रस-चर्वणा के निमित्त तदनुकूल चित्तवृत्ति की सत्ता एकान्त आवश्यक होती है। रसास्वाद के लिये अनुकूल वातावरण तथा अनुरूप चित्त-प्रसाद उत्पन्न करने के लिए नाट्य सर्वथा समर्थ होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। श्रव्य काव्य में रसानुकूल सामग्री का उदय रसिक श्रोता की चित्त-वृत्ति पर ही आश्रित रहता है। यदि वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की क्षमता उसमें वर्तमान रहती है, तो रस के आस्वादन में विलम्ब नहीं लगता, अन्यथा काव्य अरण्यरोदन में ही अपने जीवन की समाप्ति करता है। अहृदय की सहृदय रूप में परिणति का सर्वप्रधान साधन है नाट्य। 'निजसुखादिविवशीभाव'—अपने सुख-दुःख आदि भावों के वश में होना—रसास्वादन के लिए महनीय प्रत्यूह है जिसका निराकरण अभिनय; अंगहार, संगीत तथा सजावट आदि नाटकीय उपकरणों के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। अभिनवगुप्त का स्पष्ट कथन है—

---

११. अभिनवभारती, पृ० २९२

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तद्रूपप्रत्यूह-व्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दा-दिविषयमयैः आतोद्य-गान-विचित्रमण्डप-विदग्धगणिकादिभिः उपरञ्जनं समा-श्रितं, येन अहृदयोऽपि सहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते।[१२]

इसी कारण साहित्यिक कलात्मक अनुभूति तथा रसास्वाद की पूर्ति के लिये काव्य के समस्त प्रभेदों में रूपक सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि उसका प्रभाव केवल सहृदयों के ऊपर ही नहीं होता, प्रत्युत समस्त व्यक्तियों पर, चाहे वे सहृदय हों या अहृदय, समभावेन पड़ता है। इस प्रकार जीवन की सत्यता की अनुभूति की दृष्टि से, रसवत्ता से, स्निग्ध होने की दृष्टि से और रसास्वादन के उत्कर्ष से पेशल होने की दृष्टि से रूपक काव्य-प्रभेदों में सर्वथा अभिराम, हृदयंगम तथा रमणीय है।

नाट्यरस

नाट्य रस के उन्मेष का सर्वाधिक रम्य प्रतीक है। इसीलिए भरत नाट्यशास्त्र में उसे नाट्यरस की संज्ञा प्राप्त है। 'नाट्यरस' की अभिनवी व्याख्या है[१३]—(१) नाट्य के समुदाय रूप से उत्पन्न रस (नाट्यात् समुदायरूपाद् रसः) अथवा (२) नाट्य ही रस है। रस-समुदाय ही नाट्य है (नाट्यमेव रसः रससमुदायो हि नाट्यम्)। इसका तात्पर्य है कि नाट्य रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है। काव्य में रस की सत्ता का यह व्याख्यान निराकरण नहीं करता। नाट्य रस के उपकरणभूत विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् अनुभव कराता है। यही योग्यता जब श्रव्य काव्य को प्राप्त होती है तभी काव्य में रस का आस्वा-दन उत्पन्न होता है। काव्य में भी यह 'प्रत्यक्षसाक्षात्कार' कवि की अलौकिक वर्णन-शक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है। कवि पदार्थों का इतना उज्ज्वल तथा प्रभाव-शाली वर्णन करता है जिससे वे पदार्थ अभिनय पदार्थों के समान पाठकों के नेत्रों के सामने सजीव रूप से स्फुरित हो उठते हैं। इसीलिए अभिनवगुप्त के नाट्यगुरु भट्टतौत का सम्माननीय सिद्धान्त है—रस नाट्यायमान ही होता है। काव्यार्थविषय में भी प्रत्यक्षकल्प साक्षात्कार के उदय पर ही रस का उदय सम्पन्न होता है:—

काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदयः इत्युपाध्यायाः।[१४]

---

१२. अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८२-८३।

१३. अभिनवभारती, पृ० २९२

१४. अभिनवभारती, पृ० २९१

प्रयोगत्व की स्थिति पर पहुँचे विना काव्य में रस के आस्वाद की सम्भावना ही नहीं रहती, परन्तु क्या श्रव्य काव्य इस विषय में दृश्य काव्य के प्रयोगत्व की योग्यता कभी प्राप्त करता है ? भट्टतौत का कहना है कि प्राप्त कर सकता है जब कवि प्रौढ़ उक्ति के द्वारा उद्यान, नदी आदि विषयों का इतना सजीव वर्णन करता है कि वे प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थों के समान स्फुटतर प्रतीत होने लगते हैं। कवि की प्रौढ़ोक्ति में ही श्रव्य काव्य को दृश्य काव्य के समान प्रयोग-सम्पन्न करने की क्षमता सर्वथा सिद्ध है। तभी काव्य में रस का आस्वाद हो सकता है, अन्यथा नहीं : भट्टतौत के विश्रुत परन्तु अनुपलब्ध 'काव्य-कौतुक' ग्रन्थ का इस विषय में स्पष्ट कथन है––

> प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
> वर्णनोत्कलिकाभोग प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
> उद्यान कान्ता चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः।[१५]

काव्य और नाट्य

अब विचारणीय प्रश्न है कि रूपक की पूर्वोक्त रमणीयता कविजन्य है अथवा नट-जन्य है ? रूपक कवि की प्रतिभा का एकमात्र विलास है अथवा नट की अभिनयकला का संवलित चमत्कार है ? इस विषय में आलोचकों के द्वारा उद्भावित सिद्धान्त में विशेष अन्तर नहीं है। साधारणतया समझा जाता है कि नाटक 'प्रयोगप्रधान' होता है तथा श्रव्य काव्य 'वर्णनाप्रधान' होता है। यह समझ ठीक है, परन्तु पाश्चात्यों का तथा तद-नुसारी भारतीय आलोचकों का यह मत सर्वथा अभ्रान्त नहीं है कि नाट्य में नट की कला कवि की कला की अपेक्षा समधिक मनोज्ञ होती है। आलोचकम्मन्यों की कमी नहीं है जो नट को कवि के द्वारा अनुद्भावित अर्थ का व्याख्याकार मानकर उन्हें कवि से बढ़कर स्थान देने के पक्षपाती हैं। भारतीय आलोचकों की स्पष्ट सम्मति है कि नाटक की रोचकता में नट की अपेक्षा कवि का अधिकतर चमत्कार प्रस्तुत रहता है। इसलिए भोजराज अभिनेता की अपेक्षा कवियों को तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य (रूपक) को समधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करने के पक्षपाती हैं––

> अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहु मन्यामहे, अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति[१६]

दृश्य तथा श्रव्य काव्यों की मौलिक एकता

भारतीय आलोचनाशास्त्र में रूपक का रचयिता तथा श्रव्य काव्य का निर्माता दोनों ही अभिन्नरूपेण 'कवि' शब्द के द्वारा वाच्य होते हैं। पाश्चात्य जगत् में ड्रामा-

---

१५. वही, पृ० २६२
१६. डाक्टर राघवन्––शृंगारप्रकाश (प्रथम खण्ड), पृष्ठ ८० में उद्धृत वाक्य।

ड्रैमेटिस्ट तथा पोयट में शब्दतः तथा अर्थतः पार्थक्य किया जाता है, परन्तु हमारे साहित्य में दोनों ही 'कवि' हैं। समग्र रुचिर साहित्यिक रचना 'काव्य' के नाम से अभिहित की जाती है और यही काव्य रूपक, श्रव्य काव्य, गीतकाव्य आदि नाना विभेदों में विभक्त किया जाता है। रसात्मक काव्य के द्वारा सामाजिक के हृदय में रागात्मिका वृत्ति का उदय करने वाली वस्तु ही तो 'काव्य' नाम से अभिहित की जाती है। श्रव्य काव्य में कवि स्वयं वर्णन, कथन तथा चित्रण के द्वारा वह अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देता है कि श्रोता के हृदय में अविलम्ब रस का उन्मीलन होता है। रूपक में भी यही कार्य है, यही ध्येय है, परन्तु यह सम्पन्न किया जाता है नटों के द्वारा। अतः आनन्द के उदय की दृष्टि से दोनों में यही तारतम्य है। महिमभट्ट ने इस विषय का एक प्राचीन पद्य अपने व्यक्तिविवेक में उद्धृत किया है—[१७]

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते ।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम् ।।

प्रयोग की भी आवश्यकता प्रत्येक दर्शक के लिए नहीं होती। सहृदय पाठक अनभिनीत नाटक से उसी प्रकार आनन्द उठा सकता है जितना उसके पठन मात्र से। साधारण दर्शक के ही हृदय में रसोद्‌बोध के निमित्त प्रयोग की आवश्यकता बनी रहती है। इसलिए भारतीय आलोचकों तथा कवियों ने नाटक में प्रयोगता—अभिनेयता—को कभी भी महत्व नहीं दिया है। यदि दर्शक में रागात्मिका वासना विद्यमान है, तो वह अभिनय की किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रखता। महाकवि भवभूति के नाटकों में अनेक अंश अभिनय के द्वारा प्रदर्शन की क्षमता नहीं रखते; तो क्या यह दूषण है? बिल्कुल नहीं। नाटक की महनीयता कवि की प्रतिभा का विलास है, नट के अभिनय-कौशल का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है। साधारण नाटक ही, रसाभिव्यक्ति के निमित्त अभिनय, की सहायता रखता है; महान् नाटक न नट की अपेक्षा रखता है और न अभिनय की। वह स्वतः महनीय तथा महान् होता है। उसके चमत्कार को हृदयंगम करने के लिए रंगमंच पर अभिनय की तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती। उसका आनन्द तो घर के किसी कोने में बैठकर पढ़ने से भी उठाया जा सकता है। अभिनय तो अन्धे की लकड़ी के समान है जो लोक के ही रसास्वाद के निमित्त जागरूक रहता है।[१८]

पाश्चात्य मत से साम्य

भारतीय आलोचकों की यह मीमांसा—नाट्य तथा काव्य का वैशिष्ट्य—पश्चिमी आलोचकों को भी मान्य है। पश्चिमी आलोचना रूपक के लिए अभिनय

१७. व्यक्तिविवेक (काशी संस्करण), पृ० ९६।
१८. ट्रैजेडी लाइक एपिक पोएट्री प्रड्यूसेज इट्स ट्रू इफ़ेक्ट इविन विदाउट ऐक्सन इट रिवील्स इट्स पॉवर बाइ मीयर रीडिंग।—पोएटिक्स।

की एकान्त आवश्यकता मानती है; यह अर्थवाद मात्र है। अरस्तू का कहना है कि महाकाव्य के समान ही विषादान्त रूपक अभिनय के बिना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है—केवल पठन मात्र से यह अपनी शक्ति का उन्मीलन करता है[१८]। अँगरेज, फ्रेंच तथा जर्मन अनेक यूरोपीय कलामर्मज्ञ इस विषय में एक मत रखते हैं कि नाटक के लिये अभिनेयता आवश्यक गुण नहीं है। लैम्ब का तो यहाँ तक कहना है कि नाटक की मूर्धन्य तथा श्रेष्ठ रचना जितनी सुन्दरता से लिखी जाती है उतनी सुन्दरता से कठिनता से अभिनीत की जा सकती है; साधारण कोटि के नाटक ही नटों के हाथ में पड़कर विशेष चमत्कार उत्पन्न करते हैं[१९]।

कवियों का भी यही अनुभव है। अँगरेजी साहित्य के विश्रुत कवि टामस हार्डी ने 'डाईनास्ट' नामक विपुलकाय नाटक की रचना की है जो परिमाण में, विना सन्देह, 'उत्तररामचरित' या 'बालरामायण' से चौगुना है। उसकी भूमिका में उन्होंने यह दिखलाया है कि नाटक तो कमरे के भीतर बैठकर शान्त मन से पढ़ने की वस्तु है, रंगमंच के ऊपर अभिनीत होना नाटक के लिए आवश्यक गुण नहीं है। अभिनेय रूपकों का प्रभाव क्षणिक तथा अस्थायी होता है, परन्तु पठनीय नाटकों का प्रभाव स्थायी तथा चिरकालीन होता है। दोनों की इस विशिष्टता की अभिव्यक्ति के लिए वे प्रथम प्रकार के नाटक के लिए सामान्यतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग करते हैं और दूसरे प्रकार के महनीय नाटक को वे एपिक ड्रामा के अभिधान से पुकारते हैं। हार्डी की यह विवेचना भोजराज के सिद्धान्त की ही व्याख्या है कि नट की अपेक्षा कवि का विशेष आदर होता है तथा नाटच की अपेक्षा काव्य का समधिक सत्कार किया जाता है। इस प्रकार भारतीय आलोचनाशास्त्र के रूपक-विषयक तथ्य का पाश्चात्य विवेचकों द्वारा उद्भावित सिद्धान्त के साथ आश्चर्यजनक साम्य उपलब्ध होता है।

(१४) नाट्यकला तथा शान्तरस

नाटक में शान्तरस का प्रदर्शन किया जा सकता है या नहीं, इस प्रश्न की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों ने बड़ी छानबीन तथा गम्भीरता के साथ की है। नाटच में शान्तरस के विरोधी आचार्यों की भी एक लम्बी परम्परा है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए तर्कों तथा युक्तियों का अनुशीलन कर हम अभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना

---

१८. ट्रेजेडी लाइक एपिक पोएट्री प्रडचूसेज इट्स ट्र इफ़ेक्ट ईविन विदाउट ऐक्शनः, इट रिवील्स इट्स पॉवर बाइ मीयर रीडिंग।—पोएटिक्स।

१९. ए मास्टरपीस इज रेयरली ऐज वेल रिप्रेजेन्टेड ऐज इज इट रिटेन; मीडियॉक्रीटि ऑलवेज् फ़ेयर्स बेटर विथ दी एक्टर्स :—चार्ल्स लैम्ब।

कर सकते हैं; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वन्यभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना की है। इन पक्षों को मैं अत्यन्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी संज्ञा देना अत्यन्त उचित समझता हूँ।

अत्यन्ताभाववादी

इस पक्ष के प्रस्तावक आचार्यों की सम्मति में शान्तरस का इस जगतीतल पर सर्वथा अभाव ही विद्यमान है। इस संसार में राग-द्वेष का अखण्ड साम्राज्य उज्जृम्भित हो रहा है। महनीय जातियों तथा राष्ट्रों में ही यह बात नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति का भी हृदय रागद्वेष की वृत्तियों का क्रीड़ास्थल है। अनादिकाल से अविद्या का प्रवाह प्रवाहित होता आ रहा है जिसके वश में होकर जीव किसी से प्रेम (राग) करता है तथा किसी दूसरे व्यक्ति से वैर (द्वेष) करता है। यह प्रवाह इतना प्रबल तथा पुष्ट है कि इसका उन्मूलन करना नितान्त असाध्य है। अविद्या के प्रवाह को नष्ट करने वाले उद्योगशील पुरुषार्थियों की कमी नहीं है, परन्तु यह प्रवाह आज भी अपनी उद्दाम गति से प्रवाहित होता ही रहता है। शान्त की स्थिति रागद्वेष आदि भावों के उन्मीलन पर ही आश्रित रहती है और इन भावों के उच्छेद की कल्पना भी आकाश-कुसुम के समान नितान्त असम्भाव्य तथा अकल्पनीय है। ऐसी दशा में शान्त रस का व्यावहारिक जगत् में सर्वथा अभाव मानना ही न्याय-संगत प्रतीत होता है। अतएव शान्तरस को काव्य तथा नाट्य में निबद्ध करने वाला कवि कभी भी द्रष्टाओं के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। शान्त रस का निबन्धन इस प्रकार कथमपि उपादेय तथा आकर्षक सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए दशरूपक के 'अवलोक' में धनञ्जय ने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है—

अन्ये तु वस्तुतस्तस्य अभावं वर्णयन्ति। अनादिकाल प्रवाहायात–रागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्।' (दशरूपक)

'न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति' (दशरूपक)

आनन्दवर्धन के मत में शान्तरस के अभाव का मुख्य कारण है—सर्वजनानुभव गोचरता का अभाव। रस को सब जनों के अनुभव का गोचर होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु संसार के प्राणियों को अविद्या, रागद्वेष वृत्तियों के पंक में निमग्न देखकर क्या हम कभी कल्पना कर सकते हैं कि ये भ्रान्त मानव कभी भी शान्त रस का आस्वादन करने में समर्थ होंगे—

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति, नैतावतासौ अलोक सामान्य महानुभाव चित्तवृत्तिविशेषवत् प्रतिक्षेप्तुं शक्यः। (ध्वन्या, पृ० १७७)

फलतः अनादिकाल से प्रवृत्त अविद्या का प्रवाह दुरुच्छेद्य है तथा हृदय संवाद का

नितान्त अभाव है। अतएव शान्त रस की सत्ता हम कथमपि मानने के लिए उद्यत नहीं हैं।

इस तर्क का खण्डन भली भाँति किया जा सकता है। इस पृथ्वी तल को इतने सन्त-महात्माओं ने अपने अलौकिक जीवन से, अपने शान्त उपदेशों से तथा अदम्य कारुणिकता तथा मैत्री से अलंकृत किया है कि अविद्या का उच्छेद न मानना कथमपि युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। साधारण मानव यदि जन-कोलाहल तथा रागद्वेष के स्तर से ऊपर उठने में अपने को सक्षम नहीं पाता, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि रागद्वेष का उन्मूलन सम्भव ही नहीं। अपने देश में उदात्त जीवन बिताने वाले ऋषि-मुनियों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त इस बात का स्पष्ट बोधक है कि अविद्या की वागुरा दुरुच्छेद्य भले हो, परन्तु वह सर्वथा अछेद्य नहीं है। हृदय संवाद के तर्क पर शान्त का अभाव भी तर्कहीन ही है। 'सर्वजनानुभव गोचरता' किसी भी रस की उपलब्धि के लिए अकाट्य हेतु नहीं है। भरत मुनि ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को बतलाया है कि **भिन्न-भिन्न रस के अनुभव तथा आस्वाद के लिए भिन्न-भिन्न 'प्रकृति' की आवश्यकता होती है।** एक ही 'प्रकृति' विभिन्न रसों का आस्वाद नहीं ले सकती। वीर प्रकृति व्यक्ति को भयानक से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और वीतराग पुरुष को शृंगार रस का आस्वाद नहीं होता, तो इस कारण वीर तथा शृंगार को हम रस के अन्तर्गत नहीं मान सकते ?[1] 'कथमपि' नहीं, 'सर्व हृदय संवाद' के अभाव में भी वीर तथा शृंगार को हम रसकोटि से बहिर्मुख नहीं कर सकते। शान्तरस में भी हृदय संवाद होता है। किन पुरुषों का ? संसार से वैराग्य रखने वाले वीतराग पुरुषों का हृदय संवाद शान्तरस के प्रदर्शक काव्यों के पढ़ने में तथा नाटकों के देखने में सर्वथा होता ही है। ऐसी दशा में शान्त रस का अभाव कैसे माना जाय ?

फलतः इस जगत् का शम नामक भाव अंग ही नहीं है, प्रत्युत एक महनीय तथा उज्ज्वलतम अंग है, परन्तु उसका अनुभव साधारण जनता की उपलब्धि से दूर ही रहता है। शान्तरस की उपलब्धि अवश्य ही असाधारण बनी रहेगी, जिस प्रकार महापुरुषों की जीवन लीलाएँ। "जायस्व म्रियस्व" ही इस विश्व की सामान्य गति का निदर्शन है, परन्तु फिर भी शंकर तथा रामानुज, गोरखनाथ तथा कबीर, सूर तथा तुलसी जैसे

---

1. ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद् रस्यमानता एव नोपपन्ना। क एवमाह नास्तीति ? यतः प्रतीयते एवेत्युक्तम्। ननु प्रतीयते, सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृंगारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसाच्च्यवताम्।
—लोचन, पृष्ठ १७७

महनीय आत्माओं ने अपने जीवन में उच्च आध्यात्मिकता का निदर्शन दिखलाया। तथ्य तो यह है कि साहित्य, काव्य तथा नाटक त्रिवर्ग के वर्णन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता, परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का वर्णन तथा चित्रण भी उसके लिए उसी प्रकार उपादेय है। पुरुषार्थ का सरस तथा सुभग चित्रण ही काव्य सामान्य का तात्पर्य है। लोकवृत्त का अनुकरण नाटक का स्वविषय है। ऐसी दशा में उपकारव्रती अध्यात्मनिष्ठ महामानवों की जीवनलीला का चित्रण जिस प्रकार कवि अपने काव्यों में करता है, उसी प्रकार मोक्ष जैसे चरम पुरुषार्थ का निदर्शन भी काव्य में भलीभाँति दिखलाया जा सकता है। इसीलिए अभिनवगुप्त, कामोचित चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रसास्वाद के उदय के समान मोक्षोपयोगिनी चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रस का आस्वाद उत्पन्न होना स्वाभाविक मानते हैं (द्रष्टव्य अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ ३३४, बड़ौदा संस्करण)।

प्रस्थानवादी

रससम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय श्री भरत मुनि को है। फलतः रस के समस्त सिद्धान्तों के निरूपण की अन्तिम कोटि भरत रचित नाटचशास्त्र ही है। नाटचशास्त्र एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। नाटचशास्त्र के प्राचीन हस्तलेखों में शान्तरस का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं था। यही कारण है कि लेखक के द्वारा सम्पादित तथा चौखम्भा कार्यालय, काशी से प्रकाशित नाटचशास्त्र के रसाध्याय (षष्ठ अध्याय) में शान्तरस का कहीं भी निर्देश नहीं है। इस संस्करण को मूल आधार मानकर प्रस्थानवादी आचार्यों का कथन है कि जब भरत मुनि ने ही शान्तरस का निर्देश नहीं किया, तब शान्त रस के भीतर गणना ही किस प्रकार की जा सकती है? भरत के इस निर्देशाभाव के कारण शान्त को रस न मानने वाले आचार्यों की कमी नहीं है। धनञ्जय ने दशरूपक में इस मत की ओर संकेत किया है।

इस युक्ति का भी समाधान भली भाँति किया जा सकता है। नाटचशास्त्र के रसाध्याय में शान्तरस का वर्णन आचार्य अभिनवगुप्त के समय में (अर्थात् १०वीं शती के अन्त में) अवश्य विद्यमान था, तभी तो उन्होंने इसके ऊपर भी अपनी विस्तृत व्याख्या लिखी है (द्रष्टव्य अभिनव भारती, गायकवाड़ सीरीज में प्रकाशित, भाग १, पृष्ठ ३३३-३४२)। यह अंश स्पष्ट ही रसाध्याय के समाप्त होने पर पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु यह संयोजन भी अभिनवगुप्त से प्राचीन किसी काल में किया गया होगा। अभिनवगुप्त ने अपने भाष्य में दिखलाया है कि किस प्रकार शान्त को न मानने वाले आचार्य केवल आठ ही रस मानते थे (शान्तापलापिनस्तु अत्र अष्टौ इति पठन्ति तत्र शान्तस्य स्थायी

'विस्मयक्षमाः' इति केश्चित् पठितः) । भरत की इस कारिका में केवल आठ रसों का ही निर्देश है—

श्रृंगार हास्य करुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥६।१६

परन्तु शान्त रसवादी आचार्यों ने 'अद्भुत शान्ता नव नाट्ये रसाः स्मृताः' पाठ स्वीकार किया है । इसी प्रकार स्थायीभाव की गणनापरक कारिका में 'जुगुप्साविस्मयश्चेति (नाट्य० ६।१८) के स्थान पर 'जुगुप्साविस्मयशमाः' पाठ उपलब्ध होता है : नाट्यशास्त्र के परिबृंहित संस्करण में अभिनव भारती के अनुसार । प्रश्न यह है कि इस परिवर्तन का कर्त्ता कौन हो सकता है । 'काव्यालंकार सारसंग्रह' के अध्ययन से स्पष्ट है कि उद्भट शान्तरस को मानते थे । वे नाट्यशास्त्र के प्रथम ज्ञात व्याख्याकार हैं तथा नव रसों की सत्ता मानने वाले प्रथम आलंकारिक हैं । फलतः बहुत संभव है कि इन्होंने ही नाट्यशास्त्र के पाठ में पूर्वोक्त परिवर्तन किये थे, जिनका निर्देश अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती में किया है ।

भरत के नाट्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन से हम अनुमान ही क्या निश्चय कर सकते हैं कि भरत भी शान्तरस की सत्ता से पूर्णतया अवगत थे । जब नाटक लोकवृत्त के ऊपर आश्रित रहता है, तब क्या लोक में शान्तरस के उपासक मुनि जनों का अस्तित्व नहीं है, जिनका चित्रण करते समय शान्तरस की विशद प्रतीति काव्य या नाटक में भली भाँति हो सकती है । नाट्य की उपयोगिता बतलाते समय भरत के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

क्वचिद् धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः । (१।१०६)

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ (१।११५)

ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्त दर्शनम् ॥ (१।११२)

भरत के मूल वाक्यों का अर्थ यही है कि नाटक में धर्म, क्रीड़ा तथा अर्थ के साथ शम का प्रदर्शन भी किया जाता है; नाट्य, तपस्वियों को विश्रान्ति प्रदान करता है तथा उसमें ब्रह्मर्षियों का चरित्र भी दिखलाया जाता है । ये कथन भरत के मूलग्रन्थ से हैं तथा नितान्त प्रामाणिक हैं । अभिनवगुप्त ने प्रथम उद्धरण को देकर पूछा है कि क्या भरत मुनि शान्तरस को अंगीकार नहीं करते—

प्रतीयत एवेति मुनिनाप्यंगीकृत—एव 'क्वचिच्छमः' इति बदता
—लोचन, पृष्ठ १७७ (काव्यमाला सं०)

भरत ने नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में दर्शकों के वैशिष्ट्य का वर्णन किया है कि दर्शकों के साथ सामरस्य धारण करना ही नाटक का प्राण है तथा इसी प्रसंग में विविध प्रकार के दर्शकों के तोष का वर्णन इस श्लोक में किया है—

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते ।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः ।।
(काशी० सं० २७।५९)

श्लोक का तात्पर्य है कि संसार से वीतराग दर्शकों का तोष मोक्ष में होता है। इस श्लोक की संगति तभी बैठ सकती है जब नाटक के वर्ण्य विषयों में मोक्ष को भी यथोचित स्थान प्राप्त हो सके। अभिनवगुप्त ने भी इस वाक्य की ओर अभिनव भारती में स्पष्ट संकेत किया है (द्रष्टव्य प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३४०)। भरत ने २४वें अध्याय में काम को प्रत्येक पुरुषार्थ से सम्बद्ध होने के कारण चार प्रचार का माना है—केवल काम, धर्मकाम, अर्थकाम, तथा मोक्षकाम।

धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैवच ।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो यः काम स तु संस्मृतः ।।
(२४।९१)

'मोक्ष काम' का तो स्पष्ट अर्थ है मोक्ष के विषय में अनुराग या प्रेम। यह स्पष्ट ही शान्त की ओर संकेत है। भरत ने स्वयं लिखा है—

धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ।।
(२७।६१)

यहाँ धार्मिक आख्यान तथा पुराणों में प्रदर्शित कथानकों का स्पष्ट निर्देश है जिसके दर्शन से वृद्ध लोग सन्तुष्ट होते हैं तथा आनन्द पाते हैं।

इन तर्कों का सामूहिक फल यह है कि भरत शान्तरस की स्वीकृति न देने पर भी शान्त के उपयोगी वातावरण से परिचित हैं, उसके चित्रण को नाटक में आवश्यक बतलाते हैं तथा उसमें आनन्द लेने वाले वृद्धजनों की चित्तवृत्ति से वे अवगत हैं। नाट्य को लोकवृत्त से ऊपर आश्रित मानने वाला आचार्य क्या कभी शान्तोपयोगी चित्रण से पराङ्मुख हो सकता है? फलतः प्रस्थानवादी आचार्यों के मत को हम कथमपि महत्त्व नहीं दे सकते कि भरत मुनि शान्तरस से सर्वथा अपरिचित हैं।

अन्तर्भाववादी

कतिपय आचार्य शान्तरस की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उसे वे स्वतन्त्र रस की स्थिति में रखना पसन्द नहीं करते, प्रत्युत पूर्व सम्मत किसी रस के भीतर उसका अन्तर्भाव मानते हैं। ये अभाववादी न होकर अन्तर्भाववादी के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं।

वीर में शान्त का अन्तर्भाव

वहुत से आचार्य शान्तरस को वीररस के भीतर अन्तर्भुक्त मानते हैं, क्योंकि वीर का स्थायी भाव उत्साह यहाँ भी विद्यमान रहता है। प्रत्येक कार्य के सम्पादन के लिए उत्साह की आवश्यकता होती है। बिना उत्साह के कोई कार्य क्या अपनी वास्तविक सिद्धि पा सकता है? शान्तरस के उपादान, त्याग, तपस्या, परोपकार, दया आदि का निर्वाह पूर्णरूप से तभी हो सकता है जब कर्ता का हृदय उत्साह के द्वारा परिचालित हो। अतः शान्त में भी उत्साह का दर्शन होने के कारण वह वीररस के भीतर समुचित रीति से अन्तर्हित किया जा सकता है।

वीररस के भेदों की अवधि नहीं है। भरत मुनि ने इनके तीन प्रधान भेद माने हैं— युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर—जिनमें युद्धवीर तो वस्तुतः वीररस का शुद्ध निदर्शन हैं। दानवीर में दान के लिए उत्साह का प्राधान्य रहता है जैसे सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में राजा हरिश्चन्द्र। 'धर्मवीर' में धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में समधिक समुत्साह दृष्टि-गोचर होता है जैसे युधिष्ठिर। इन तीनों के अतिरिक्त दयावीर नामक वीर का एक चौथा भी प्रभेद है और इसका प्रादुर्भाव बोधिसत्व के परोपकार के निमित्त जीवन के उत्सर्ग जैसे कार्यों में होता है। नागानन्द नाटक में दयावीर की ही प्रधानता है, क्योंकि इसका नायक जीमूतवाहन गरुड़ से नागों की रक्षा करने के लिए अपना समर्पण करने में कभी नहीं हिचकता। दयावीर का स्थायीभाव भी रस के अन्य प्रभेदों के समान ही 'उत्साह' है। फलतः बहुत से आचार्य दयावीर से एकाकार होने के कारण शान्तरस की पृथक् सत्ता मानने के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में दयावीर ही शान्त रस का प्रतीक है। अभिनवगुप्त के मत में तो दयावीर, धर्मवीर तथा दानवीर कोई नये रस नहीं हैं, प्रत्युत शान्त के ही ये नामकरण हैं (लोचन ११७-११८)। भट्ट गोपाल ने अपनी 'काव्यप्रकाश-व्याख्या (पृष्ठ १३९-१४०) में स्पष्ट लिखा है कि दयावीर शान्त का ही नामान्तर है और इसीलिए भरत मुनि ने वीररस के तीन ही प्रभेद बतलाये हैं—युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर—

> दयावीर इति शान्तस्यैव नामान्तरकरणम्, येन,
> दानवीरं युद्धवीरं धर्मवीरं तथैव च।
> रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविध संमितम्,
> इति त्रैविध्यमेवास्य मुनिना वीरस्याभ्यधायि।

इस मत का उदय श्रीहर्ष के द्वारा नागानन्द नाटक की रचना के अनन्तर होना प्रतीत होता है। इस मत में एक विशेषता तो अवश्य है कि यह मत उन लोगों के मत से अवश्य ही शोभन है जो निर्वेद जैसे संचारी भाव को स्थायी भाव के पद पर प्रतिष्ठित करने की

गलती करते थे। उत्साह अवश्य ही स्थायी भाव है वीररस का। अतएव शान्त का स्थायी भाव उत्साह मानने में पहिली जैसी गलती तो अवश्यमेव नहीं होती, परन्तु इस सिद्धान्त से भी हमारी समस्या का समाधान नहीं होता। उत्साह के ऊपर शान्त को आश्रित मानने वाले भी आचार्य बालू की भीत पर अपना किला बना रहे थे; क्योंकि दोनों के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर है। आनन्दवर्धन की सम्मति में **वीररस अभिमान प्रधान होता है और शान्तरस अहंकार प्रशम रूप होता है—**

"न तस्य वीरेऽन्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्य अभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य च अहंकार-प्रशमैकरूपतया स्थितेः"

—ध्वन्या० पृ० १७७

उत्साह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमें बतलाता है कि जब तक प्राणी अपने भीतर सुप्त अहंभाव को जाग्रत नहीं करता तब तक उसके हृदय में उत्साह का आविर्भाव नहीं होता। प्राणी को उत्साह किसी कार्य के करने के लिए तभी आता है जब वह अभिमान को जाग्रत कर अपने अन्तःप्राण को उद्बुद्ध करता है। उधर शान्त में इससे विपरीत स्थिति ठहरती है। शान्त का उपासक व्यक्ति अहंभाव का नितान्त प्रशमन कर देता है। उसका हृदय-सागर किसी भी कामना-लहरी से उद्वेलित नहीं होता, कोई भी संकल्प उसके अहंकार को नहीं जगाता। फलतः शान्त व्यक्ति सर्वदा निरीह, निष्काम तथा निरहंकार की स्थिति में रहता है। इस प्रकार स्वरूपगत भेद होने से शान्तरस का अन्तर्भाव वीररस के भीतर कथमपि नहीं किया जा सकता।

शान्तरस के उन्मीलन में उत्साह की हेतुता का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। दान-उत्साह तथा धर्मोत्साह शान्त के ही दो अंग हैं। वीर के अन्य भेदों का भी उत्साह शान्त में अवश्यमेव विराजता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने पाण्डित्य, वीर, क्षमा-वीर जैसे नवीन प्रभेदों को वीररस के भीतर दिखलाया है। इनके भीतर वर्तमान उत्साह की भी शान्त में आवश्यकता है। विरोधी को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए किसी धर्मोपदेशक के हृदय में 'पाण्डित्योत्साह' की मात्रा होनी ही चाहिए। इसी प्रकार 'क्षमा-वीर' का उत्साह भी शान्त के लिए आवश्यक उपादान है। परन्तु शान्त रस में 'उत्साह' संचारिभाव के रूप में ही उपस्थित रहता है, स्थायी भाव के रूप में नहीं। इसीलिए यह अन्तर्भाव का तथ्य एकदम तर्कहीन तथा अनुपयुक्त है। अभिनवगुप्त इसीलिए उत्साह को शान्त रस में 'अभ्यधिक अन्तरंग' मानते हैं, परन्तु उसे शान्तरस का प्राण (स्थायीभाव) तो कभी भी नहीं मानते—

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थ घटनायैव उद्यमः इति उत्साहोऽस्य परोप-

कार-विषयेच्छाप्रयत्नरूपो दयापरपर्यायः अभ्यधिकोऽन्तरंगः। अतएव तत् केचित् दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन।

—अभिनवभारती, पृष्ठ ३३८ (भाग प्रथम)

बीभत्स में शान्त का अन्तर्भाव

मोक्ष मार्ग का पथिक अध्यात्म में रति रखता है तथा संसार के विषय में वह घृणा का भाव रखता है। विषयों से वैराग्य होने के लिए उनमें घृणाभाव का उदय स्वाभाविक है। विषय में आसक्त व्यक्ति क्या कभी मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकता है? विषयों के प्रति घृणा होना तो मोक्ष मार्ग का संवल माना जा सकता है। यही जुगुप्सा का भाव है। शान्त में इसकी सार्वत्रिकी स्थिति होने के कारण जुगुप्सा शान्तरस का स्थायी भाव माना जाता है तथा बीभत्स रस के भीतर शान्त का अन्तर्भाव उपन्यस्त है।

'जुगुप्सा' के विषय में अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का अपना निजी मत है, जिसका उपन्यास हम 'अभिनवभारती' में पाते हैं। रसों के प्रभेद दर्शन के अवसर पर भरत ने बीभत्स के प्रभेदों का उल्लेख किया है—

बीभत्सः क्षोभणः शुद्धः उद्वेगी स्याद् द्वितीयकः
बिष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः॥

(नाटचशास्त्र ६।८१, काशी संस्करण)

बीभत्स दो प्रकार का होता है—क्षोभण तथा उद्वेगी। क्षोभण उत्पन्न होता है रुधिर आदि के देखने से और उद्वेगी पैदा होता है विष्ठा कृमि के द्वारा। इनमें प्रथम प्रकार शुद्ध कहलाता है और दूसरा प्रकार अशुद्ध। इस व्याख्या में 'शुद्धः' 'क्षोभणः' का विशेषण माना गया है, परन्तु भट्टतौत के मत में 'शुद्ध' भी बीभत्स का तृतीय प्रकार है। इसीलिए कहीं-कहीं 'द्वितीयकः' के स्थान पर 'तृतीयकः' पाठ उपलब्ध होता है। संसार के भावों से, वस्तुओं से या द्रव्यों से जो स्वतः घृणा का भाव जनमता है, वही शुद्ध बीभत्स का उत्पादक होता है। पतञ्जलि ने इसीलिए कहा है—'शौचात् स्वांग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः' (योगसूत्र २।४०)। शौच के धारण करने से यति को अपने ही अंगों में जुगुप्सा उत्पन्न होती है और इसीलिए वह दूसरों से कभी संसर्ग नहीं रखता। वह मोक्षमार्ग में अग्रसर होता है—

उपाध्यायस्त्वाह—बीभत्सस्तावत् विभावविशेषात् यत्र तु संसार नाटचनायक राग प्रतिपक्षतया मोक्षसाधनत्वाद् शुद्धः। यदाहुः 'शौचात् स्वांग जुगुप्सा' तथा 'वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनमिति'। तेन सोऽपि परमार्थतः त्रिविध एव।

—अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३३२

भट्टतौत के इस मार्मिक कथन का तात्पर्य यह है कि संसार के प्रति राग हटाने के लिए उसके प्रतिपक्ष की भावना नितान्त आवश्यक है। संसार के सुखों का तिरस्कार हम तभी कर सकते हैं, जब हम सांसारिक विषयों के घृणित रूप की भावना करें। फलतः इस प्रतिपक्षभावना से उत्पन्न वीभत्स का रस 'शुद्ध' कहलायेगा। इतने पर भी भट्टतौत बीभत्स के दो ही प्रभेद मानते हैं; क्योंकि यह वीभत्सरस नितान्त दुर्लभ होता है। ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत ही कम है, जो संसार के विषयों में जुगुप्सा का भाव रखते हों—

द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेन अप्राचुर्यं सूचरति। (वही, पृ० ३३२)

धनञ्जय ने इसी बीभत्स के अन्तर्गत शान्त की सत्ता मानने का निर्देश अपने 'दश-रूपावलोक' में किया है।

इस पूर्वपक्ष का यही समाधान है जो वीररस के विषय में प्रथमतः दिया गया है। जिस प्रकार उत्साह शान्त रस का अन्तरंग भाव है, जुगुप्सा भी वैसा ही है। 'शुद्ध जुगुप्सा' शान्त रस के उदय में सहायक हो सकती है, परन्तु वह शान्त का सर्वस्व नहीं है। अर्थात् जुगुप्सा शान्त रस का केवल संचारी भाव ही है; वह कभी स्थायी भाव की कोटि में नहीं पहुँच सकता। फलतः यह अन्तर्भाव एकदम भ्रान्त और निराधार है।

"आदि ग्रहणेन विषय जुगुप्सारूपत्वात् बीभत्सेऽन्तर्भावः शक्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति, न तु स्थायितामेति। पर्यन्त निर्वाहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्"—लोचन, पृष्ठ १७८

इस प्रकार शान्त रस का अभाव मानना कथमपि युक्तियों के सहारे समर्थित नहीं किया जा सकता। कुछ आचार्यों का मत है कि शान्त का चित्रण काव्य में भले ही सिद्ध हो, परन्तु नाट्य में उसका प्रदर्शन कथमपि न्याय्य तथा उचित नहीं प्रतीत होता। इस मत का मौलिक रहस्य यह है—व्यापार के विराम होने पर शान्त की स्थिति है। शान्त रस वहाँ होता है जहाँ न दुःख है, न सुख; न द्वेष है और न चिन्ता; न राग है और न द्वेष—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

शान्त रस की यह पर्यन्त भूमि क्या कभी नाटक में दिखलायी जा सकती है? नाटक में होती है व्यापार की प्रधानता तथा अभिनय की मुख्यता, परन्तु शान्त रस का ऊपर चित्रित रूप क्या कभी अभिनय का विषय बन सकता है? इसका स्पष्ट उत्तर है—नहीं, परन्तु यही दशा तो प्रत्येक रस की पर्यन्त भूमि के अभिनेयत्व के विषय में है। क्या

शृंगार का चरम उत्कर्ष कभी अभिनीत हो सकता है ? ऐसी दशा में केवल शान्त के ऊपर ही अनभिनेयता का लाञ्छन लगाना कहाँ तक न्याय्य है ? तथ्य यह है कि शान्त रस के विभाव आदिकों का पूर्ण अभिनय रंगमंच के ऊपर किया जा सकता है और किया जाता है । नागानन्द शान्तरस प्रधान नाटक है, क्योंकि इसमें बोधिसत्व का चित्रण जीमूतवाहन के रूप में किया गया है । इसलिए भगवान् बुद्ध की जीवनलीला को चित्रित करने वाले नाटकों की सफलता इस विषय वाले नाटकों से कथमपि न्यून नहीं है ।

इस समीक्षण का यही निष्कर्ष है कि नाट्यकला में शान्त रस का चित्रण पूर्णतया किया जा सकता है। भरत के अनुसार भी यह 'प्रकृतिरस' है, जहाँ अन्य रस उसके एक-एक वैशिष्ट्य को अपना कर विकृति धारण करते हैं तथा नवीन अभिधानों से मण्डित होते हैं ।

: ३ :

काव्य-सिद्धांत

८

औचित्य

काव्य के स्वरूप के विवेचन के अवसर पर हमने उसके अंगों के वैशिष्ट्य की चर्चा की है। काव्य के शब्द और अर्थ शरीर होते हैं। दोष काणत्व खञ्जत्व के समान होते हैं। गुण शूरता-वीरता के सदृश होते हैं। रीति अवयवों के संस्थान के समान होती है। रस आत्मा के तुल्य होता है। कटक, कुण्डल की तरह अलंकार होते हैं। जिस प्रकार दोषों से रहित तथा गुण-अलंकार से मण्डित सुन्दर अंगों को धारण करनेवाली कामिनी का शरीर दर्शकों के नेत्रों को आकृष्ट करता है उसी प्रकार कविता-कामिनी का भी शरीर होता है। आशय यह है कि काव्य के शब्द और अर्थ को दोषों से रहित होना चाहिए; रीति से सम्पन्न, गुण-अलंकार से विभूषित, वक्रोक्ति से मण्डित तथा रस से पेशल शब्द और अर्थ पाठकों के हृदय को आकृष्ट करने में समर्थ होते हैं। काव्य की आत्मा के विषय में भी विभिन्न सम्प्रदाय वालों के भिन्न-भिन्न मत हैं। रीतिवादी रीति को काव्य की आत्मा मानता है, अलंकारवादी अलंकार को, ध्वनिवादी ध्वनि को, रसवादी रस को तथा वक्रोक्तिवादी वक्रोक्ति को। इनसे भी अधिक व्यापक एक काव्यतत्त्व है—औचित्य। इस प्रकार इस खण्ड में हम क्रमशः काव्य के मान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे और वे हैं—(१) औचित्य, (२) दोष, (३) गुण, (४) रीति, (५) वक्रोक्ति, (६) अलंकार, (७) ध्वनि तथा (८) रस। इन सिद्धान्तों का पुष्ट विवेचन विषय की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यक है।

औचित्य

संस्कृत आलोचना का सबसे अधिक व्यापक तत्त्व 'औचित्य' ही है। औचित्य का साम्राज्य बड़ा ही व्यापक, विस्तृत तथा विशाल है। 'औचित्य' का अर्थ है 'उचित का भाव'। जो वस्तु जिसके अनुकूल होती है उसे हम उचित कहते हैं और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध या जुड़ी हुई वस्तु को अनुरूप अनुकूल या उचित कहना चाहिए। बेढंगी वस्तु के लिए साहित्य का क्षेत्र नहीं होता। व्यवहार में भी यही वस्तु देखी जाती है। मोतियों का हार पहना जाता है गले में तथा नूपुर बाँधे जाते हैं पैर में। यदि मोतियों का हार गले को छोड़कर दूसरी जगह (जैसे हाथ में) पहना जाय, तो बड़ा ही बेढंगा तथा कुरूप लगता है। उससे उस अंग का सौन्दर्य

कभी नहीं बढ़ता। उससे तो देखनेवालों को हँसी ही आती है। उसी प्रकार पैर में बाँधे गये पायजेबों की रुनझुन सुनकर श्रोताओं का हृदय आकृष्ट होता है। यदि कोई नर्तक पायजेबों को हाथ में बाँधकर नाचता है, तो क्या वह कभी प्रशंसा पा सकता है? असली बात यह है कि गहनों के स्थान बँधे हुए हैं—बिल्कुल निश्चित किये गये हैं। वहीं रहकर वे अपनी शोभा बढ़ाते हैं, दर्शकों का चित्त प्रसन्न करते हैं तथा पहननेवाले व्यक्ति के रूप की छटा को उद्दीप्त करते हैं, अन्यत्र नहीं।

कला में भी 'औचित्य' का पूर्ण महत्व होता है। चित्रकला का उदाहरण लीजिए। वही चित्र सुन्दर, भव्य तथा प्रभावशाली माना जाता है, जिसमें चित्रित व्यक्तियों के रूप-रंग में, अंग-प्रत्यंग में, आपस में अनुकूलता विराजती है—'औचित्य' की सत्ता रहती है। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रथम अंक में शकुन्तला को अपनी दोनों सखियों के संग में कोमल बालपादपों को जल से सींचती हुई चित्रित किया है। इन तीनों बालिकाओं के हाथ में सींचने के लिए घड़ा है और ये घड़े वय के अनुरूप बतलाये गये हैं। यह चित्र बड़ा ही सुहावना है—आश्रम में रहनेवाली तापस कन्यायें, जो प्रायः एक ही वय की हैं तथा जिनके हाथों में वय के अनुरूप ही 'सेचन घट' वर्तमान है। इस चित्र के चमत्कार का कारण यही औचित्य है। यदि उनके हाथ में उनकी अवस्था के प्रतिकूल घड़े होते, बड़ी उम्रवाली बालिका के हाथ में छोटा घड़ा होता अथवा छोटी उम्र की कन्यका के हाथ में बड़ा घड़ा होता, तो यह दृश्य दर्शकों के हृदय में क्या आनन्द उत्पन्न करता? यह तो उद्वेग, विषाद या हास्य ही पैदा करता।

कला के समान काव्य जगत् में भी औचित्य का बड़ा भारी महत्व होता है। काव्य तथा नाटक एक लक्ष्य तथा तात्पर्य को लेकर ही अग्रसर होते हैं और यही लक्ष्य क्रमशः श्रोता तथा दर्शक के हृदय में रस का उन्मीलन करता है। यदि अभिनय में दर्शकों को अभिनेय रस में तन्मय बनाने की योग्यता नहीं है, तो वह नाटक कभी भी सफल नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काव्य भी अपने वर्णनों के द्वारा श्रोताओं के चित्त में सहानुभूति तथा रस का उन्मीलन करता है। यह तात्पर्य तभी सिद्ध हो सकता है जब काव्य या नाटक रसमय होने के अतिरिक्त औचित्यपूर्ण भी हो। केवल रस की सत्ता से यह बात सिद्ध नहीं होती, प्रत्युत रस के साथ औचित्य का योग होना नितान्त आवश्यक होता है। काव्य को अलंकार सजाते हैं तथा गुण उसे सगुण बनाते हैं, परन्तु वे अकेले यह काम कर नहीं सकते। उचित अलंकार ही काव्य को सजाता है और उचित गुण ही उसे भूषित तथा पुष्ट करता है। उचित स्थान पर रखने से ही अलंकार की 'अलंकारता' है तथा उचित स्थान पर निविष्ट करने से ही गुण की 'गुणता' है। वह 'उपमा' ही कैसी जो विषय को रसानुकूल नहीं बनाती। माधुर्य काव्य का उपयोगी गुण अवश्य है, परन्तु यदि वह

उचित स्थान पर मधुरता का आस्वादन न करावे, तो वह एकदम व्यर्थ होता है। पूर्णिमा में उगनेवाले चन्द्रमा का देखकर विदूषक की यह उक्ति कितनी फबती है—"नीलगगन में उदय होनेवाला राकेश ऐसा मालूम पड़ता है मानों नीलम की तश्तरी में रखा हुआ बनारसी मक्खन का गोला हो।" पेटू विदूषक के मुँह से इससे सुन्दर उपमा हो ही क्या सकती है? इस उपमा के चमत्कार का कारण है इसका औचित्य। इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र की सम्मति में रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही होता है—

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

औचित्य का स्वरूप

क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा यों किया है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसे हम 'उचित' कहते हैं। उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है। भावार्थ यह है कि किसी वस्तु ही के साथ किसी वस्तु का योग अनुरूप या अनुकूल होता है। लोक तथा कला दोनों के क्षेत्रों में यही नियम जागरूक है। गले में ही मोतियों का हार पहना जाता है। पैर में ही नूपुर बाँधे जाते हैं। अतः मोतियों का हार गले के लिए उचित है तो नूपुर पैरों के लिए। इन दोनों वस्तुओं के संयोग में औचित्य का सफल संविधान है। काव्य के क्षेत्र में भी इसी प्रकार शृङ्गार रस के साथ माधुर्य गुण का योग अनुकूल पड़ता है; तथा रौद्र और वीर रस के साथ गाढ़बन्धता के प्रतिपादक ओज गुण का। इस अनुरूपता के कारण शृङ्गार के साथ माधुर्य का तथा वीर के साथ ओज का संयोग सर्वथा औचित्यपूर्ण है। इसी प्रकार कोई अलंकार रस के साथ इतना अनुकूल पड़ता है कि उसकी सत्ता काव्य को सजीव तथा चमत्कृत बना देती है। ऐसी दशा में वर्ण्य विषय के साथ उपमा का औचित्य सर्वथा माना जाता है। कोई विशिष्ट पद ही किसी अर्थ विशेष के प्रतिपादन में नितरां समर्थ होता है। यहाँ उस शब्द का औचित्य विज्ञों को अवश्य ही चमत्कृत करता है।

औचित्य का तत्त्व उतना ही प्राचीन है, जितना कि काव्य समीक्षण। समीक्षा के आद्य आचार्य भरत ने नाटकीय प्रसंग में पात्र, प्रकृति, वेशभूषा, भाषा आदि के औचित्य का विस्तृत प्रतिपादन अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वहीं से स्फूर्ति तथा प्रेरणा पाकर भरत के बाद आलंकारिकों ने अपने काव्य विवेचन में इस तथ्य को यत्र तत्र दिखलाया है। परन्तु इस कार्य में सबसे अधिक जागरूक अध्यवसाय है आचार्य आनन्दवर्धन का। इन्होंने ध्वनि तत्त्व के विवेचन के प्रसंग में औचित्य के नाना प्रकारों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन

किया है। क्षेमेन्द्र काश्मीरी होने से आनन्दवर्धन के स्वदेशी ही नहीं, प्रत्युत उनके ध्वनि-सम्प्रदाय के भी पक्के अनुयायी थे। साहित्य शास्त्र में वे जिस आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य होने का गर्व रखते थे, वे ही आनन्द के भाष्यकार तथा ध्वनि सिद्धान्त के मुख्य समर्थक थे। इस प्रकार क्षेमेन्द्र के ऊपर इन्हीं आचार्यों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इन्हीं के द्वारा व्याख्यात औचित्य विषयक तत्त्व को क्षेमेन्द्र ने एक सुव्यवस्थित रूप दिया है। इनके पहले औचित्य तत्त्व ज्ञात नहीं था। परन्तु उसके व्यापक साम्राज्य का निर्देश क्षेमेन्द्र का गौरवशाली कार्य है। काव्य का प्रत्येक अंग तथा उपांग, शब्द तथा अर्थ, पद तथा वाक्य, गुण तथा रस, इसकी छत्रछाया में पनपता है तथा अपनी कृतार्थता संपादन करता है। ये औचित्य से ही जीवनी शक्ति लेकर अपने पद पर आरूढ़ रहते हैं। इस मौलिक तथ्य के प्रतिष्ठापन का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है।

रसध्वनि और औचित्य

साहित्य शास्त्र के विकास में एक समय यह भी था जब विवेचकों की दृष्टि में औचित्य ही निरपेक्ष भाव से काव्य का जीवन माना जाता था। अभिनवगुप्त के वचन इस कथन के लिए प्रमाणभूत हैं। उन्होंने लोचन में उन आलंकारिकों का खूब खण्डन किया है जो औचित्य को काव्यजीवित अंगीकार करने की व्यर्थ कल्पना किया करते थे। रस और व्यंजना से बिना सम्बन्ध रखे 'औचित्य' का तात्पर्य ही क्या है? इस तत्त्व के नियामक तो ये ही हैं। आनन्द और अभिनव ने इस महनीय तत्त्व का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में अच्छी तरह से पहले ही किया था। बिना रस की और बिना ध्वनि की सत्ता स्वीकार किये औचित्य के स्वरूप को समझना विडम्बना मात्र है। यही कारण है कि रस और ध्वनि के प्रमुख आचार्य आनन्द और अभिनव ने 'औचित्य' का अपने साहित्य सिद्धान्त में गौण-रूप से अध्ययन किया है। इनकी दृष्टि में औचित्य से संवलित रसध्वनि काव्य की आत्मा है और इस प्रकार इन तीनों काव्य-तत्त्वों का परस्पर इतना अधिक सामञ्जस्य है कि हम इन्हें पृथक् नहीं कर सकते। इनमें परस्पर उपकार्योपकारक भाव विद्यमान है। परन्तु क्षेमेन्द्र ने इसके समान ध्वनि का स्वीकरण अस्पष्ट शब्दों में ही किया है। वे ध्वनि को प्रथमतः अवश्य अंगीकार करते हैं। तभी तो औचित्य की काव्य में इतनी व्यापकता मानने में वे कृतकार्य होते हैं। उदाहरण के लिये हम पदौचित्य की व्याख्या को ले सकते हैं। काव्य में किसी विशिष्ट पद को चुनने के लिए कवि बाध्य क्यों होता है? इसीलिए तो कि उसके द्वारा द्योत्य तथा अभिव्यङ्ग्य अर्थ प्रकृत रस को पुष्ट करता है। यह पुष्टि उसी पद के द्वारा ही ठीक ढंग से हो सकती है, उसके पर्यायभूत अन्य पदों के द्वारा नहीं। विरहावस्था का सूचक पद 'कृशाङ्गी' या 'तन्वी' है, 'सुन्दरी' या 'मुग्धा' नहीं। इसीलिए श्री हर्ष के इस प्रसिद्ध पद्यांश—

कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसनीपत्रशयनम्

में 'कृशाङ्गी' पद विरह की दयनीय दशा तथा तदनुरूप समधिक वेदना का स्पष्ट द्योतक है। क्षेमेन्द्र इसे विशिष्ट शब्दों में मानते हैं। इसी के समान अन्य व्याख्याओं में वे ध्वनि के तत्त्व से अपना परिचय प्रदर्शित करते हैं। यह अनुमान का विषय नहीं है। ध्वनि स्थापक आचार्य की शिष्य परम्परा के अन्तर्भुक्त होने वाले व्यक्ति के लिये ऐसा कहना सर्वथा सम्भव है।

रस तथा औचित्य के पारस्परिक सम्वन्ध का प्रतिपादन 'औचित्यविचार चर्चा' में नितरां स्फुट है। क्षेमेन्द्र ने प्रथमतः रस को काव्य की आत्मा माना है। तदनन्तर औचित्य को इसका 'जीवित' जीवन स्वीकार किया है। इस प्रसंग में 'जीवित' शब्द का प्रयोग अभिनवगुप्त ने भी किया है। वे औचित्य से संवलित रसध्वनि को 'काव्य का जीवित' कहते हैं। अभिनव ने इस प्रकार 'आत्मा' और 'जीवित' पदों को एक दूसरे का पर्यायवाची माना है। दोनों का एक ही समान तात्पर्य है—सारभूत अर्थ। परन्तु क्षेमेन्द्र ने इन पदों के सूक्ष्म तात्पर्य की भिन्नता की ओर संकेत किया है। काव्य का प्राणरूप है रस और जीवभूत है औचित्य। क्षेमेन्द्र की समीक्षा के अनुसार दोनों का अभिप्राय एक ही नहीं है। इन दोनों सिद्धान्तों के परस्पर सम्वन्ध की सूचना क्षेमेन्द्र ने स्वतः इस श्लोक में किया है—

औचित्यस्य चमत्कार-कारिणश्चारु चर्वणे।
रस जीवित भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

—औ० वि० च०, श्लोक ३।

काव्य में चमत्कार का उदय औचित्य से सम्पन्न होता है। औचित्य के अभाव में काव्य में उस मनोज्ञता का जन्म ही नहीं हो सकता जिसमें वह सहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। यही तथ्य रस का जीवित भी है। काव्य में रस की सत्ता मानकर ही क्षेमेन्द्र ने यह अपनी मौलिक कल्पना की है। रस तत्त्व को यथार्थतः समझाने के लिए ही इनका यह नवीन उद्योग है।

रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य है। काव्य रस से उसी प्रकार सिद्ध होता है जिस प्रकार पारद रस के सेवन से शरीर[1]। पारद के सेवन से ही शरीर में स्थिरता

---

१. रसेन भृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवित स्थिरमित्यर्थः। औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्।

—औचित्य विचारचर्चा, पृ० ११५।

आती है। शरीर में यौवन चिरस्थायी होता है। इसी प्रकार रस से सम्पन्न काव्य का औचित्य स्थिर जीवनरूप है। आचार्य क्षेमेन्द्र की मान्य सम्मति में रस से काव्य 'सिद्ध' (सम्पन्न) होता है, तो औचित्य के द्वारा उसे चिरस्थायी जीवन प्राप्त होता है। इस प्रकार ये दोनों काव्यसिद्धान्त एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से अनुस्यूत हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि काव्य-तत्त्व की समीक्षा करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चमत्कार ही काव्य का सर्वस्व है। चमत्कार से युक्त शब्द और अर्थ के साहित्य को ही 'काव्य' कहते हैं। इसी चमत्कार को भिन्न-भिन्न आलंकारिकों ने अपने अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार भिन्न भिन्न नाम दिये हैं। काव्यगत चमत्कार को ही आनन्दवर्धन ध्वनि के नाम से पुकारते हैं। कुन्तक इसी को 'वक्रोक्ति' कहते हैं। अभिनवगुप्त इसी को 'वैचित्र्य' का अभिधान देते हैं। क्षेमेन्द्र इसी चमत्कार को 'औचित्य' संज्ञा से अभिहित करते हैं। काव्य की आत्मा तो एक ही है परन्तु उसके लिए व्यवहृत शब्द ही अनेक हैं। कुन्तक के काव्य लक्षण को खण्डित करते हुए महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में इस रहस्य का विवेचन बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है। उनकी सम्मति में भी लोक और शास्त्र में व्यवहृत शब्द और अर्थ से काव्यगत शब्द और अर्थ की जो विशिष्टता है वह या तो औचित्यरूप है या ध्वनिरूप। कोई उसी तत्त्व के लिए वक्रोक्ति शब्द का भी व्यवहार करते हैं। उस तत्त्व के विवेचन में केवल नामों का ही भेद है, मूल तत्त्व एक ही है। औचित्य का यह ऐतिहासिक समीक्षण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि औचित्य शास्त्र का नितान्त मौलिक तथा व्यापक काव्यतत्त्व है। आनन्दवर्धन से पूर्व प्राचीन आलंकारिकों ने परोक्षरूपेण काव्य में औचित्य का गौरव स्वीकार किया है। हम इसे नितान्त अज्ञात तथा अपरिचित तथ्य नहीं कह सकते। सच्ची बात तो यह है कि औचित्य भारतीय आलंकारिकों की संसार के आलोचनाशास्त्र को महती देन है। जितना प्राचीन तथा सांगोपांग विवेचन इसका भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। यह हमारे साहित्य शास्त्र के महत्त्व का पर्याप्त परिपोषक है।

औचित्य का दृष्टान्त

औचित्य का उदाहरण देखिए। सीता के सौन्दर्य से मुग्ध होकर रावण व्याकुल-हृदय अचेत पड़ा हुआ है। उसी अवसर पर ब्रह्मा, बृहस्पति तथा नारद जैसे देवता और महर्षि लोग रावण के प्रताप से आक्रान्त होकर उसकी प्रशस्त स्तुति के लिए उपस्थित होते हैं। इस पर द्वारपाल उन्हें लम्बी फटकार बतलाता है—

> ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयः, तूष्णीं बहिः स्थीयताम्;
> स्वल्पं जल्प बृहस्पते! जडमते नैषा सभा वज्रिणः।
> वीणां संहर नारद! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बरो;
> सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः॥

हे ब्रह्माजी, वेदमन्त्रों के अध्ययन का यह समय नहीं है। आप हटकर बाहर चुप-चाप खड़े रहिये। हे मूर्ख बृहस्पति! अपना बकवाद कम कर; जानता नहीं यह सभा वज्र धारण करनेवाले की नहीं है। नारद जी महाराज! आप अपनी वीणा को बन्द कीजिये। हे तुम्बुरु! तुम अपनी स्तुति कथा परक आलाप करना बन्द कर दो। आज लंका के राजा रावण सीता के (सीमन्त) माँगरूपी भाले से विद्धहृदय पड़े हैं। उनकी तबीयत अच्छी नहीं है।

यह श्लोक अत्यन्त मनोरम है तथा औचित्य के कारण इसकी रुचिरता विवेचकों की दृष्टि में बढ़ी-चढ़ी है। इस पद्य में विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का चुनाव बड़ा ही समीचीन तथा उचित है। बृहस्पति के लिए जड़मति का प्रयोग अनुरूप ही है। इसीलिए उनके कथन को 'जल्पना' कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र के लिए 'वज्री' (वज्र को धारण करने वाला) शब्द का प्रयोग उनके औद्धत्य का परिचायक है। यह शब्द स्पष्ट सूचित कर रहा है कि इन्द्र उद्दण्डता का प्रतिनिधि है। उसमें कोमल कलाओं के आस्वादन की तनिक भी योग्यता नहीं है। सीता के सिन्दूर से चर्चित माँग की उपमा रक्तरंजित भालों से देना कितना औचित्यपूर्ण है। इसको तो सहृदय ही समझ सकते हैं। दोनों रंग में लाल हैं और आकृति में लम्बे हैं और दोनों चोट करने में चुस्त तथा चालाक हैं। अतः यह उपमा सर्वथा अनुरूप और उचित है। केशवदास ने 'राम-चन्द्रिका' में इसका बड़ा ही रुचिर अनुवाद प्रस्तुत किया है।

उचित पदों का प्रयोग न होने से काव्य का समग्र आनन्द जाता रहता है। उसका सारा मजा किरकिरा हो जाता है। कोई भी वाक्य अलंकारों से कितना भी अलंकृत क्यों न हो, परन्तु यदि उसमें औचित्य का अभाव हो—चाहे वह पद का हो या अर्थ का—तो उसकी सुन्दरता जाती रहती है, और वह कथमपि हृदय को आकृष्ट नहीं करता।

औचित्य के भेद

औचित्य के प्रभेद अनन्त हैं। काव्य के प्रत्येक अंग और उपांग पर इस तथ्य का व्यापक प्रभाव है। इस तत्त्व के विशिष्ट मर्मज्ञ आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' नाम के प्रख्यात ग्रन्थ में औचित्य के इन २७ प्रकारों का व्यापक वर्णन किया है—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबन्ध, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सार-संग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वाद।

यह केवल निदर्शनमात्र है। एक दो उदाहरण के द्वारा इस तत्त्व के समझाने का उद्योग किया जाता है—

नामौचित्य

साहित्यिक दृष्टि से नामों की सार्थकता सिद्ध मानी जाती है। संस्कृत के कोशों में एक ही व्यक्ति के अनेक नाम मिलते हैं, जैसे सबके हृदय में मद(आनन्द)उत्पन्न करने के कारण कामदेव 'मदन' कहलाता है, वैसे ही सब प्राणियों के दर्प के दलन करने के हेतु वही 'कन्दर्प' की संज्ञा पाता है। अंग से रहित होने के कारण वही 'अनंग', प्राणियों के मन में उत्पन्न होने से 'मनसिज' तथा फूलों के बाणों से युक्त होने से 'पुष्पबाण' कहलाता है। प्रकृत अर्थ के अनुरूप नाम चुनना भी कवि की कला का एक सुन्दर दृष्टान्त होता है। महाकवि विहारी ने इस दोहे में नाम के औचित्य का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

> करौ कुबत जग, कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
> दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल।।

हे दीनदयाल, संसार मेरी कितनी भी निन्दा करे, मैं अपनी कुटिलता को, टेढ़ेपन को, छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं हूँ। इसका एक कारण है। आप ठहरे त्रिभंगीलाल। खड़े होने की मुद्रा में आप के पैर टेढ़े हैं, कमर टेढ़ी है तथा सिर झुका हुआ है। ऐसी दशा में मेरे सरल चित्त में रहने से आप बहुत ही दुःखी होंगे। टेढ़ी चीज टेढ़े सन्दूक में अच्छी तरह रखी जा सकती है। सीधे पात्र में टेढ़ी चीज को रखने पर बड़ी तकलीफ होती है। इसीलिए कवि अपने चित्त को भी टेढ़ा ही बना रखना चाहता है जिससे उसमें रहने के समय त्रिभंगीलाल को रहने में किसी प्रकार का कष्ट न हो। इस सुन्दर दोहे में 'त्रिभंगी-लाल' नाम को कृष्ण के लिए चुनने में नामौचित्य का रुचिर दृष्टान्त प्रस्तुत होता है। कृष्ण के लिए नामों की कमी नहीं है। वह अपनी सुन्दरता से लोगों के चित्त को आकर्षण करने के कारण 'कृष्ण' या 'कान्हा' हैं, तो गायों की सेवा करने से 'गोपाल' या 'गोविन्द' हैं। कभी वह 'यशोदानन्दन' हैं, तो कभी वह 'कंसारि' हैं। ऐसी दशा में स्थानविशेष पर प्रकृत अर्थ के समर्थन के लिए उपयुक्त नाम को खोज निकालना तथा प्रयोग करना ऊँची काव्यप्रतिभा का निदर्शन है।

अलंकारौचित्य

अलंकार का औचित्य वहाँ होता है, जहाँ वह प्रकृतिरस, सन्दर्भ या प्रकरण को सर्वथा पुष्ट करे। तभी वह भूषण का काम कर सकता है। अलंकार का 'अलंकारत्व' इसी में है कि वह प्रकृत अर्थ तथा प्रस्तुत रस का पोषक हो। यदि इस कार्य में वह समर्थ नहीं होता तो वह भूषण कविता-कामिनी के लिए भारभूत ही होता है। बिहारी की यह सूक्ति यथार्थ ही है—

वा सोने को जारिये जासे टूटे कान।

नीरस काव्य में अलंकारों की झंकार केवल हमारे कानों को ही सुख पहुँचाती है; हृदय का आवर्जन तनिक भी नहीं करती। इसीलिए ऐसे रसहीन अलंकृत काव्य को आलोचकगण काव्य की निम्नतम कोटि--चित्रकाव्य--में रखते हैं।

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥

किसी विरहिणी की दयनीय दशा का वर्णन है। वह बाला--दुःख के सहने में नितान्त अक्षम सुन्दरी--रातो दिन यही कहा करती है--'यह कपूर का लेप मेरे शरीर से दूर करो। मोती की माला हटा डालो। कमलों की क्या जरूरत है? ए सखि, मृणाल का रखना एकदम व्यर्थ है। उसे दूर फेंको। ये हमारे शरीर में गर्मी बढ़ा रहे हैं। चैन लाने की दवा मुझे बैचेन बना रही है। अतः इन्हें हटा डालो'। इस पद्य में प्रस्तुत रस विप्रलम्भ शृंगार है। इसके प्रथमार्थ में रेफ का अनुप्रास तथा उत्तरार्ध में लकार का अनुप्रास प्रकृत रस के नितान्त पोषक हैं। लकार का बहुल प्रयोग तथा गलितप्राय पदों का विन्यास विप्रलम्भ-शृंगार के सर्वथा उत्कर्षक होते हैं। लकार का प्रयोग कितनी अधिकता से इस पद्य में उत्तरार्ध में किया गया है--अलमलमालि मृणालैः बाला--में पाँच बार लकार का कवि ने प्रयोग किया है। लकार माधुर्य का सूचक होता है और वियोग शृंगार में माधुर्य की उत्कृष्टता वढ़ाने के लिए यह अनुप्रास बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत' की यह आर्या सचमुच रस की निर्झरिणी है।

वृत्तौचित्य

कविता में उपयुक्त छन्द का प्रयोग वृत्तौचित्य कहलाता है। प्रत्येक भाषा के छन्दों की एक विशिष्ट प्रकृति होती है--अपना एक निजी स्वभाव होता है। वृत्तों में लघु तथा गुरु का चुनाव संगीत के तत्त्व पर आश्रित रहता है। सच्चा कवि वही होता है जो विषय के अनुरूप छन्दों का चुनाव करता है। संस्कृत के छन्दों में तथा हिन्दी के छन्दों में संगीतात्मक प्रवाह होता है। किसी विषय के लिए किसी भी छन्द का प्रयोग उचित नहीं होता। 'मालिनी' का प्रयोग वहाँ बड़ा सरस होता है जहाँ सौम्यभाव से विषय का आरम्भ कर पीछे उग्रता दिखलाने का अवसर आता है। इसी प्रकार 'मन्दाक्रान्ता' का प्रयोग विरहोत्पादक विषयों के वर्णन में बहुत ही अच्छा जमता है। 'मेघदूत' के विरह वर्णन में प्रयुक्त मन्दाक्रान्ता कालिदास का इसीलिए सिद्ध छन्द माना जाता है। हिन्दी में 'घनाक्षरी' का प्रयोग संस्कृत के 'स्रग्धरा' के समान रोमहर्षण युद्ध तथा तत्समान भयंकर वस्तुओं के वर्णन में ही उचित प्रतीत होता है, उधर 'सवैया' का प्रयोग वसन्ततिलका तथा मालिनी

के सदृश हृदय के कमनीय भावों की व्यंजना के अवसर पर विशेष फबता है। घनानन्द तथा भारतेन्दु के सवैये शृंगाररस से पूर्ण होने के कारण हिन्दी साहित्य में इसीलिए इतने प्रसिद्ध हैं। घनानन्द का यह 'सवैया' कितना औचित्यपूर्ण है—

पहले अपनाय सुजान सनेह सौं क्यों फिरि नेह कै तोरियै जू,
निरधार अधार दै धार-मँझार दई गहि बाँहि न बोरियै जू।
'घन आनँद' आपने चातिक कौं गुन-बाँधि लै मोह न छोरियै जू,
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास मैं क्यों विष घोरियै जू॥

इसी प्रकार 'घनाक्षरी' या 'कवित्त' का प्रयोग ओजस्वी विषयों के वर्णन में सर्वदा किया जाता है जिसे पढ़कर श्रोताओं के हृदय में वीररस का संचार बरबस हो जाता है। भूषण तथा पद्माकर के कवित्त इसी कारण हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। भूषण ने कवित्त छन्द का प्रयोग यहाँ बड़ी भव्यता के साथ किया है—

साहितनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं।
झूलत झलमलात झूलें जरबाफन की,
जकरे जँजीर जोर करत किरिरि हैं।
'भूषन' भँवर भननात, घननात घंट,
पग झननात, मनो घन रहै घिरि हैं।
जिनकी गरज सुन दिग्गज बेआब होत,
मद ही के आब गड़काब होत गिरि हैं॥

पदौचित्य

उचित पदों के चुनाव में भी कवि अपनी प्रतिभा का प्रयोग करता है। स्त्री के वाचक अनेक पद वर्तमान हैं जैसे अंगना, सुन्दरी, ललना तथा तन्वी आदि। इन सबका प्रयोग उचित स्थान पर ही शोभा देता है। 'अंगना' का अर्थ है सुन्दर अंगवाली महिला; 'ललना' से अभिप्राय है वह नारी जो अपनी सुन्दरता के कारण स्त्री समाज को शोभित करती है। 'तन्वी' का तात्पर्य विरह वेदना से खिन्न तथा कृश शरीरवाली स्त्री से है। उचित स्थान तथा उचित सन्दर्भ के अवसर पर इनका प्रयोग सुन्दर लगता है। कालिदास ने इसीलिए यक्ष की विरहविधुरा पत्नी के लिए 'तन्वी' का बहुशः प्रयोग किया है—यथा 'तन्वी श्यामा विरहविधुरा पक्वबिम्बाधरोष्ठी' आदि प्रसिद्ध पद्य में।

रसौचित्य

औचित्य से समन्वित रस ही सहृदयों के मन को उसी प्रकार अंकुरित करता है जिस

प्रकार वसन्त अशोक के वृक्ष को। रस काव्य का प्राण अवश्य ठहरा, परन्तु जब तक वह औचित्य से रुचिर नहीं होता तब तक वह सहृदयों के चित्त को आकृष्ट नहीं कर सकता। इसके उदाहरणार्थ कुमारसंभव का वसन्त वर्णन है। कवि कालिदास भगवान् शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषरूप शृङ्गार उत्पन्न के लिए प्रस्तुत हैं। इसी के उद्दीपन रूप से वे वसन्त का वर्णन कर रहे हैं—

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद्,
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतान (
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ।।

इस पद्य में लाल रंग की टेढ़ी पलाश कलिका वसन्त के द्वारा वनस्थली रूपी ललनाओं के अंग पर किये गये नखक्षत के समान प्रतीत हो रही है। वसन्त नायक है। वनस्थली कामिनी है। पलाश की लाल कलियाँ सद्यः रक्त रंजित नखक्षत प्रतीत हो रही हैं। वसन्त का यह संभोग शृङ्गारी रूप प्रकृत अर्थ के लिए नितान्त उपयुक्त है। शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति शृङ्गारिक अभिलाषा उत्पन्न करने के निमित्त यह सचमुच प्रभाव शाली उद्दीपन का कार्य कर रहा है। कवि ने इस रसमय वर्णन से अपने काव्य को नितान्त-प्राञ्जल तथा रुचिर बना दिया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यही रसौचित्य का सुन्दर नमूना है।

———

९

दोष

दोष की कालिमा से मनुष्य की बड़ी ही अप्रतिष्ठा होती। दोष दोष ही होता है, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, एक हो या अनेक हो, गुप्त हो या प्रकट हो। कामिनी का शरीर है बड़ा ही सुन्दर; अंगों की चारुता तथा सुन्दर बनावट रसिकों का चित्त बरबस आकृष्ट कर रही है, परन्तु उसके भाल के ऊपर दीख पड़ता है एक छोटासा सफेद दाग। इस छोटे से दाग ने—सफेद कोढ़ के तनिक से छींटे ने—उस सुन्दर अप्सरातुल्य मनोरम रूप को सदा के लिए खराब कर डाला। सौन्दर्य की दृष्टि से उस रमणीरत्न का मूल्य कोयले से भी कम हो जाता है!!! कविता-कामिनी के शरीर में भी दोष का यही प्रभाव होता है। कितना भी सुन्दर, सरस तथा सरल काव्य क्यों न हो, यदि उसमें एक छोटी सी भी व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि कहीं झाँकती हुई दीख पड़ती हो, तो सारा गुड़ गोबर हो जाता है। समग्र सरसता उस एक त्रुटि के कारण नीरसता के रूप में बदल जाती है। एक भी कर्णकटु शब्द कानों में मानों सूई चुभाने लगता है। चित्त में विरसता उत्पन्न कर देता है। "कार्तार्थ्य की प्राप्ति ही है जीवन का शुभलक्ष्य" वाक्य में प्रथम पद के उच्चारणों में जीभ जितना आयास और व्यायाम करती है उससे अधिक कान में सूई चुभती हुई जान पड़ती है। रेफ, थकार तथा यकार का एकत्र संयोग जो श्रवण कटु ठहरा, तो फल उसका विपरीत क्यों न हो? कहने का अभिप्राय है कि दोषों से बचना कवि तथा लेखक का परम धर्म है। गुण तथा रस की सम्पत्ति से काव्य को सम्पन्न बनाने से पहिले उसे दोषों से बचाना नितान्त आवश्यक है।

दोष का लक्षण

काव्यदोष का लक्षण है रस का अपकर्षक होना। जिन साधनों से कविता में रस की न्यूनता या कमी होती है, उन्हें 'दोष' के नाम से पुकारते हैं। ऊपर कहा गया है कि काव्य में रस ही मुख्य वस्तु है। उसी की सत्ता के कारण काव्य में काव्यत्व का जन्म होता है और इसीलिए रस को अक्षुण्ण, अन्यून, पूर्ण तथा समग्र बनाये रखने की बड़ी आवश्यकता होती है। इस रस के ऊपर यदि किसी प्रकार आघात पहुँचा या कहीं से कमी आई या थोड़ा भी ह्रास हुआ, तो समझ लीजिए कि वह काव्य आलोचकों की दृष्टि में गिर गया; सम्मान पाने की योग्यता से वह हीन हो गया।

किसी गोपी के रूप का यह वर्णन काफी सुन्दर है परन्तु इसमें 'छन्दो भंग' दोष के आ जाने से इसकी समग्र सुन्दरता जाती रही——

केसर तिलक ललाट बेसरि बानक मुख बेस।
सुरँग ओढ़नी सीस बन सी बट बिथुरे केस॥

इस दोहे पर जरा ध्यान दीजिए। दोहे के प्रथम चरण की समाप्ति नियमानुसार 'बेसरि' शब्द के 'बे' के बाद ही हो जाती है। यहाँ पर विश्राम होना चाहिए था; परन्तु ऐसा नहीं है। दोहे का तीसरा चरण 'बनसी' के .बन' के पश्चात् ही पूरा होता है। वहीं पर विराम होना चाहिए। विराम का नियम यह है कि वह किसी शब्द के अन्त पर ही नियमतः होता है, परन्तु यहाँ शब्दों के बीच में ही पड़ता है, इसलिए इन दोनों शब्दों के बीच में ही तोड़ना पड़ता है। अतएव यह 'यतिभंग' नामक दोष हुआ। इस दोष के आ जाने से यह सरल दोहा नितान्त दुष्ट तथा उद्वेगजनक हो गया है।

दोषभेद

काव्य में रस की मुख्यता होने के कारण ही रसदोष मुख्य दोष माना जाता है। रस की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है; और अर्थ का ज्ञान शब्द के अधीन रहता है। फलतः शब्द तथा अर्थ के दोषों का दरजा रसदोष से घट कर है। शब्द भी पद तथा वाक्य के रूप में काव्य में उपस्थित होता है और अर्थ के लिए उपयोगी होता है। इसलिए पद तथा वाक्य में होनेवाले दोष भी परम्परया रस का अपकर्ष करने में कारणभूत माने जा सकते हैं। पद के किसी अंश में भी दोष पाया जा सकता है। इसे पदांश दोष कहते हैं। इस प्रकार संस्कृत के आलोचक आचार्यों ने दोषों का वर्णन बड़े ही विस्तार तथा सूक्ष्मता के साथ किया है जो उनकी सूक्ष्म विवेचना तथा आलोचनापद्धति को सूचित करता है। दोष पाँच प्रकार का होता है——(१) पद दोष (२) पदांश दोष (३) वाक्य दोष (४) अर्थ दोष, (५) रस दोष। इन प्रत्येक प्रकार के नाना भेद-प्रभेदों के कारण दोष का प्रसंग काव्यजगत् में एक सूदीर्घ व्यापार माना जाता है। इन समग्र दोषों के दिखलाने का तथा उदाहरण द्वारा मीमांसा करने का यहाँ न अवसर है और न स्थान। इसलिए यहाँ चुने हुए ही दोष दिखलाये जाते हैं।

पददोष

सच्ची कविता के लिए कतिपय आवश्यक नियम आलोचनाशास्त्रियों को मान्य हैं जिनका उल्लंघन करने से दोषों का उदय होता है। कविता में तथा मधुरता में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता में ऐसे ही पदों का प्रयोग करना चाहिए जो कानों को मधुर मालूम पड़ें। परन्तु यदि शब्दों की बनावट टेढ़ी-मेढ़ी जैसी हो जाती है, तो वे कानों को

खटकने लगते हैं। इसका नाम है (१) श्रुतिकटु दोष। इस उदाहरण पर दृष्टिपात कीजिए—

"पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता"

यहाँ 'विषयोत्कृष्टता' तथा 'विचारोत्कृष्टता' शब्दों में अक्षरों का योग इतना बेढंगा है कि वे कानों को बेतरह तीखे लगते हैं।

कोई भी लेखक वाक्यों के विन्यास में व्याकरण की अवहेलना नहीं कर सकता। व्याकरण ही भाषा का प्राण ठहरा। उसकी उपेक्षा पदों को अशुद्ध बना डालती है। ऐसे व्याकरण-विरुद्ध पदों में (२) 'च्युत-संस्कृति' या 'संस्कारहीनता' नामक दोष होता है।

पदों के प्रचलन की भी बड़ी आवश्यकता होती है। कोषों में उल्लिखित होने पर भी यदि कवियों के द्वारा प्रयोग नहीं होता, तो वह पद (३) 'अप्रयुक्त' कहलाता है। संस्कृत में 'दैवत' शब्द कोष की दृष्टि से पुल्लिग तथा नपुंसकलिंग दोनों है (दैवतः तथा दैवतम्), परन्तु लेखकों द्वारा इसका प्रयोग पुल्लिग में नहीं होता। अतः 'दैवतः' का प्रयोग 'अप्रयुक्त' दोष माना जावेगा।

दो अर्थ वाले शब्द को अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना (४) 'निहतार्थ' कहलाता है। न अनुचित अर्थ वाले, न निरर्थक और न अवाचक पदों का प्रयोग न्याय्य है। ऐसा करने पर क्रमशः (५) अनुचितार्थ (६) निरर्थक तथा (७) अवाचक पददोषों का उदय होता है। ऐसे ही काव्य में शोभन और शिष्ट शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए। ऐसे प्रयोग न करने से (८) अश्लील तथा (९) ग्राम्य दोष उत्पन्न होते हैं। किसी पद में या वाक्य में कभी अर्थ समझने में सन्देह नहीं होना चाहिए। ऐसा प्रयोग ही न करें कि कहीं सन्देह के लिए गुंजाइश हो। यदि ऐसा होगा, तो वक्ता या लेखक का अभीष्ट अर्थ कभी समझ में नहीं आ सकता। ऐसा दोष (१०) संदिग्ध कहलाता है जो पद में, वाक्य में तथा अर्थ में भी हो सकता है।

वाक्य में विधेय अंश का विमर्शन प्रधानरूप से होना उचित होता है। जिसका विधान करना होता है उसका निर्देश मुख्य रूप से अलग करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि विधेय अंश या प्रतिपादन मुख्यतया नहीं किया जाता और तब एक गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है जिसका अन्वर्थ नाम है—(१) अविमृष्ट-विधेयांश। उदाहरण से इसका रूप समझा जा सकता है। यत् तथा तद् पदों का, जो और वह पदों का, नित्य सम्बन्ध रहता है। किसी वाक्य में यदि यत् (जो) शब्द का प्रयोग किया गया है, तो उसके अन्तर वाले वाक्य में तत् (वह) शब्द का प्रयोग नितान्त उचित ही होता है। ऐसा न करना एक महनीय दोष होता है। 'जिसे हमने कल बुलाया था, वही राम आज आया है'

इस वाक्य में जिसे तथा वही का प्रयोग बहुत ही ठीक है। यदि 'वही' शब्द 'जिसे' के पास ही कहीं रखा जाय, तो वह विधेय अर्थ की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं कर सकता। इस स्थान पर समास का भी मूल्य भली भाँति आँका जा सकता है। समास के भीतर प्रवेश कर जाने पर किसी पद का प्राधान्य लुप्त हो जाता है और वह गौण कोटि में चला आता है। ऐसी स्थिति में विधेय अंश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना नितान्त अनुचित व्यापार होता है। शिवजी का वर्णन करते समय कालिदास का कथन है—'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य-जन्मता' अर्थात् शिव का शरीर विरूप आँखवाला है तथा अदृष्ट जन्म होने का भाव वर्तमान है। कहना यह है कि शिवजी का जन्म अलक्षित है, परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया और प्राधान्य नष्ट हो गया। यह सर्वथा अनुचित है। यह 'अविमृष्ट विधेयांश' दोष का उदाहरण है।

कतिपय दोषों के उदाहरण

(४) निहतार्थ

रे रे शठ नीरद भयो, चपला विधु चित लाइ।
भव मकरध्वज तरन को, नाँहि न और उपाइ॥

हे शठ, तुम अब नीरद (दाँतरहित—बुड्ढे) हो गये हो। लक्ष्मी (चपला) तथा विष्णु (विधु) में चित्त को लगाओ। संसार रूपी समुद्र को तैरने के लिए और कोई भी उपाय नहीं है। यहाँ 'नीरद' का प्रसिद्ध अर्थ है बादल, पर यहाँ प्रयुक्त है 'दाँतरहित' अर्थ में; 'चपला' का बिजुली, विधु का चन्द्रमा, मकरध्वज का कामदेव ही प्रसिद्ध अर्थ है; परन्तु इस दोहे में इनका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसलिए निहतार्थ दोष हुआ।

(५) अनुचितार्थ

ह्वै के पशु रणयज्ञ में अमर होंहि जग शूर।

जगत् में शूर लोग रणरूपी यज्ञ में पशु बनकर (याने मारे जाने पर) अमर हो जाते हैं। यहाँ योद्धाओं को पशु बनने की बात कहना कायरता सूचित कर रहा है। पशु परतन्त्र होकर मारा जाता है, परन्तु योद्धा तो स्वतंत्र होते हैं। अतः पशु की उपमा अनुचितार्थ सूचित करती है।

(१०) संदिग्धार्थ

"वन्द्या तेरी लक्ष्मी, करो वन्दना तासु"

तेरी लक्ष्मी 'वन्द्या' है। उसकी वन्दना करो। 'वन्द्या' के दो अर्थ होते हैं—वन्दनीया

तथा बन्दी बनाई गई (कैद की गई) कवि को कौन अर्थ अभीष्ट है। इसका पता नहीं चलता। इसलिए यह सन्देहजनक होने से संदिग्धार्थक प्रयोग है।

वाक्य-दोष

ऊपर प्रधान पददोषों का ही उल्लेख किया गया है। इनमें से कतिपय दोष पद के अंश में भी विद्यमान रहते हैं तथा प्रायः समस्त पददोष वाक्यों में भी विद्यमान रहते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट वाक्यदोष भी होते हैं जिनकी स्थिति केवल वाक्य में ही होती है। इनमें से कतिपय महत्त्वशाली दोषों का यहाँ विवेचन किया जा रहा है—

(१) **प्रतिकूल-वर्णता**—मुख्य रस के अनुकूल ही वर्णों का विन्यास काव्य में किया जाता है। शृंगाररस के पोषक वर्णों को मधुर तथा सुकुमार होना नितान्त आवश्यक होता है। यदि इस सर्वमान्य नियम का उल्लंघन किया जाता है, तो 'प्रतिकूल वर्णता' का दोष गले पतित हो जाता है।

(२) **न्यूनपदता**—(३) **अधिकपदता**—अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए उतने ही शब्दों का प्रयोग किसी वाक्य में करना चाहिए जितना आवश्यक हो। 'जितना अर्थ उतना शब्द' यही प्रख्यात नियम है। यह न होने से कम पद हो जाने पर 'न्यूनपदता' तथा अधिक पद होने पर 'अधिकपदता' का दोष आना अनिवार्य होगा।

(४) **अभवन्मत-योग**—वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी-कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नहीं घटता। उदाहरण के लिए देखिए। यदि एक प्रधान वाक्य के साथ अनेक अवान्तर वाक्य प्रयुक्त हों, तो किसी अवान्तर वाक्य में प्रयुक्त पद का सम्बन्ध मुख्य वाक्य के साथ हो नहीं सकता। उदाहरण—'विद्यालय के जो अध्यक्ष गणितविद्या में पारंगत हैं तथा जिनके ऊपर इस नगर को पूरा अभिमान है, आज उन्हीं की अभ्यर्थना है।' यहाँ आरम्भ में दो अवान्तर वाक्य हैं तथा अन्त में है मुख्य वाक्य। इन तीनों वाक्यों में 'अध्यक्ष' शब्द का सम्बन्ध अभीष्ट है, परन्तु उसे प्रथम अवान्तर वाक्य में ही निविष्ट होने के कारण यह अभिमत सम्बन्ध जमता नहीं अर्थात् उसका सम्बन्ध अन्य दोनों वाक्यों के साथ सिद्ध नहीं हो सकता। अभीष्ट वाक्ययोग न होने से यह दोष है

(५) **कथितपदता**—तो इतना स्पष्ट दोष है कि इसका निराकरण न करना अपनी महनीय शब्द-दरिद्रता दिखलाना है। लेखक को चाहिए कि एक ही भाव तथा भावना के प्रकट करने के लिए नित्य नूतन पदावली का प्रयोग करे। एक बार कहे गये पदों को फिर वहीं दुहराना लेखक के शब्दभण्डार के दारिद्र्य का सूचक होता है। इससे बचना प्रत्येक लेखक का कर्त्तव्य होना चाहिए।

(६) **भग्नप्रक्रमता**—निबन्ध अथवा कविता में सामञ्जस्य या संतुलन ऐसा

महनीय नियम है कि इसका पालन होना नितान्त आवश्यक है। यदि कोई वाक्य कर्म-वाच्य में आरम्भ किया जाय तो तत्सम्बन्ध वाक्यों को भी उसी वाक्य में समाप्त करना 'संतुलन' की उपासना है। इसी प्रकार प्रकृति, सर्वनाम, पर्याय, कारक, वचन आदि का आरम्भण जिस ढंग से किया जाय, उसी ढंग से उसकी समाप्ति भी अपेक्षित होती है। कवि कहना चाहता है कि सूर्य के अस्ताचल 'गमन' करने पर निशा भी चली जाती है। अस्तं गते हन्त निशापि याता। 'गते' में गम् धातु है तथा 'याता' में 'या' (—जाना) धातु। साधारण रीति से 'गमन' और 'यान' में अन्तर नहीं है, दोनों का सामान्य अर्थ एक ही है—जाना। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों में महान् अन्तर है। सूर्य तथा निशा—इन दोनों का जाना एक समान ही है—इस अर्थ की द्योतना के लिए 'याता' को बदलकर प्रक्रान्त धातु के अनुरूप 'गता' करना होगा।

वाक्यदोष के कतिपय उदाहरण

(१) प्रतिकूल-वर्णता

पिय तिय लुट्टत है सुरस, ठट्टि लपट्टि लपट्टि।

टवर्ण का बहुल प्रयोग रौद्र रस के अनुकूल है, परन्तु यहाँ श्रृंगाररस के प्रसंग में उनका प्रयोग प्रतिकूल है। अतः प्रतिकूल-वर्णता।

(२) न्यूनपदता

राज तिहारे खड्ग ते, प्रगट भयौ जस फूल।

हे राजन्, तुम्हारे तलवार से यशरूपी फूल प्रकट हुआ। यहाँ यश को फूल कहा गया है। अतः 'खंग' को लता कहना चाहिए। लता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष।

(३) अधिकपदता

डसै तिहारे शत्रु को, खड्ग लता अहिराज।

तुम्हारी तलवारलता रूपी साँप शत्रुओं को डस रहा है। यहाँ 'लता' पद बिना किसी काम के ही रखा गया है। अतः 'अधिकपदता' दोष है।

(४) अभवन्मत योग

प्राण प्राणपति बिनु रह्यौ, अब लौं धृक ब्रजलोग।

आशय है कि प्राणपति श्रीकृष्ण के बिना प्राण अब तक रह गया। इसलिए ब्रज

के लोगों को धिक्कार है। यहाँ प्राण को धिक्कार है जो कृष्ण के बिना जी रहे हैं। ब्रज के लोगों को धिक्कार नहीं। अतः धृक् का अभीष्ट योग इस वाक्य में ठीक-ठीक नहीं लगता।

(५) कथितपदता

रतिलीला-श्रम को हरत लीला युत चलि पौन।

यहाँ 'लीला' शब्द का प्रयोग दो बार किया गया है जो कवि की शब्ददरिद्रता दिखलाता है।

(६) भग्नप्रक्रम

जहाँ रैनि जागे सकल, ताही पै किन जात।

जहाँ का सम्बन्ध 'वहाँ' से है। 'जहाँ' के बाद 'वहाँ' का प्रयोग उचित है। 'ताही पै' का प्रयोग 'जहाँ' के बाद होना प्रक्रम का भंग करना है।

तू हरि की अँखिया बसी, कान्ह बसै तुव नैन।

कोई सखी किसी गोपी से कह रही है कि तुम तो श्रीकृष्ण की आँखों में बसी हुई हो और कृष्ण तुम्हारे नयन में बसे हैं। एक व्यवहार दिखलाना लेखक को अभीष्ट है। राधा तथा कृष्ण का व्यवहार समान ही है। इसके लिये आवश्यक है कि नेत्र वाचक शब्द एक ही हों। भिन्न शब्दों के प्रयोग से अर्थ में भिन्नता होती है। अतः 'अँखिया' के बाद 'नैन' का प्रयोग पर्याय का प्रक्रम भंग है। यदि प्रथम चरण में "कान्ह नयन में तू बसी" कहा जाय, तो दोष का परिहार हो जाता है।

ऐसे स्थल में 'कथितपदता' का दोष नहीं होता। क्योंकि एक ही शब्द के प्रयोग करने से एकाकार की प्रतीति अभीष्ट होती है। जैसे—

उदयहोत रवि रक्त अरु रक्तहि होवत अस्त।
संपति और विपत्ति में सज्जन होत न व्यस्त॥

यहाँ एकरूपता की सिद्धि के लिए रक्त शब्द की आवृत्ति दोष नहीं है। 'ताम्र' के प्रयोग करने पर प्रक्रम-भंग हो जाता। परन्तु इस श्लोक में 'ताम्र' का प्रयोग नितान्त उचित है—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेक रूपता॥

अर्थ-दोष

अर्थ की रुचिरता के निमित्त कतिपय नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक होता है

जिनका उल्लंघन करने से अर्थदोषों का उदय होता है। शोभन अर्थ के लिए आवश्यक है कि (१) उसके समझने में किसी प्रकार का कष्ट होना नहीं चाहिए; (२) न अर्थों में किसी प्रकार का परस्पर विरोध ही हो; (३) सदा नवीन अर्थ की ही सूचना होनी चाहिए क्योंकि एक वार प्रकट किये अर्थ को फिर प्रकट करना नितान्त अनुचित होता है। (४) अर्थ को शिष्ट तथा सभ्य होना चाहिए, जिसके सुनने से किसी प्रकार का उद्वेग उत्पन्न न हो। (५) अर्थ में किसी प्रकार का सन्देह न होना चाहिए। वाक्य के सुनते ही एक ही अर्थ का वोध झटिति होना चाहिए। यदि वाक्य सुनने पर अर्थ का वोध तुरन्त नहीं होता, तो ऐसे अर्थ से लाभ ही क्या? (६) कोई भी अर्थ प्रसिद्ध वात से विरुद्ध नहीं चाहिए तथा (७) नाना विद्याओं में प्रकटित तथ्य का ही अनुसरण होना चाहिए। यदि उससे विरुद्ध वातों का वर्णन किया जायगा, तो नितान्त उपेक्षणीय माना जावेगा। (८) अर्थ में नवीनता आनी चाहिए। एक वार जिस अर्थ का प्रकटन कर दिया जाय, फिर उसी अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए। (९) अर्थ को स्वतः पूर्ण होना चाहिए। अर्थ के समझने लेमें आकांक्षा का होना एकदम अनुचित होता है। (१०) अर्थ को जान कर चित्त में न अमंगल की भावना होनी चाहिए और न उद्वेग उत्पन्न होना चाहिए। अर्थ की शोभनता के ये कतिपय आदरणीय नियम हैं जिनका पालन अर्थ को उपादेय वनाता है और उनके उल्लंघन करने से क्रमशः इन अर्थ दोषों की उत्पत्ति होती है—(१) कष्टार्थ, (२) व्याहत, (३) पुनरुक्त, (४) ग्राम्य, (५) सन्दिग्ध, (६) प्रसिद्धि-विरुद्ध, (७) विद्याविरुद्ध, (८) अनवीकृत, (९) साकाङ्क्ष तथा (१०) अश्लील। इन अर्थ दोषों में से कतिपय दोषों के दृष्टान्त यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं :—

कष्टार्थ

तों पर वारौ चार मृग, चार विहँग फल चार।

तुम पर मैं चार पशुओं को निछावर करती हूँ, नयन पर मृग, घूँघट पर हय, गति पर हाथी तथा कटि पर सिंह। वचन पर कोकिला को, ग्रीवा पर कपोत को, केश पर मोर को तथा नासिका पर शुक को। इस प्रकार चार पक्षियों को मैं निछावर करती हूँ और चार फलों को भी—दन्त पर दाडिम को, कुच पर श्रीफल को, अधर पर बिम्बफल को तथा कपोल पर मधूक को वारती हूँ। स्पष्ट ही इसका अर्थ करना नितान्त कष्टकारक है।

व्याहत

जहाँ किसी वस्तु का महत्त्व दिखलाकर फिर हीनता दिखलाई जाय या पहिले हीनता दिखलाकर महत्त्व का सूचन फिर हो, वहाँ व्याहत दोष होता है।

औरन के मनहरन को चन्द्रकलादि अनेक ।
मोहिं सुखद दृगचन्द्रिका प्रिया वही है एक ।।

यहाँ पूर्वार्ध में अपने लिए चन्द्रकला की निन्दा है और फिर उत्तरार्ध में उसी चन्द्रकला को अपने लिए सुखद माना है । पूर्व का पर से व्याघात ।

प्रसिद्धि-विरुद्ध

लोक में अप्रसिद्ध बात का जहाँ उल्लेख हो । कविजनों ने काव्य के लिए बहुत से सिद्धान्तों को मान रखा है जैसे तरुणी के पैरों के आघात से अशोक का खिल जाना, आदि। इन्हें 'कविसमय' के नाम से पुकारते हैं । कविसमय का विरोध करने पर ही यह दोष होता है । अतः काव्य में न लोक की प्रसिद्ध बातों का विरोध होना चाहिए और न 'कवि-समय' का ।

भूलि न जइयो पथिक ! तुम तिहिं सरिता-पथ ओर ।
तरुणि-पदाहत-अंकुरित नव-अशोक उँहि ओर ।।

पथिक को कोई उस नदी की ओर बढ़ने से रोक रहा है जहाँ के नवीन अशोक वृक्ष तरुणी के पैरों के आघात से अंकुरित हो उठे हैं । यहाँ कविसमय का विरोध है । तरुणी के पैरों की चोट से अशोक खिलता है, अंकुरित नहीं होता । अतः प्रसिद्धि-विरोध दोष है ।

अनवीकृत

जहाँ अर्थों में नवीनता नहीं लाई गई हो, बल्कि वे एक ही प्रकार के हों, वहाँ यह दोष होता है ।

सदा करत नभ गौन रवि, सदा चलत है पौन ।
सदा धरत भुवि शेष सिर, और सदा रहे मौन ।।

चारों चरणों में 'सदा' के प्रयोग से अर्थ में नवीनता नहीं आई । अतः यह अनवीकृत दोष है ।

साकाङ्क्ष

जिस अर्थ की पूर्ति होने में कुछ शब्दों की आकांक्षा बनी रहती है, वहाँ यह दोष होता है ।

परम विरागी चित्त निज, पुनि देवन को काम ।
जननी रुचि पुनि पितु वचन, क्यों तजिहैं बन राम ।।

रामचन्द्र का चित्त तो स्वयं परम वैराग्य से युक्त है । फिर देवताओं का काम ठहरा । जननी कैकेयी की इच्छा तथा पिता दशरथ का वचन ठहरा । राम ऐसी दशा

में वन क्यों छोड़ेंगे ? कहना चाहता है—वन का जाना क्यों छोड़ेंगे। इस दोहे में 'जाइबे' पद की आकांक्षा है। 'क्यों न जायँ बन राम' कहने से यह आकांक्षा मिट जाती है। अतः यही प्रयोग न्याय्य है।

प्रकाशित-विरुद्ध

जो अर्थ प्रकाशित किया गया है उसके विरुद्ध अर्थ का जहाँ प्रकाशन होता है, वहाँ यह दोष होता है।

राज्य लक्ष्मि को प्राप्त हों नृप ! तव ज्येष्ठ कुमार।

हे राजन ! आपका जेठा कुमार राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करे। इस वाक्य से राजा के मरने का विरुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है। जेठा कुमार तभी राज्यलक्ष्मी प्राप्त करता है जब राजा का देहान्त हो जाता है। अतः प्रकाशित अर्थ के विरुद्ध अर्थ के प्रकाशन होने से यह दोष यहाँ है।

इसी प्रकार जहाँ किसी बात के कहने में नियम की आवश्यकता हो वहाँ नियम को न कहना अथवा इसके विपरीत अनियम में नियम कहना—दोनों दोष माने जाते हैं। इसी प्रकार जिस अर्थ को विशेष शब्द द्वारा कहना चाहिए उसे सामान्य शब्द से कहना अथवा सामान्य कथन के स्थान पर विशेष शब्द के द्वारा कथन—ये दोनों दोष होते हैं। इस प्रकार अर्थ के दोषों का विशेष वर्णन आचार्यों ने संस्कृत ग्रन्थों में किया है।

रसदोष

कहा गया है कि रसदोष ही काव्य में मुख्य दोष होते हैं और यह होना उचित ही है। रस के उन्मीलन के विषय में हमारे आचार्यों ने कतिपय आधारभूत नियमों का निर्देश किया है जिनका अनुपालन काव्य को सरस तथा उपादेय बनाता है और जिनके तिरस्कार करने से काव्य नितान्त दुष्ट, उद्वेगजनक तथा उपहासास्पद बन जाता है। इन आधारभूत नियमों का प्रथमतः अनुशीलन अपेक्षित है।

(१) रस सर्वदा व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा उन्मीलित होता है। अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता। यही नियम स्थायीभाव तथा व्यभिचारी भावों के प्रकटीकरण के विषय में भी जागरूक रहता है। इस नियम के उल्लंघन करने से **'स्वशब्द वाच्यता'** नामक रसदोष का उदय होता है। 'उस योद्धा को देखकर हमारे हृदय में वीररस उमड़ पड़ा'—इस वाक्य में वीररस की सत्ता नितान्त अनुचित है। वीरता की अभिव्यक्ति विभाव आदि के द्वारा होनी चाहिए, न कि 'वीर' शब्द के प्रयोग करने से। फलतः यह वाक्य रसदोष का परिचायक दृष्टान्त है।

(२) किसी पद्य में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। यदि कष्ट कल्पना करने से इसका प्रकटीकरण हो, तो यह रसदोष है।

(३) विरोधी रस के विभाव आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिए। शृंगार का शान्त रस विरोधी होता है। फलतः शृंगाररस के वर्णन के अवसर पर शान्तरस के विभाव आदि का ग्रहण एकदम दोष माना जावेगा।

(४) रस का उद्दीपन बारम्बार नहीं करना चाहिए। अवसर आने पर रस का वर्णन एक बार ही सुन्दरता के साथ कर देना चाहिए। पुनः पुनः उस रस की दीप्ति दोष मानी जाती है। जैसे कुमारसम्भव में 'रति-विलाप' के समय करुण की वारम्वार दीप्ति अनुचित है।

(५) अचानक न तो रस का विस्तार करना चाहिए, और न चलते हुए रस का उच्छेद ही करना चाहिए। इस नियम के तिरस्कार से 'अकाण्डे प्रथन' तथा 'अकाण्डे छेद' नामक दोषों की उत्पत्ति होती है।

(६) अंगी अर्थात् मुख्य पदार्थ नायक आदि का ही वर्णन काव्य में उचित है। अंग का अत्यन्त विस्तार कभी न करना चाहिए। ऐसा करने से 'अंगातिविस्तृति' नामक 'रसदोष' होता है।

(७) काव्य या नाटक में अंगी पदार्थ का वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है। उसका तिरस्कार कर उसे विल्कुल भुला डालना नितान्त अनुचित होता है।

(८) नाटक में चित्रित पात्रों के कर्म तथा व्यवसाय उनके स्वरूप के अनुसार ही होना चाहिए। प्रकृति अथात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं—(क) दिव्य = स्वर्ग में रहनेवाले देव, अप्सरा आदि; (ख) अदिव्य = पृथ्वीचारी जीव; (ग) दिव्यादिव्य = दोनों गुणों से मिश्रित पात्र। इन रूपों के समान ही उनका कार्य-कलाप काव्य-नाटक में चित्रित करना कवि का परम धर्म होता है। तभी तो यथार्थ होने से नाटक का प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है। इसका उल्लंघन 'प्रकृति-विपर्यय' कहलाता है। यह नियम नाटक के लिए बहुत आवश्यक है। नाटक के रूप-विवेचन के अवसर पर हमने विस्तार के साथ दिखलाया है कि नाटक लोक के ऊपर आश्रित रहता है और इसलिए लोकसिद्ध नियमों का पालन करना कवि के लिए बहुत ही आवश्यक होता है।

काव्य के दोषों में रसदोष ही अन्तरंग दोष स्वीकृत किया जाता है तथा अन्य दोष तदपेक्षया बहिरंग माने जाते हैं। दोषों का एक और भी वर्गीकरण आचार्यों ने किया है—(क) नित्य दोष; (ख) अनित्य दोष।

'नित्य दोष' से अभिप्राय उन दोषों से है जो अपने जीवन में सदा दोष ही बने रहते हैं और किसी भी दशा में अपने स्वरूप से विहीन नहीं होते। जैसे 'च्युत संस्कार' दोष। व्याकरण से अशुद्ध पद सदा ही दुष्ट होता है और वह हमेशा उद्वेगजनक होता है।

अनित्य दोष—उन दोषों को कहते हैं जो किसी अवस्था-विशेष में दोषत्व को छोड़कर गुण रूप वन जाते हैं जैसे 'श्रुतिकटु' दोष। यह दोष तभी दोष है जव वहाँ शृंगाररस की स्थिति है। वीर या वीभत्स या रौद्र रस के विद्यमान रहने पर वही श्रुतिकटु दोष गुण वन जाता है, क्योंकि वहाँ कानों को कटु लगनेवाले पद ओज गुण के अभिव्यञ्जक होने से वीर आदि रसों के सर्वथा अनुकूल होते हैं। 'अधिकपदता' अवश्य दोष है, परन्तु भय तथा हर्ष से युक्त वक्ता के मुख से अधिक पदों का प्रयोग उचित तथा मनोवैज्ञानिक होता है। इसलिए यह इस अवसर पर गुण ही माना जाता है। इस प्रकार अनेक दोष दशा-विशेष में गुण भी वन जाते हैं।

१०

गुण और रीति

लोक में किसी व्यक्ति को हम अत्यन्त तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, उसका नाम सुनते ही हमारी भौंहें तन जाती हैं और घृणा की भावना जाग पड़ती है। परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम अत्यन्त सत्कार की दृष्टि से देखते हैं और जिनका नाम सुनते ही हमारा हृदय उनके प्रति आदर तथा सम्मान की भावना से भर जाता है। इस तिरस्कार और सत्कार की भावना के उदय का कारण क्या है? पहिले में दोषों की सत्ता तथा दूसरे में गुणों का सद्भाव। शारीरिक दोषों के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है जितना मानसिक दोषों के कारण। उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति समाज में आदर पाता है।

काव्य-जगत् की दशा भी ठीक ऐसी ही है। दोषों के कारण यदि काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वही माधुर्य या श्रवण-पेशलता के कारण प्रशंसनीय होता है तथा श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करता है। महाकवि मतिराम का यह शारदा की स्तुति में लिखा गया दोहा—

अंग ललित सित रंग पट, अंगराग अवतंस।
हंसवाहिनी कीजियै, वाहन मेरौ हंस॥

श्रोताओं के हृदय को बलात् अपनी ओर क्यों खींचता है। क्या कारण है कि इस छोटे से पद्य में श्रवण के साथ ही साथ चित्त को चमत्कृत करने की अद्भुत कला विद्यमान है? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है—गुणों के सद्भाव के कारण, माधुर्य की सत्ता के कारण।

गुण का लक्षण

शौर्य आदि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर के साथ नहीं रहता, प्रत्युत आत्मा के ही साथ होता है। शरीर से दुबले पतले आदमी को भी हम अत्यन्त वीरतावाले काम करते इसी लिए पाते हैं कि उसके भीतर शूरता भरी रहती है अर्थात् उस मनुष्य का आत्मा शूर होता है। काव्य में भी ठीक यही दशा होती है। कहा गया है कि शब्द तथा अर्थ तो काव्य के शरीर होते हैं तथा रस ही आत्मा के स्थान पर होता है अर्थात् रस ही काव्य में मुख्य

होता है और गुण मुख्य रस के ही धर्म होते हैं। उसी से रस के साथ गुण का साक्षात् सम्बन्ध होता है।

गुण इस प्रकार काव्य की शोभा बढ़ानेवाले अन्तरंग धर्म होते हैं। अलंकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। वह शब्द तथा अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और इसलिए वह काव्य की शोभा बढ़ानेवाला बाहरी धर्म होता है। इतना ही नहीं, दोनों में एक विशेष अन्तर यह भी होता है कि गुणों की स्थिति काव्य में सर्वदा रहती है। ऐसा कोई काव्य नहीं होता जिसमें गुण कहीं न कहीं विद्यमान न हो। निर्गुण काव्य की कल्पना असम्भव है। परन्तु अलंकार के लिए यह अचल स्थिति नहीं होती। वह काव्य में साधारणतया रहता है, परन्तु उसके अभाव में भी काव्य का स्वरूप बना रहता है, यदि उसकी शोभा के आधायक अन्य तत्त्व जैसे रस आदि वर्तमान हों। गुण रस का सदा पोषक होता है। परन्तु अलंकार ऐसा नहीं होता। यदि रस वर्तमान रहता है, तो अलंकार शब्द या अर्थ के द्वारा उसका उपकार करता है। परन्तु यह दशा सदा नहीं रहती। अलंकार वर्तमान होकर भी कभी-कभी रस का तनिक भी उपकार नहीं करता, प्रत्युत कभी-कभी तो वह ठीक रस के विरोधी बातों की पुष्टि करता है। इस प्रकार गुण तथा अलंकार में गहरा अन्तर है—मौलिक भेद है। थोड़े में हम कह सकते हैं कि **काव्य में सदा विद्यमान रहनेवाले (अचल स्थितिवाले) तथा शोभा के उत्कर्ष को बढ़ानेवाले, रस के धर्म को गुण कहते हैं।**

गुणों का भेद

गुणों की संख्या के विषय में संस्कृत के आचार्यों में गहरा मतभेद है। आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की संख्या दश मानी है और उनके नाम ये हैं—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) सुकुमारता, (८) अर्थव्यक्ति, (९) उदारता, (१०) कान्ति। दण्डी ने भी गुणों की संख्या तथा अभिधान तो यही माना, परन्तु उनके स्वरूप के विषय में काफी भिन्नता है। वामन ने इन गुणों को द्विगुणित कर दिया। शब्द तथा अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण इनके स्वरूप में वे विशेष अन्तर मानते हैं। भोजराज के हाथों इनकी संख्या में और भी वृद्धि हो जाती है, परन्तु इन सब गुणों का समावेश तीन ही गुणों के भीतर किया जाता है और इन गुणों के नाम हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज तथा (३) प्रसाद।

लोक व्यवहार को ध्यान में रखने से इन गुणों का स्वरूप भली भाँति ध्यान में आ सकता है। मान लीजिए हम किसी से प्रेमपूर्ण बातें कर रहे हैं, उस समय हम कठोर शब्दों का व्यवहार नहीं करते, बल्कि 'मीठी-मीठी' बातें करते हैं। यदि हम किसी पर क्रुद्ध होकर

बातें करते हैं, तो उस समय हम मीठी बातों का व्यवहार न कर 'कड़े शब्दों' का व्यवहार करेंगे। इसी प्रकार बिना प्रयत्न किये हम किसी से बातचीत करते हैं, तो उस समय हम 'सीधे-सादे' शब्दों का व्यवहार करते हैं। लेख लिखते समय या व्याख्यान देते समय हम विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नपूर्वक शब्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु बातचीत करते समय हम किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करते। हमारा ध्यान इसी बात की ओर रहता है कि हमारी बातों को दूसरा व्यक्ति आसानी के साथ समझता जाता है या नहीं। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। इसी अनुभव का उपयोग हम काव्यगुणों के रूप को समझने के लिए भी भली भाँति कर सकते हैं।

गुणों का प्रयोग रसों को ध्यान में रखकर किया जाता है। जितने कोमल भाव-वाले रस हैं, जैसे शृंगार, शान्त, विप्रलम्भ आदि, इनकी कोमलता की रक्षा हम 'मधुर' शब्दों के प्रयोग के द्वारा कर सकते हैं। इसी प्रकार उग्र भाववाले रस जैसे वीर, रौद्र, वीभत्स आदि रसों की उग्रता का ठीक-ठीक प्रदर्शन तभी हम कर सकते हैं, जब हम 'कठोर' शब्दों का प्रयोग करते हैं। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि कविता के द्वारा कवि अपने हृदय के भावों को दूसरों पर प्रकट करता है। यही उसका वास्तविक उद्देश्य है और इसलिए आवश्यक है कि कविता में न तो अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हो और न क्लिष्ट शब्दों का, क्योंकि ऐसा करने से कवि अपने हृदय की बात को दूसरों तक भली भाँति जल्दी से जल्दी नहीं पहुँचा सकता। उस कविता से संसार को लाभ ही क्या है जिसे 'खुद समझें या खुदा समझे'। इसलिए कविता में सीधे-सादे, शीघ्र समझ में आनेवाले, बहुप्रचलित शब्दों का प्रयोग आवश्यक होता है। कविता केवल रोचक ही नहीं बनती, प्रत्युत श्रोताओं के हृदय को उसी प्रकार व्याप्त कर लेती है जिस प्रकार सूखे काठ में लगी हुई आग पूरे काठ को क्षण भर में पकड़ लेती है। भाव के प्रसार के लिए तथा उसे ठीक-ठीक समझने के लिए 'प्रसादमयी' वाणी का प्रयोग नितान्त आवश्यक होता है। बोलचाल के इस प्रसिद्ध प्रकार पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि गुण मुख्यतया तीन प्रकार के हो सकते हैं और उनका विधान भी तत्तत् स्थलों पर किया जाना चाहिए।

माधुर्य गुण

गुणों का नियमन अक्षरों, समास तथा घटना के द्वारा होता है। माधुर्य गुण में ट, ठ, ड, तथा ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पञ्चम वर्ण पहिले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ तथा लकार ह्रस्व स्वर से युक्त होते हैं। समास का सर्वथा अभाव होता है या छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है। इस गुण में चित्त एकदम पिघला-सा बन जाता है। करुण, विप्रलम्भ तथा शान्तरस में माधुर्य क्रम से अधिक से अधिक प्रभावशाली

होता है। देव कवि की यह सुन्दर घनाक्षरी माधुर्य गुण का रोचक दृष्टान्त प्रस्तुत करती है :—

मंद मंद चढ़ि चल्यौ चैत निसि चंद चारु,
मंद मंद चाँदनी पसारत लतन तें।
मंद मंद जमुना-तरंगिनि हिलोरें लेति
मंद मंद मोद मंजु मल्लिका सुमन तें।
"देव कवि" मंद मंद सीतल सुगंध पौन
देखि छबि छीजत मनोज छन-छन तें॥
मंद मंद मुरली बजावत अधर धरे
मंद मंद निकस्यौ मुकुंद मधुवन तें॥

ओज गुण

वर्ग के प्रथम वर्ण का तृतीय से और द्वितीय का चतुर्थ से योग (जैसे प्रच्छ, वद्ध आदि); रेफ के साथ किसी वर्ण का योग, किसी वर्ण का उसी वर्ण के साथ योग (जैसे चित्त, वित्त आदि) तथा ट, ठ, ड, ढ, श तथा ष का प्रयोग, दीर्घ समास तथा विकट रचना 'ओज' गुण के अभिव्यञ्जक होते हैं। भूषण कवि के कवित्त तथा भवभूति के पद्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ओज गुण चित्त के विस्तार का जनक होता है। वह वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसों में क्रमशः अधिकता से विद्यमान रहता है।

महाकवि भूषण का यह युद्ध का वर्णन करनेवाला छप्पय ओज गुण से पूर्णतया मण्डित है—

मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन।
भूत फिरत करि वृत्त भिरत सुरदूत घिरत तहँ।
चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ।
इमि ठानि घोर घमसान अति 'भूषन' तेज कियो अटल।
सिवराज साहि-सुव खग्ग बल दलि अडोल बहलोल दल॥

प्रसाद गुण

जब काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जो सुनते ही श्रोता के चित्त पर चढ़ जाय तथा समझ में आ जाय, तब वहाँ 'प्रसाद गुण' की स्थिति होती है। इसकी स्थिति सब रसों में तथा सब रचनाओं में होती है। माधुर्य तथा ओज के समान यह किसी रस-विशेष के साथ सम्बद्ध नहीं रहता, प्रत्युत सब रसों का तथा सब रचनाओं का साधारण

धर्म होनेवाला गुण है। इनका मुख्य रूप से सम्बन्ध रस के ही साथ होता है जो काव्य की आत्मा होता है। गौण रीति से इनका सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ के साथ ही माना जाता है।

मतिराम की यह सवैया जो मानवती नायिका के स्वरूप का वर्णन करती है प्रसाद गुण का सुन्दर दृष्टान्त है—

> सो मनमोहन होत लटू मुख, जाके भटू विधु की छबि छाजै ;
> खोल कै नैनन देखैं जो नेक तो, स्याम-सरोज-पराजय साजै ।
> जो बिहसैं मुख सुन्दर तो "मतिराम" बिहान को बारिज लाजै ;
> बोले अली मृदु मंजुल बोल तो, कोकिल-बोलनि को बन भाजै ।

इस सवैया को पढ़ते ही मानवती का रूप नेत्रों के सामने अनायास खड़ा हो जाता है। इस पद्य के समझने में पाठकों को किसी प्रकार बुद्धि को कष्ट देने की जरूरत नहीं होती। अतः यह प्रसाद गुण से सर्वथा पूर्ण है।

रीति

लेखक अपनी रुचि तथा स्वभाव के अनुसार अपने हृदय के भावों को एक विचित्र प्रकार से प्रकट किया करता है। कोई लेखक साधारण अर्थ के प्रतिपादन के लिए असाधारण शब्दों का प्रयोग किया करता है, तो अन्य लेखक विशिष्ट अर्थों के प्रकट करने के लिए सामान्य शब्दों का व्यवहार करता है। अपने मनोगत भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए विभिन्न लेखक नवीन तथा विशिष्ट मार्गों का अवलम्बन किया करते हैं। कभी अर्थ तो एक ही होता है, परन्तु उसके द्योतक शब्द तथा वाक्य का विन्यास भिन्न-भिन्न कवियों तथा लेखकों के हाथ में भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी विशिष्ट लिखने के ढंग को शैली या रीति के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक लेखक की अपनी खास शैली होती है जिसमें वह लिखा करता है, चाहे वह थोड़ा लिखे या बहुत लिखे। इसीलिए जितने कवि हैं, उतनी रीतियाँ हैं। जितने लेखक हैं, उतनी शैलियाँ हैं। संस्कृत के आचार्य दण्डी का यह कथन नितान्त सत्य है कि रीतियाँ अनन्त हैं और उनका परस्पर भेद भी बहुत ही सूक्ष्म होता है। ऊख, दूध, गुड़, चीनी तथा मिश्री का मिठास सामान्य रीति से एक ही प्रकार का मालूम पड़ता है, परन्तु विवेकी पुरुष बतला सकता है कि यह मिठास वस्तुतः अलग-अलग है। दूध में मिश्री के मिठास का प्रेमी उसमें चीनी डालकर उसे विकृत बनाना नहीं चाहता। चीनी और मिश्री के मिठास का अन्तर तो साधारण जन भी समझ सकता है। इनके मिठास के पार्थक्य को ठीक-ठीक बतलाना एक टेढ़ी खीर है। रीतियों की भी यही विशिष्टता है। लेखकों की रीतियों का अन्तर इतना सूक्ष्म तथा बारीक होता है कि उसे ठीक-ठीक निरूपण करना बहुत दुर्लभ व्यापार होता है। तथापि इन सूक्ष्म

भेदों पर ध्यान न देकर रीति के रूप तथा प्रकार का एक सामान्य विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पदों की विशिष्ट रचना या संघटन का नाम रीति है। रीति की उपमा मानव शरीर में अंगों के संगठन के साथ दी जाती है। मनुष्य के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन है अर्थात् सब अंग अपने अपने स्थानों पर रहने से ही शरीर को एक बनाये रहते हैं। यदि वे अपने स्थान से च्युत हो जायँ, तो यह शरीर नितान्त कुरूप मालूम पड़ेगा। आँखें मुखमण्डल में ही रहकर शोभा पाती हैं। अगर उन्हें वहाँ से हटाकर कहीं अन्यत्र रखा जावेगा, तो शरीर को बहुत ही बेढंगा बना देंगी। पदों के संघटन की भी यही दशा होती है। पदों को अपने अपने स्थानों पर रखने से ही कविता में या निबन्ध में चमत्कार आता है तथा एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है। एक विशेष बात इस लक्षण में ध्यान देने की है। रीति पदों की **विशिष्ट** रचना होती है, केवल रचना नहीं। वह पदों की **संघटना** होती है केवल घटना नहीं। विचारणीय विषय है कि यह विशिष्टता क्या है? इस संघटना का सम्यक् रूप क्या है? जिसके उपस्थित होने से रीति का उदय होता है। विशिष्टता से तात्पर्य है—गुणों की सत्ता अर्थात् पदों की रचना में गुणों का निवास। इस प्रकार रीति का लक्षण है। **पदों की वह रचना जिसमें काव्य-गुणों की स्थिति अवश्यमेव विद्यमान हो।**

मार्ग या रीति का लक्षण न तो भामह ने ही दिया है और न दण्डी ने। वामन इसके प्रथम लक्षण निर्माता हैं। उनके अनुसार रीति का लक्षण है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः' (काव्या० १।२।७)। रीति पदों की रचना का नाम है जो विशिष्टता से युक्त होती है। विशेष क्या? वामन का उत्तर है—'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् ओजप्रसाद आदि गुण जिसका स्वभाव है वही विशेष होता है। इस प्रकार वामन का परिनिष्ठित लक्षण यह हुआ—पदों की वह रचना जिसमें ओज, प्रसादादि गुण विशिष्टता उत्पन्न करता है अर्थात् गुणों से मण्डित पद रचना। आनन्दवर्धन इसे 'संघटना' की संज्ञा से सूचित करते हैं। संघटना है सम्यक् घटना पदों की सम्यक् या शोभन घटना अर्थात् रचना। घटना का सम्यक्त्व गुणों के कारण ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार आनन्दवर्धन का 'संघटना' शब्द नितान्त सारगर्भित है और यह वामन के 'विशिष्टा पदरचना' का ही पिण्डीकृत रूप है। विश्वनाथ कविराज ने आनन्दवर्धन की रीतिविषयक कल्पना को ही मान्य मानकर इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

पदसंघटना रीतिः अङ्गसंस्था विशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्............॥

जिस प्रकार कामिनी के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन होता है—सब

अंग एक नियत प्रकार से निबद्ध किये जाने पर ही शोभाधायक होते हैं, ठीक उसी प्रकार पदों की संघटना रीति कही जाती है और वह रस आदि काव्यसौन्दर्य के उन्मीलन के लिये उपकार करनेवाली होती है। रीति का सम्बन्ध रस से घनिष्ठ है।

रीति सम्प्रदाय के बहिर्भूत होने पर भी आनन्दवर्धन का रीतिनिरूपण नितान्त तलस्पर्शी तथा उपादेय है। रीति के विषय में वे कहते हैं—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्तिसा।
रसान् .... ॥३।६

अर्थात् संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर खड़ी रहती है तथा रसों की अभिव्यक्ति करती है। संघटना तथा गुणों के परस्पर सम्बन्ध का भी विशिष्ट विवेचन आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया है। इस विषय में तीन पक्ष हो सकते हैं—(१) संघटना और गुण की एकता, (२) संघटना पर आश्रित गुण, (३) गुणों पर आश्रित संघटना। प्रथम दोनों पक्षों के मानने पर संघटना के समान ही गुणों का भी विषय अनियत होने लगेगा, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। गुणों का विषय सर्वदा निश्चित रहता है।

माधुर्य तथा प्रसाद का प्रकर्ष करुणरस तथा विप्रलम्भ शृंगार में ही होता है। ओज का प्रकर्ष रौद्र तथा अद्भुत रस में, माधुर्य तथा प्रसाद के विषय–रस, भाव तथा तदाभास ही होते हैं। इस प्रकार गुणों में विशेष नियम की व्यवस्था है, परन्तु संघटना की स्थिति पृथक् ही है। संघटना के विषय का नियमन नहीं है। इसीलिए शृंगार में भी दीर्घ समासवाली तथा रौद्र आदि रसों में समासरहित संघटना का भी प्रयोग न्यायसंगत माना जाता है।

रीति के नियामक तत्त्व

रीति का चुनाव एक विशिष्ट व्यापार है जिसके लिये रचनागत अनेक काव्यसाधनों का परीक्षण अनिवार्य होता है। इन साधनों को हम रीतिनियामक तत्त्व कह सकते हैं। आनन्द के विश्लेषण के अनुसार—(१) वक्तृऔचित्य, (२) वाच्यौचित्य, (३) विषयौचित्य तथा (४) रसौचित्य—नियामक काव्य संसार में महत्व का स्थान रखते हैं।

(१) **वक्तृऔचित्य**—रीति का निर्धारण वक्ता के अनुसार किया जाता है। वक्ता या लेखक जो कुछ बोलता है या लिखता है उसे वह तन्मय होकर करता है। बाह्य जगत् या अन्तर्जगत् के समग्र अनुभवों को आत्मसात् करके ही वह उनका वर्णन दूसरों की प्रतीति के लिये करता है। कवि का स्वभाव उसकी काव्य रीति में सदा ही झलकता रहता है। इसका मुख्य कारण यही है कि कवि तथा उसकी रचना में तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। इसीलिए रीति कवि-स्वभाव की प्रतीति होती है। विकटबन्ध में निबद्ध

उत्तेजोमयी वाणी शाक्त कवि की उग्रता का परिचय स्वयं देती है, तथा सुकुमारबन्ध में रचित माधुर्यमयी पदावली वैष्णव कवि की सरलता को स्वतः अभिव्यक्त करती है।

(२) **वाच्यौचित्य**—वाच्य का औचित्य भी रीति का द्वितीय नियामक माना जाता है। वाच्य का अर्थ है कथनीय वस्तु, अर्थ। वाच्य अनेक प्रकार के होते हैं—कोई ध्वनिभूत रस का अंग होता है और कोई रसाभास का अंग होता है। कोई वाच्य अभिनय के योग्य होता है और कोई अभिनय के उपयुक्त नहीं होता। कोई वाच्य उत्तम प्रकृति के आश्रय पर अधिष्ठित रहता है, तो कोई अधमप्रकृति के ऊपर। इस प्रकार वाच्य नाना प्रकार के होते हैं और संघटना के विन्यास में वाच्य के स्वरूप का निरीक्षण भलीभाँति करना चाहिये।

(३) **विषयौचित्य**—विषय का अर्थ यहाँ व्यापक रूप में ग्रहण किया जाता है। विषय से तात्पर्य है प्रबन्ध से अथवा काव्य के विशिष्ट प्रकार से जिसमें किसी संघटना का विधान प्रयुक्त होता है। गद्य, पद्य, श्रव्य, दृश्य आदि भेदों के अतिरिक्त काव्य के नाना प्रकार होते हैं—पर्यायबन्ध, खण्डकथ, परिकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, आख्यायिका, कथा, रूपकादि। रीति का विधान काव्य के विशिष्ट स्वरूप की भी अपेक्षा रखता है। आख्यायिका में शृंगार रस की प्रधानता होने तथा सुकुमार वक्ता की सत्ता होने पर भी मसृण वर्णों का प्रयोग कथमपिन्याय्य नहीं होता क्योंकि गद्य में निबद्ध होने से उसमें गाढ़-बन्ध होना ही उपयुक्त होता है। कथा मृदु वर्णों के विन्यास से सज्जित रहती है। अतः रौद्र रस होने पर भी कथा में अत्यन्त उद्धत रचना का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए। रूपक की दशा इससे विलक्षण है। रूपक प्रधानतया रसात्मक होता है और अभिनय के द्वारा उसे दर्शकों के हृदय तक पहुँचना होता है। अतः उसमें ऐसी रचना का प्रयोग होना चाहिए जो बिना परिश्रम के बोधगम्य हो जाय और इसी अभिप्राय से ध्वनि के आचार्य रूपक में रौद्र रस होने पर भी दीर्घ समासों से युक्त रचना का व्यवहार नहीं करते।

(४) **रसौचित्य**—रीति का विन्यास रस के औचित्य पर भी निर्भर रहता है। जिस रस का उन्मीलन कवि को अभीष्ट होता है, उसकी रीति भी उसके नितान्त अनुरूप होनी चाहिए। आनन्दवर्धन असमास्त रीति को करुणरस तथा विप्रलम्भ शृंगार के नितान्त उपयुक्त स्वीकार करते हैं। दीर्घ समास रीति को वीर, रौद्र आदि रसों के अनुकूल। रस की ही काव्य में प्रधानता होती है। अतः ध्वनिकार ने काव्य के समग्र तत्त्वों को रसौचित्य पर आश्रित मानकर साहित्य के नितान्त मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना की है।

रीति के भेद

रीतियाँ मुख्यतया तीन प्रकार की होती हैं—(१) **वैदर्भी**, (२) **गौडी**, (३) **पाञ्चाली**। गुणों के वर्णन प्रसंग में ऊपर हमने दिखलाया है कि चित्त की मुख्यतया तीन

दशायें होती हैं। पहली दशा का निदर्शन वह चित्त है जो किसी कोमल या करुणापूर्ण वाक्य को सुनकर एकदम पिघल उठता है। वह पहिले कितना भी कठोर क्यों न हो, करुण वाक्य सुनते ही वह नितान्त कोमल हो जाता है; ठीक मोम के समान। ऐसी दशा में माधुर्य गुण का उदय होता है और इसके ऊपर आश्रित होने वाली रीति वैदर्भी कहलाती है। चित्त की एक दूसरी दशा का नाम है दीप्ति—जिसमें चित्त संकोचभाव को छोड़कर एकदम विस्तृत हो जाता है अर्थात् फैल जाता है ठीक फूल की पंखुड़ियों के समान। ऐसी दशा में ओज (गुण) का प्रादुर्भाव होता है और इस गुण पर आश्रित होनेवाली रीति गौडी के नाम से विख्यात होती है। चित्त की एक तीसरी दशा भी होती है जिसे हम 'प्रसाद' या प्रसन्नता के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस अवस्था में चित्त पूर्वोल्लिखित दोनों अवस्थाओं के बीच में विद्यमान रहता है। न तो वह पिघलकर गलितप्राय हो जाता है और न वह दीप्त बनकर एकदम विस्तृत बन जाता है। वह नितान्त सरल तथा प्रसन्न रहता है क्योंकि उसमें किसी प्रकार का कालुष्य या मल नहीं रहता ठीक निर्मल जल के समान। इसी दशा में प्रसादगुण का उदय होता है जो आधाररूप से ऊपर की दोनों अवस्थाओं में भी विद्यमान रहता है। पाञ्चाली रीति वैदर्भी तथा गौड़ी की मध्यवर्तिनी शैली है जिसमें सुकुमार वर्णों का प्राचुर्य रहता है।

'प्रसाद' गुण सब संघटनाओं का एक सामान्य गुण माना जाता है अर्थात् सब संघटनाओं में प्रसाद गुण का रहना अनिवार्य माना जाता है। लिखने का यही अभिप्राय होता है कि लेखक अपने भावों को श्रोताओं के हृदय तक ठीक-ठीक पहुँचा दे और इसके लिए उसे ऐसे विशद शब्दों का प्रयोग करना चाहिए कि सुननेवाला व्यक्ति बिना किसी सन्देह के उसकी बातों को ठीक ढंग से समझ ले। इसी में किसी रचना की सफलता होती है। यदि वाक्य सुनने के बाद श्रोता वक्ता के भाव को उसी क्षण नहीं समझ लेता, प्रत्युत इधर-उधर दोलायित चित्त रहता है, तो समझना चाहिए कि उसके कथन का ढंग बिल्कुल अव्यवस्थित है। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों ने 'प्रसाद' गुण को रीति का एक सामान्य गुण माना है जिसका पूरा निर्वाह करना प्रत्येक लेखक का कर्तव्य होता है।

वैदर्भी तथा गौड़ी की तुलना

वैदर्भी की तुलना में कविहृदय न तो गौड़ी का उतना आदर करता है और न उतना उत्कर्ष मानता है। वह तो उन्हीं कविजनों के हृदय को आकृष्ट कर सकती है जो बाहरी चाकचिक्य के ही प्रेमी होते हैं तथा जिनकी दृष्टि बाह्यभूषा तथा सज्जा को ही आन्तर कमनीयता तथा सुकुमारता से अधिक महत्त्व देती है। वैदर्भी से गौड़ी की तुलना ही क्या? वैदर्भी के भीतर जो रस का उत्स निवास करता है वह साधारण रसहीन कवि के अनुकरण का पात्र बन नहीं सकता। इसलिए वैदर्भी का निर्वाह दुरुह कवि व्यापार है। इसके

विपरीत गौड़ी का अनुकरण अपेक्षाकृत सरल तथा सहज है। बन्ध की गाढ़ता सम्पादन कीजिए और कतिपय शब्द चमत्कृतिजनक अलंकारों की झंकार बलपूर्वक ही सही, काव्य में ले आइए, तब देखिए गौडीय का या विचित्र मार्ग का, अलंकृत रूप स्वतः प्रकट हो जाता है। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि गौड़ी रीति के लिखने में कवि में प्रतिभा की आवश्यकता नहीं होती, शब्द-सम्पत्ति की बहुलता नहीं चाहिये और पदबन्ध की चातुरी का कोई काम नहीं है। इन आवश्यक साधनों की अवहेलना क्या कोई आलोचक कभी कर सकता है? परन्तु वैदर्भी की तुलना में गौड़ी का पल्ला जरूर हल्का है—यह हम निःसन्देह कह सकते हैं। कविता की कसौटी है श्रोता तथा पाठक के हृदय को रस से आप्लुत कर देना—रस की सरिता वहा देना जिसकी मधुरता में वह अपने जीवन को धन्य मानने लगे और उसमें इतना तन्मय हो जाय कि वाह्य जगत् की स्मृति जाती रहे तथा वह एक अलोक-सामान्य लोक में निवास का आनन्द उठाने लगे। वह इस भूतल के प्रपंचमय जीवन से ऊपर उठकर किसी आनन्दमय लोक में विहार का सुख उठाने लगे। इस कसौटी की परीक्षा वैदर्भी या सुकुमार मार्ग में ही पूरी खरी उतरती है। गौड़ मार्ग पाठकों के नेत्रों में चकाचौंध जरूर पैदा कर देता है परन्तु हृदय को शीतल बनाने की क्षमता उसमें नहीं रहती। सहृदयों के हृदय को मुग्ध बना देने की योग्यता से भी वह पराङ्मुख रहता है।

रीति के कतिपय नियामक तत्त्वों का भी गूढ़ विवेचन संस्कृत के अलंकारग्रन्थों में मिलता है। वक्ता, वाच्य, विषय तथा रस का औचित्य रीति के चुनाव में नियामक माना जाता है। कवि के स्वभाव के ऊपर रीति आश्रित है। इसलिए सौम्य वक्ता वैदर्भी का, परन्तु उद्धत वक्ता गौडी रीति का आश्रय लेकर ही अपने विचारों को प्रकट करता है। वाच्य अर्थात् वर्णनीय वस्तु के अनुसार भी रीति का निर्णय किया जाता है। आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र का वर्णन वैदर्भी में फबता है, परन्तु भयंकर प्राणियों के अंत तथा क्रीडा का वर्णन गौडी रीति में ठीक उतरता है। इसी प्रकार काव्य के रूप तथा रस भी रीति के चुनाव के लिए आवश्यक साधन माने जाते हैं।

संस्कृत के कवियों में महाकवि कालिदास तथा श्रीहर्ष वैदर्भी रीति के मान्य कवि हैं तथा भवभूति और वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण गौडी रीतिके लोकप्रिय कवि हैं। हिन्दी में विहारी तथा मतिराम वैदर्भी रीति के और भूषण तथा चन्दबरदाई गौडी रीति के प्रख्यात कवि हैं। रीतियों के एक दो दृष्टान्त इनके स्वरूप को जानने के लिए पर्याप्त होंगे। विहारी का यह दोहा वैदर्भी रीति का उदाहरण माना जा सकता है—

> रुनित भृङ्ग घंटावली झरत दान मधुनीर।
> मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥

इस दोहे में माधुर्य गुण का प्रयोग बड़ी रुचिरता के साथ किया गया है। फलतः यह वैदर्भी का सुन्दर उदाहरण है।

गौडी रीति के दृष्टान्त के लिए महाकवि भूषण का यह कवित्त परिचय दे सकता है—

> वद्दल न होंहि दल दच्छिन घमंड माँहि,
> घटा हू न होंहि दल शिवाजी हँकारी के।
> दामिनी दमंक नाँहि खुले खग्ग बीरन के,
> बीर सिर छाप लखु तीजा असवारी के।
> देखि देखि मुगलों की हरमैं भवन त्यागैं
> उझकि उझकि उठैं वहत बयारी के।
> दिल्ली मति भूली कहैं वात घनघोर घोर
> बाजत नगारे ये सितारे गढ़धारी के॥

महाकवि मतिराम का यह दोहा प्रसाद गुण का सुचारु परिचायक है। इसके सुनते ही दोहे का अर्थ स्पष्ट ही समझ में आ जाता है। इसलिए यहाँ रीति 'पाञ्चाली' है।

> करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिये न रोष।
> नहि सनेह समुद्र में, बूडि जात सब दोष॥

(सतसई)

रीति और कविस्वभाव

संस्कृत के आलोचकों ने रीति के विषय में एक वहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है। उनका कहना है कि रीति, लेखक तथा कवि के स्वभाव से साक्षात् सम्बन्ध रखती है। मनुष्य के चरित्र में उसका स्वभाव ही सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है जो उसके मस्तक पर रहता है तथा लोगों को सदा आकृष्ट किया करता है। मनुष्य के आदर-सत्कार, मान तथा अपमान पाने में उसका स्वभाव ही विशेषतः कारण हुआ करता है। सौम्य स्वभाव का मनुष्य जहाँ समाज में आदर पाता है, वहीं उग्र स्वभाववाला व्यक्ति तिरस्कार तथा अपमान का भाजन बनता है। ऐसी स्थिति होने पर कविस्वभाव को रीति के निर्वाचन में भी कारण मानना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। इसलिए कुन्तक नामक आचार्य की सम्मति में काव्य की रचना पर, उसके विशिष्ट प्रकार ग्रहण करने के ऊपर, शैली के निर्धारण पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है—लेखक के स्वभाव का, न तो उसके काल का और न तो उसके देश का।

स्वभाव अनन्त होने पर भी मोटे तौर से तीन प्रकार का होता है—(१) सुकुमार,

(२) विचित्र तथा (३) मध्यम। किन्ही कवियों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी वस्तु का वर्णन स्वाभाविक ढंग से करते हैं; वे स्वाभाविक सौन्दर्य के उपासक होते हैं। बनावटी बातों से कोसों दूर रहते हैं और काव्य में रस तथा भाव के ऊपर ही उनकी दृष्टि गड़ी रहती है। ऐसे कवि सुकुमार स्वभाव के माने जाते हैं जैसे संस्कृत में वाल्मीकि और कालिदास तथा हिन्दी में सूरदास तथा तुलसीदास। ऐसे कवियों की रीति सुकुमार मार्ग की कहलाती है जिसमें सरस तथा कोमल शब्दों के द्वारा हृदय के गूढ़ भावों का स्वाभाविक ढंग से वर्णन होता है। विचित्र स्वभाववाले व्यक्ति सजावट के विशेष प्रेमी होते हैं। उनका चित्त वस्तुओं को नाना प्रकार के अलंकारों के द्वारा सजाने, सुन्दर बनाने तथा उन्हें भड़कीला बनाने की ओर विशेष रूप से लगता है। फलतः ऐसे व्यक्तियों के द्वारा निबद्ध रचनाओं को हम विचित्र मार्ग के नाम से पुकार सकते हैं। नाना रंग-बिरंगे रत्नों से जड़ित गहने हृदय के ऊपर जो प्रभाव डालते हैं अथवा जरी की सारी जिस पर कारचोबी का काम किया गया हो, जिस प्रकार का चमत्कार या चकाचौंध हृदय पर पैदा करती है वैसा ही प्रभाव यह अलंकारों में पूर्ण तथा अलंकरणों से मण्डित कविता हमारे हृदय पर डालती है। विचित्र मार्ग की कविता में कलापक्ष की ही विशेष उपासना दृष्टिगोचर होती है। ये दोनों मार्ग एक दूसरे के विरोधी तथा भिन्न-भिन्न छोरों पर विद्यमान माने जा सकते हैं। इन दोनों के बीच में भी एक मार्ग मध्यम मार्ग है जिसकी उपासना मध्य स्वभाववाले लेखक किया करते हैं। इस मार्ग में न तो रस भाव की ही विशेष उपासना होती है, और न अलंकारों के अधिक सजावट पर ही लेखक का रुझान रहता है। बल्कि इन दोनों को संतुलित कर लेखक अपने काव्य में रखता है अर्थात् इसमें दोनों पूर्व मार्गों के गुण तथा काव्य-सम्पत्तियाँ स्पर्धा से एक दूसरे के साथ आकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार सुकुमार मार्ग वैदर्भी रीति का, विचित्र मार्ग गौड़ी रीति का तथा मध्यम मार्ग पाञ्चाली रीति के ही नामान्तर हैं।

इस प्रकार रीति को कविस्वभाव के ऊपर आश्रित मानकर संस्कृत आलोचना ने कविता के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्राचीन युग में ही प्रशस्त बनाया था, जिसकी विशिष्टता पश्चिमी आलोचक अभी मानने के लिए उद्यत हुआ है।

वृत्ति

रीति के अनन्तर 'वृत्ति' का विचार करना आवश्यक है। वृत्ति से हमारा तात्पर्य अभिधा आदिक शब्दव्यापारों से नहीं है, प्रत्युत सात्त्वती आदिक नाटक में दृश्यमान वृत्तियों से है। नाटक में वृत्ति का बहुत ही बड़ा महत्त्व होता है और इसीलिए वृत्तियाँ नाटक की मातायें कही जाती हैं; (वृत्तयो नाट्यमातरः)।

वृत्ति का स्वरूप क्या है तथा नाटक में उसका महत्त्व क्या है? इन प्रश्नोंका उत्तर देना नितान्त आवश्यक है। 'वृत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति वृत् धातु से ति (क्तिन्) प्रत्यय के योग से होती है। वर्तन का अर्थ होता है जीवन और वृत्ति उस जीवन को सहायता पहुँचानेवाली जीविका है। इसलिए 'वृत्ति' का अर्थ हुआ पुरुषार्थ का साधक व्यापार; अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता देनेवाला व्यापार। वृत्ति का क्षेत्र तो नितान्त विस्तृत है और समस्त जगत् को व्याप्त करता है। काव्य तथा नाटक भी वृत्ति के क्षेत्र के भीतर हैं; यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। आचार्य अभिनवगुप्त ने एक छोटे वाक्य में वृत्ति के स्वरूप का विशद परिचय दिया है—

काय-वाङ्-मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः।

इसका अभिप्राय है कि नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायक के शरीर, वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टायें ही 'वृत्तियाँ' कहलाती हैं। भोजराज के अनुसार चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की दशा में पात्रों के जो व्यवहार, व्यापार या वर्तन हुआ करते हैं, उन्हीं का एक सामान्य नाम है—वृत्ति। अवस्थाओं का प्रभाव शरीर तथा मन दोनों पर पड़ता है। सूक्ष्म होने से मन पर प्रभाव पहिले पड़ता है और उसकी अभिव्यक्ति आगे चलकर शरीर के ऊपर भी होती है। यदि कोई हट्टा-कट्टा आदमी एक गरीब दुर्बल व्यक्ति के ऊपर अनायास लाठी का प्रहार करता है, तो दर्शक के हृदय में क्रोध का उदय होना स्वाभाविक है। चित्त के क्रोधावेश में आते ही शरीर की विचित्र दशा होती है—भौंहें तन जाती हैं, मुखमण्डल तमतमा उठता है; अधरपुट फड़कने लगते हैं और आँखों में लहू दौड़ जाता है। ऐसे उद्दीप्त वातावरण में ऐसा दर्शक जो कुछ व्यापार करता है जिसमें उसके मन तथा शरीर की अवस्थाओं का पूरा प्रभाव पड़ता है वृत्ति कहलावेगा।

नायक की प्रवृत्ति नाटक में तो एक प्रकार की नहीं होती। वह रस तथा अवस्था के अनुरूप बदलती रहती है। किसी नाटक का नायक—जैसे रत्नावली का उदयन—शृंगारिकी चेष्टाओं में संलग्न दीखता है; वह अपनी प्रेयसी सागरिका से मिलने के लिए नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है; तो दूसरे नाटक का नायक—जैसे वेणीसंहार में भीमसेन—युद्ध के कार्यों में लगा रहता है। कभी वह क्रोध के आवेश में अपने शत्रुओं पर भीषण आक्रमण करता है तो वह संग्राम में पहुँचकर कभी अस्त्र-शस्त्रों से अपने वैरियों को मौत के घाट उतारता है। इससे स्पष्ट है कि नायक के स्वभाव के ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियाँ अवस्था तथा रस की भिन्नता के कारण नाना प्रकार की होती हैं। वृत्तियाँ मुख्यतयाचार प्रकार की होती हैं—(१) भारती, (२) सात्त्वती, (३) कैशिकी

तथा (४) आरभटी। इनमें से भारती शब्द-प्रधान होने से 'शब्दवृत्ति' तथा इतर तीन अर्थप्रधान होने से 'अर्थवृत्ति' के नाम से प्रख्यात हैं।

वृत्तियों के चार भेद

विचार करने पर हम यही कह सकते हैं कि नाट्य में चार ही वृत्तियाँ हो सकती हैं। नाट्य है क्या? वचन तथा चेष्टा का सम्मिलन। रंगमंच के ऊपर उपस्थित होकर नट वचनों के द्वारा अपने मनोगत अभिप्राय का प्रकाशन करता है तथा नाना प्रकार की चेष्टायें दिखलाकर अपने भावप्रकाशन को स्पष्ट तथा पुष्ट करता है। वचन से सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति को 'भारती' कहते हैं। भारती का एक अर्थ होता है—सरस्वती। अतः वाग्-चेष्टा पर आश्रित वृत्ति का नाम भारती उचित ही है। चेष्टा भी दो प्रकार की होती है—सात्त्विक अभिनय तथा आंगिक अभिनय। एक चेष्टा होगी मन की तथा दूसरी होगी अंगों की। सात्त्विक अभिनय नट के हृदयगत भावों की पर्याप्ति रूपेण अभिव्यक्ति करता है। यह अभिनय सूक्ष्म तथा गूढ़ भावों के प्रकाशन में समर्थ होता है। यह हुई सात्त्वती वृत्ति। इसके अतिरिक्त नट अपने अंगों के संचालन तथा चेष्टा से अपने अभिप्राय-प्रकाशन में सहायता लेता है—यह हुआ आंगिक अभिनय। अवस्था विशेष में यह अभिनय भी मुख्यतया दो प्रकार का होता है। जब क्रोध, भय आदि उग्र भावों का प्रदर्शन अभीष्ट होता है, तब चेष्टा भी तदनुरूप ही उग्र होती है। यह उग्र व्यापार या उग्र आंगिक अभिनय आरभटी वृत्ति हुआ। इसके विपरीत सौम्य आंगिक अभिनय के द्वारा नट सौम्य भावों—जैसे प्रेम, रति, हास्य आदि—को दिखलाता है। मृदु संभाषण; संगीत तथा नृत्य के द्वारा नाटकीय पात्र नाटक में सौकुमार्य का प्रदर्शन करता है। यह मृदुल आंगिक अभिनय होता है—कैशिकी वृत्ति। इस प्रकार चार वृत्तियाँ नाट्य तथा लोक के क्षेत्र को व्याप्त करती हैं। अभिनवगुप्त की शब्दावली में भारती वाक्चेष्टा, वाचिकाभिनय का पाठ्य है, सात्त्विकी मनश्चेष्टा या सात्त्विकाभिनय है। कायचेष्टा दो प्रकार की है—उग्र तथा सौम्य—आरभटी तथा कैशिकी। इस प्रकार नाट्य में वृत्ति-चतुष्टय की कल्पना सर्वथा न्याय्य तथा प्रामाणिक है।

वृत्ति और रस

नाटक में वृत्तियों की योजना का प्रधान अभिप्राय दर्शकों के हृदय में रस तथा भाव का संचार करना है। नाट्य का प्रधान लक्ष्य रस का आविर्भाव है। नाटक में अन्य जितने कार्य हैं वे सब आनुषंगिक हैं। प्रधान फल की ओर सफल कवि की दृष्टि सदैव जागरूक रहती है। रसोन्मेषरूपी फल यदि सिद्ध नहीं होता, तो चित्र-विचित्र सामग्रियों से सुसज्जित होने पर भी तथा अभिनय के आकर्षक होने पर भी वह नाटक दर्शकों के मन

का न तो अनुरंजन कर सकता है और न अपने उद्देश्य की पूर्ति में ही सफलता लाभ कर सकता है। इसीलिए भरतमुनि ने वृत्तियों का सम्बन्ध विभिन्न रसों के साथ स्थापित कर दिया है।

कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृंगार तथा हास्यरस के प्रसंग में किया जाता है। सात्त्वती का वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में; आरभटी का भयानक, वीभत्स तथा रौद्र रसों में तथा भारती का करुण तथा अद्भुत रसों में प्रयोग किया जाता है। पिछले नाटचकारों ने भी वृत्ति और रसों के इस सामञ्जस्य को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है :—

> शृंगारे चैव हास्ये च, वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा ।
> सात्त्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया ॥
> भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत् ।
> भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्भुत-संश्रया ॥
>
> (नाटचशास्त्र २२।६५-६६)

भारती वृत्ति

संस्कृतमयी तथा वाक्प्रधाना है। भरतमुनि के अनुसार जिस वृत्ति में संस्कृत वाणी की बहुलता हो, जो पुरुषों के द्वारा प्रयोग में लाई गई हो, जो स्त्रियों में सर्वथा वर्जित हो, उसे भरतों (नटों) के द्वारा सदा प्रयोज्य होने से भारती वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति के चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना (२) आमुख (३) वीथी (४) प्रहसन।

सात्त्वती वृत्ति

इस वृत्ति का नामकरण सत्त्व-शब्द के योग से हुआ है। सत्त्वशाली पुरुषों के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण यह वृत्ति 'सात्त्वती' नाम से अभिहित की जाती है। भरतमुनि के अनुसार इस वृत्ति में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। न्यायसम्पन्न वृत्त का विधान रहता है, हर्ष से यह उद्भट रहती है तथा इसमें शोक का सर्वथा अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि सच्चे वलशाली पुरुष की जो वीरभावात्मिका चेष्टायें होती हैं उन्हीं का अवलम्बन कर इस सात्त्वती वृत्ति की स्थिति रहती है।

कैशिकी वृत्ति

कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति 'केश' शब्द से स्पष्ट ही जान पड़ती है। इसीलिए भरतमुनि ने इस वृत्ति का सम्बन्ध भगवान् विष्णु के द्वारा केशपाश बाँधने से दिखलाया है। मधुकैटभ-युद्ध में भगवान् विष्णु ने इन दोनों असुरों से युद्ध करने के लिए जो अपना केशपाश बाँधा उसी से कैशिकी वृत्ति आविर्भूत हुई। भरत ने इसका लक्षण दिखलाते हुए बतलाया है कि जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्य के विधान से चित्रित हो, सुन्दर वेशभूषा से

सुसज्जित हो, स्त्रियों से युक्त हो, जिसमें नाचने और गाने की बहुलता हो, उसे काम के उपभोग से उत्पन्न उपचारों से सम्पन्न होने से ही "कैशिकी" नाम से पुकारा जाता है। इसके चार भेद हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ।

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति 'आरभट' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है साहसी तथा उद्धत पुरुष। इस नामकरण से ही इस वृत्ति के स्वरूप का निर्देश भली भाँति हो जाता है। इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में नाटचशास्त्र में लिखा है कि जिस वृत्ति में मायाजनित इन्द्रजाल का वर्णन हो, गिरने, कूदने, उछलने तथा लाँघने आदि की विचित्र योजना हो, उसे 'आरभटी' वृत्ति कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—संक्षिप्तक, अवघातक, वस्तु-स्थापन तथा संफेट।

प्रवृत्ति

आज भी भारतवर्ष के भिन्न प्रदेशों में पात्रों की वेशभूषा तथा अभिनय-संगीत का प्रकार एक समान नहीं है। बंगालियों की वेशभूषा एक विचित्रता लिए हुए है—वहाँ की स्त्रियों का केशपाश इतना रुचिर होता है कि भारतवर्ष में इतनी सुन्दरता तथा रुचिरता अन्य प्रान्तों की स्त्रियों के कचकलाप में शायद ही मिले। बंगालियों की ढीली धोती तो प्रसिद्ध ही है। मराठों की पगड़ी, रहन-सहन, दम्भ तथा स्वाभिमानभरे वचन स्वतन्त्र रूप से अलग ही दीखते हैं। उधर द्रविड़ों का पहनावा तथा श्लोकों को गा-गाकर पढ़ना तथा अभिनय की विचित्रता दर्शक को आकृष्ट किये बिना नहीं रहती। इसीलिए इन प्रान्तीय विशिष्टताओं से मण्डित वहाँ के अभिनय में भी विचित्रता होती है। नाटक की इन्हीं शैलियों को प्रवृत्ति के नाम से आचार्य लोग पुकारते हैं। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भरत के नाटचशास्त्र में विद्यमान है और इसी का अनुसरण राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में बहुशः किया है।

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति के रूप में पार्थक्य है। उनके लक्षण हैं—**वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। विलास-विन्यासक्रमो वृत्तिः। वचन-विन्यासक्रमो रीतिः** अर्थात् वेष के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है, विलास का विन्यास वृत्ति है तथा वचनों का विन्यासक्रम रीति है। निष्कर्ष यह है कि राजशेखर के अनुसार रीति का सम्बन्ध वचनों की रचना से, वृत्ति का व्यापार से तथा प्रवृत्ति का वेषभूषा तथा बाहरी सजावट से है। संक्षेप में इन तीनों का पारस्परिक विभेद यहाँ सरलता से दिखलाया गया है। 'प्रवृत्ति' का अर्थ है नाना देशों की वेष-भूषा, भाषा, आचार, वार्ता आदि का स्थापन करनेवाला साधन। 'प्रवृत्ति' की संख्या चार है—(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्या, (३)

पाञ्चाली, (४) औड्रमागधी। भारतवर्ष को चार विभागों में विभक्त करने से यह चार भेद सम्पन्न होते हैं भारतवर्ष के पश्चिम भाग में आवन्ती, विन्ध्यपर्वत से दक्षिण भारत में दाक्षिणात्या, पूरवी भारत में औड्रमागधी तथा मध्य और उत्तर भारत में पाञ्चाली प्रवृत्ति का क्षेत्र माना गया है। भरतमुनि ने नाटचशास्त्र के चतुर्दश अध्याय में इन देशों का तथा तत्सम्बद्ध प्रवृत्तियों का विशेष वर्णन किया है। परन्तु वह वर्णन इतना कम है कि इन प्रवृत्तियों का वैशिष्टच भली भाँति लक्षित नहीं होता। दाक्षिणात्यों के विपय में भरत का कथन है कि वे नृत्य, वाद्य तथा गीत के विशेष कर्ता होते हैं, कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य होता है तथा उनका अंगाभिनय चतुर, मधुर तथा ललित होता है। दाक्षिणात्य प्रवृत्ति की यही विशेषता लक्षित होती है। 'आवन्तिका' प्रवृत्ति में सात्त्वती और कैशिकी वृत्तियों का प्राधान्य रहता है। औड्रमागधी का क्षेत्र मगध तथा उड्रदेश (उड़ीसा) से सम्बद्ध भारत के पूरवी प्रान्त हैं। पाञ्चाली में सात्त्वती तथा आरभटी की प्रधानता रहती है। वहाँ गीत अभिनय बहुत ही कम होता है तथा एक विशिष्ट प्रकार का प्रयोग होता है। काव्यमीमांसा के वर्णन से भी इन प्रवृत्तियों के स्वरूप का यत्किञ्चित् परिचय हमें प्राप्त होता है। इसकी विशेष जानकारी के लिए काव्यमीमांसा के आरम्भिक अध्यायों का अनुशीलन आवश्यक है।

वक्रोक्ति सिद्धांत

किसी महाविद्यालय का एक सुन्दर कक्ष है। विद्यार्थियों का खासा जमघट है। नाना प्रकार के साहित्य-सिद्धान्तों की चर्चा बड़े जोरों से चल रही है। छात्र ध्यानमग्न की दशा में अपने अध्ययन में संलग्न हैं। इतने में अध्यापक ने विस्मयभरे विलोचनों से देखा कि दरवाजे के सामने एक विशालकाय लम्बी डील-डौलवाला आदमी हाथ में भारी-भरकम लट्ठ लिए हुए छात्रों को घूर-घूरकर देख रहा है। अध्यापक जी बोल उठे— यह देखो, आज हमारा पुण्य कितना विशाल है, साक्षात् वामन भगवान् हाथ में दण्ड लिए हुए हमें दर्शन देने के लिए बरामदे में खड़े दीख पड़ते हैं। अध्यापक के वचनों से छात्रों का ध्यान उधर आकृष्ट होता है और वे सबके सब आनन्द से चिल्ला उठते हैं—धन्य हैं हम! धन्य हमारे भाग्य!!!

यही है वक्रोक्ति—अध्यापक जी के वचन वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं!

एक दूसरे विद्यालय में चलिए। विद्यालय अभी गर्मी की छुट्टी के बाद खुला है। छात्र एक दूसरे से अपरिचित ही हैं। अध्यापक भी छात्रों से परिचय करने में व्यस्त हैं और एक-एक छात्र से वे प्रश्न पूछकर परिचय पा रहे हैं। एक से वे पूछते हैं—तुम कहाँ से आये हो? दूसरे से वे पूछते हैं—तुम किस विद्यालय के छात्र हो? परन्तु तीसरे से उनके पूछने का ढंग बिल्कुल विचित्र है। वे पूछते हैं—कहिए, वह कौन-सा विद्यालय है जिसके छात्रों तथा अध्यापकों को आपने अपने विरह से उत्सुक बनाकर इस विद्यालय में पधारने का क्लेश स्वीकार किया है? इस प्रश्न को सुनते ही सब लड़कों के होठों पर मुस-कराहट बिखर उठती है। वे इस प्रश्न के ढंग पर रीझ कर आनन्द से एक साथ बोल उठते हैं—क्या ही सुन्दर प्रश्न पूछने का ढंग है? यह तो साधारण बात नहीं है, यह तो कवित्व है!!!

यही है वक्रोक्ति। अध्यापक का अन्तिम प्रश्न वक्रोक्ति से स्निग्ध होने के कारण ही इतना सरस, मनोरम तथा चमत्कारी है। ठीक है, **वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्**। कुन्तक का कथन ठीक ही है कि वक्रोक्ति काव्य का जीवन है, सर्वस्व है, प्राण है।

कालीदास का यह सुभग पद्य वक्रोक्ति का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवेविद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशाद् हृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरवला-वेणिमोक्षोत्सुकानि ॥

—मेघदूत, पद्य ९६

सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ पतिव्रती
सँदेशो लै वाको तव निकट आयो सुनि सखी ।
चलें मेरी मन्दी धुनि सुनि विदेशी तुरत ही
करें वाञ्छा खोलें पहुचि घर वेनी तियन की ॥

—लक्ष्मण सिंह

इस पद्य में प्रयुक्त 'अविधवे' सम्बोधन पद नितान्त आश्वासकारी होने से चमत्कारी है। 'अविधवे' पद के श्रवणमात्र से यक्षपत्नी सन्तुष्ट हो जाती है कि उसका प्रियतम अभी तक जीवित है। 'मैं तुम्हारे पति का मित्र हूँ'—यह वाक्य मेघ के उपादेयत्व का सूचक है। मैं साधारण मित्र नहीं हूँ, प्रत्युत 'प्रिय' मित्र हूँ—इससे स्पष्ट है कि पति ने अपनी विश्रम्भ कथाओं को उसे कह रखा है। इस विश्रम्भ-कथापात्रता के कारण वह उसका संदेश लेकर आया है जिसे उसने अपने हृदय में रखा है। 'हृदयनिहित' पद साव-धानता सूचित करता है। शंका की जा सकती है कि मेघ में ही ऐसी कौन सी योग्यता विराजती है कि इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये वह दूत चुना गया है। इस शंका का निरसन कर रहा है 'अम्बुवाहं' पद। वह अम्बु जल का वाहक है। वह स्वभाव से ही वाहक है। अतः यदि वह संदेश का वाहक बनाकर भेजा गया है, तो उचित ही है। पद्य का उत्तरार्ध मेघ की सहृदयता तथा परोपकारिता की सूचना दे रहा है। वह अपनी मन्द्र और स्निग्ध ध्वनि से रास्ते में विश्राम करनेवाले परदेशियों के झुण्डों को त्वरासम्पन्न कर देती है। 'श्राम्यतां' पद सूचित कर रहा है कि पथिक त्वरा करने में असमर्थ हैं क्योंकि वे थक कर विश्राम कर रहे हैं। 'वृन्दानि' का बहुवचन दिखलाता है कि ऐसा करने का उसे अभ्यास है। 'वृन्द' तो स्वयं बहुत्व का सूचक है। उसका भी बहुवचन में प्रयोग कर कवि मेघ के अभ्यास का प्रदर्शन कर रहा है। ध्वनि मन्द्र और स्निग्ध है। यह दूत के प्ररोचनायुक्त वाक्यों का द्योतक है। पथि पद की अभिव्यञ्जना कितनी मार्मिक है राह चलते हुए परदेशियों के साथ मेरी ऐसी सहानुभूति है, इतना सदय व्यवहार है, तो फिर अपने मित्र के प्रेम से प्रयत्नपूर्वक मैं कितना कार्य कर सकता हूँ। यह स्पष्ट है। परदेशी लोग अबला के विरह में बँधे हुए वेणी को खोलने के लिये उतावले हो रहे हैं। 'अबला' शब्द द्योतित करता है कि उनकी बलहीन प्रियतमायें विरह के दुःख को सहने में नितान्त असमर्थ

हैं। वेणिमोक्ष के लिए उत्सुक होना परदेसियों के अनुरक्त चित्त का निदर्शक है। पद्य का उत्तरार्ध मेघ के स्वभाव का परिचायक है। विरह विधुर परस्परानुरक्त हृदयवाले जिस किसी कामिजन के समागम सौख्य के सम्पादनार्थ मैं सदा गृहीतव्रत हूँ, तब अपने प्रिय मित्र के स्नेहमय कार्य के लिये क्या मैं उपयुक्त न हूँगा ? इस पद्य में कविवर कालिदास ने जो पदार्थ परिस्पन्दन निवद्ध किया है वह समग्र मेघदूत का प्राण है।

त्रिविध शब्द

भाषा के द्वारा ही मानव अपने भावों को प्रकट करता है। लोक व्यवहार तथा भाव के प्रकाशन का एकमात्र आधार शब्द ही होता है। इसीलिए महाकवि दण्डी ने शब्द की उपमा ज्योति के साथ दी है। यदि ज्योति संसार में न हो, तो यह घनघोर अन्धकारमय हो जावेगा। उसी प्रकार शब्द की सत्ता न होने से यह संसार भी अँधेरी रात की तरह एक भयानक स्थल बन जायगा।

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।।

—काव्यादर्श

शब्द का उपयोग दोनों करते हैं—काव्य तथा शास्त्र। दोनों का तात्पर्य होता है अपने विषय को जनता के हृदय तक समझाकर पहुँचाना। आलोचकों ने वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दों को तीन भागों में विभक्त किया है—वेद-शब्द, शास्त्र-शब्द तथा काव्य-शब्द। श्रुति में शब्दों की प्रधानता होती है। वैदिक मन्त्र में प्रयुक्त शब्द न तो अपने स्थान से हटाया जा सकता है और न पर्यायवाची शब्दों के द्वारा बदला ही जा सकता है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यत् भूतं यच्च भाव्यम्'—पुरुषसूक्त के इस प्रसिद्ध मन्त्र में न तो कोई शब्द अपने स्थान से हटाया जा सकता है और न उन्हें हटाकर उनके समानार्थक शब्दों का प्रयोग ही किया जा सकता है। वेद-शब्द लोक में प्रभु या राजा की आज्ञा के समान हैं। शास्त्रों का शब्द अर्थप्रधान होता है। शास्त्र अपने वाक्यों के द्वारा पाठकों के सामने अपना उपदेश प्रकट करता है। वह किसी प्रकार का आग्रह नहीं दिखलाता कि तुम ऐसा अवश्य ही करो। वह केवल सलाह देता है आदेश नहीं। काव्य के शब्द इन दोनों से विलक्षण होते हैं। यहाँ न शब्द की प्रधानता रहती है, न अर्थ की, बल्कि व्यापार की। कविता में कहने के ढंग में ही विचित्रता होती है। इन शब्दों की लोक में क्रमशः प्रभु, सुहृत् तथा कान्ता के शब्दों के साथ तुलना की जा सकती है।

प्रभु के आदेशों में शब्द की प्रधानता रहती है। उसे मानना ही पड़ता है। यह 'ननु' 'नच' के लिए कहीं भी अवकाश नहीं रहता। सुहृत् के शब्द हितोपदेष्टा शास्त्र के समान होते हैं। मित्र सदा उपदेश देता है। वह भले तथा बुरे मार्गों का प्रकटन तो कर

देता है, पर आग्रह नहीं करता कि उसका कथन अक्षरशः माना ही जाय। उसके कथनों का तात्पर्य ही हमें लेना चाहिए। कान्ता के शब्द व्यापारप्रधान होते हैं। उसके कहने का ढंग ही इतना सुन्दर तथा रसमय होता है कि वह चित्त को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यदि अलंकारों से तुलना अपेक्षित हो, तो हम कह सकते हैं कि वेद में प्रधानता है 'रूपक' अलंकार की, शास्त्र में 'स्वभावोक्ति' की और काव्य में 'वक्रोक्ति' की। वक्रोक्ति काव्य का सर्वस्व है, जीवनाधायक तत्त्व है जिसके बिना काव्य अपने असली रूप से गिर जाता है और उस चमत्कार से विरहित हो जाता है जो सहृदयों के हृदय को खिलाता है, अलौकिक आनन्द पैदा करता है तथा चित्त को आकृष्ट कर उसे भव्यता से भर देता है। रहीम का यह दोहा 'वक्रोक्ति' के कारण ही इतना मञ्जुल तथा चित्त में चुभनेवाला बन गया है—

> मनसिज माली की उपज, कहि 'रहीम' ना जाय।
> फल स्यामा के उर लगे, फूल स्याम दृग आय॥

रहीम कवि की इस सूक्ति के चमत्कार पर ध्यान दीजिए। कामदेव नामक माली की अद्‌भुत कला का वर्णन कोई भी सचेता नहीं कर सकता। राधिकाजी के उर में तो फल लगते हैं और उन्हें देखकर श्रीकृष्ण के नेत्रों में फूल लग जाते हैं!!! जगत् का नियम है कि पहले फूल लगता है, तब पीछे फल पैदा होता है और सो भी उसी स्थान पर। यहाँ तो विलक्षण चमत्कार है। श्री राधिका के शरीर में युवावस्था की सुषमा अपने चरम उत्कर्ष पर है। उसके शरीर में उरोजों के निकलने को कवि फल लगना कहता है जिन्हें देखकर श्रीकृष्ण के नेत्र फूल आये हैं अर्थात् आनन्द से खिल उठते हैं। इस दोहे में फूल तथा फल के स्वाभाविक क्रम का व्यतिक्रम दीख पड़ता है और वह भी भिन्न स्थानों पर। 'दृग फूल आना' का मुहावरा कितनी सुन्दरता से प्रयुक्त किया गया है यहाँ। कहने का ढंग कितना विचित्र है!!! वक्रोक्ति के कारण ही यहाँ सौंदर्य निखर रहा है।

वक्रोक्ति का स्वरूप

'वक्रोक्ति' का अर्थ है वक्र उक्ति, बाँका कथन, टेढ़ी उक्ति। उक्ति की वक्रता क्या है? किसी बात को अलौकिक रूप से प्रकट करना। बात कहने के दो ढंग होते हैं—एक सामान्य रूप से समाचार पूछना या कहना (जिसे वार्ता कहते हैं), और दूसरा विशिष्ट रूप से बात कहना। तालाब में कमल खिलने का वर्णन दो प्रकार से किया जा सकता है। इतना ही कहना कि 'तालाब में सुन्दर कमल खिले हैं' केवल वार्ता है, स्वभाव-कथन है। परन्तु इसी भाव को इन शब्दों में प्रकट करना कि 'किसी सुन्दरी के मुख की समता पाने के लिए कमल जल में एक पैर से खड़ा होकर तपस्या कर रहा है' वक्रोक्ति है, क्योंकि यहाँ वही बात एक नवीन ढंग से कही गयी है। इसीलिए वक्रोक्ति का अर्थ है—

लोकातिक्रान्तगोचरं वचः (भामह); लोक को अतिक्रमण करनेवाला वचन। अभिनवगुप्त के शब्दों में शब्द तथा अर्थ की वक्रता है इन दोनों की लोक से उत्तर या अधिकरूप से स्थिति या अवस्थान। अर्थात् साधारण जन अपने भावों को प्रकट करने के लिए जिन सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग किया करते हैं उनसे भिन्न शब्द तथा अर्थ का प्रयोग करना। शब्द तथा अर्थ की लोकोत्तर रूप से काव्य में स्थिति वक्रता कहलाती है। वक्रोक्ति के आचार्य कुन्तक का भी यही मत है। इन्होंने 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवन माना है और ये ही वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वश्रेष्ठ अलंकार मानकर उसका बहुत ही सुन्दर लक्षण किया है:—**वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भंगी-भणितिरुच्यते।** इस लक्षण के तीनों शब्दों के अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। **'वैदग्ध्य'** का अर्थ है विदग्धता अथवा कविकर्म की कुशलता। **'भंगी'** का अर्थ है विच्छित्ति, चमत्कार या चारुता। **'भणिति'** से तात्पर्य है कथन। इन तीनों शब्दों को एक साथ मिलाकर हम थोड़े में कह सकते हैं कि **वक्रोक्ति** कविकर्म की कुशलता से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार के ऊपर आश्रित होनेवाला कथन-प्रकार है अर्थात् वक्रोक्ति कहने का वह ढंग है जिसमें कवि की प्रतिभा के कारण चमत्कार उत्पन्न होता है। संस्कृत के आचार्यों में कुन्तक वह विशिष्ट आचार्य हैं जिनका विशेष आग्रह कवि-कौशल के ऊपर है जिसे वे 'कविव्यापार' के नाम से भी पुकारते हैं। काव्य कवि के प्रतिभा-व्यापार से उत्पन्न होनेवाला सद्यः प्रसूत फल है। वक्रोक्ति के इस लक्षण पर ध्यान देने से उसके अवान्तर तथ्यों की भी कल्पना भलीभाँति समझ में आ सकती है। वक्रोक्ति को 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकि' तथा 'अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि' कहा गया है जिसका स्वारस्य या तात्पर्य यही है कि शास्त्र या व्यवहार में किसी बात को समझाने के लिए शब्द-अर्थ की जो रचना की जाती है उससे विलक्षण वस्तु 'वक्रोक्ति' है। लोक में सामान्य शब्दों से भी काम सिद्ध हो जाता है, परन्तु काव्य में विलक्षण शब्द और अर्थ होने ही चाहिए और यही कुन्तक के अनुसार 'वक्रोक्ति' है।

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के निम्नलिखित ६ भेद स्वीकार किए हैं:—

(१) वर्ण-विन्यास वक्रता
(२) पद-पूर्वार्ध वक्रता
(३) पद-परार्ध वक्रता
(४) वाक्य-वक्रता
(५) प्रकरण-वक्रता
(६) प्रबन्ध-वक्रता

वर्ण-विन्यास-वक्रत्वं पदपूर्वार्ध-वक्रता ।
वक्रतायाः परोप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ।।

—वक्रोक्ति० १।१२

वक्रोक्ति के भेदं बड़े व्यापक तथा सांगोपांग हैं। प्रवन्ध की सबसे छोटी इकाई वर्ण या अक्षर हैं। अक्षरों का ही समुदाय विभक्ति रहित होने पर 'प्रातिपदिक' या 'प्रकृति' कहलाता है। विभक्ति से युक्त होने पर 'पद' कहलाता है। सुप्तिङन्तं पदम्। पद के दो विभाग हैं—प्रकृति तथा प्रत्यय। इसीलिए कुन्तक ने पद में दो प्रकार की वक्रता स्वीकार की है। एक वक्रता वह है जो उसके पूर्वार्ध में निवास करती है और दूसरी वक्रता वह है जो पद के उत्तरार्ध में निवास करती है। इसको **प्रत्यय-वक्रता** भी कहते हैं। पदों के समुच्चय से वाक्य बनता है और वाक्यों के समुदाय से प्रकरण की रचना होती है। अनेक प्रकरण मिलकर एक विशिष्ट प्रबन्ध तैयार करते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने वर्ण से लेकर प्रवन्ध तक में होनेवाली वक्रताओं का पूर्ण श्रेणी-विभाजन सुन्दर रीति से किया है। कविव्यापार के द्वारा उत्पादित वक्रता इन्हीं स्थानों में निवास करती है।

(१) वर्ण-विन्यास वक्रता

यह अक्षरों के विन्यास में रहती है। अन्य आलंकारिक अनुप्रास और यमक के भीतर जिन विषयों का निरूपण करते हैं, उनका विवेचन इस वक्रता के भीतर किया गया है।

(२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता

इसके अन्तर्गत पर्याय (समानार्थक शब्द), रूढ़ि(प्रयोग में आनेवाले शब्द), उपचार, विशेषण, संवृत्ति, वृत्ति (समास तथा तद्धित प्रत्यय), भाव (धातु), लिंग और क्रिया के विशिष्ट प्रयोगों का विवेचन किया गया है।

(३) पद-परार्ध वक्रता

पद का उत्तरार्ध 'प्रत्यय' हुआ करता है। अतः इसे प्रत्यय-वक्रता के भी नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार के अन्तर्गत काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह (कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य भेद से तीन प्रकार का वाच्य), निपात, अव्यय, आदि के विशिष्ट प्रयोगों का महत्त्व तथा साहित्यिक मूल्य प्रदर्शित किया गया है।

(४) वाक्य-वक्रता

वाक्य में होने वाली वक्रता के असंख्य भेद हैं। यह कविप्रतिभा के ऊपर अवलम्बित रहती है। कवियों की प्रतिभा अनन्त होने के कारण से उसका कथमपि नियमन नहीं किया जा सकता। जिस वाक्य को कवि एक प्रकार से प्रयोग करता है उसे ही किसी दूसरे

कवि की प्रतिभा प्रकारान्तर से प्रस्तुत करती है। अतः कविप्रतिभा के आनन्त्य से वाक्य-वक्रता के प्रकार भी संख्यातीत हैं। इसी के अन्तर्गत समग्र अलंकारवर्ग का विवेचन किया गया है। यहीं कुन्तक ने रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी तथा समाहित नामक अलंकारों का भी विशिष्ट निरूपण प्रस्तुत किया है। प्राचीन आलंकारिकों से कुन्तक की शैली इस विषय में स्वतंत्र है। पूर्व आलंकारिक जहाँ रसवत् आदिक ऊपर निर्दिष्ट अलंकारों में रस की सत्ता गौंण रूपेण स्वीकार करते हैं, वहाँ कुन्तक इनमें रस को प्रधानतया अभिव्यक्त बतलाते हैं। अन्य अलंकारों के विषय में भी इनकी कल्पना स्वतंत्र तथा विवेचन मार्मिक हैं:—

> वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
> यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥
>
> सहस्र शब्दोऽत्र संख्याभूतस्त्वमात्रवाची। न नियतार्थ वृत्तिः। यथा सहस्रदलमिति। यस्मात् कविप्रतिभानां आनन्त्यात् नियतत्वं न संभवति (वक्रोक्ति-जीवित १–२०)

(५) प्रकरण-वक्रता

'प्रकरण' का अर्थ है प्रवन्ध का एक देश अर्थात् पूरे ग्रन्थ के अन्तर्गत एक विशिष्ट वर्ण्य विषय। इस प्रकार के अन्तर्गत इसी प्रकरण से सम्बन्ध विशिष्टता का विशेष वर्णन किया गया है।

(६) प्रबन्ध-वक्रता

पूरा प्रवन्ध का अर्थ है समस्त दृश्य तथा श्रव्य काव्य-ग्रन्थ। प्रबन्ध में सौन्दर्य उत्पन्न करना कवि का प्रधान लक्ष्य रहता है। प्रथम पाँच प्रकार की वक्रता इस वक्रता का अंगमात्र है। यही वक्रता काव्य में अंगी या मुख्य रहती है, प्रथम वक्रताओं का लक्ष्य समूहरूप से इसी वक्रता के उत्पादन में है। अंगी की शोभा से ही अंगों की शोभा होती है। अंगों के सौन्दर्य से ही अंगी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। कविव्यापार का चरम अवसान 'प्रबन्ध-वक्रता' की ही सृष्टि से होती है। जिस प्रकार नाटक के विविध अंगों में परस्पर सामञ्जस्य विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रवन्ध-वक्रता के विविध अंगों में भी अत्यन्त अनुकूलता, परस्पर उपकारिता तथा हृदय-ग्राही समता विराजमान रहती है।

वक्रोक्ति के प्रकारों का दृष्टान्त

वक्रोक्ति के समस्त प्रकारों तथा भेदों के प्रदर्शन का न तो यहाँ स्थान है और न समय। अतएव कतिपय भेदों का ही लक्षण तथा उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

उपचार-वक्रता

जहाँ अत्यन्त भिन्न पदार्थों में भी अत्यन्त सादृश्य के कारण भेद की प्रतीति ढक दी जाती है वहाँ 'उपचार' होता है। **अत्यन्त विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीति स्थगनम् उपचारः (विश्वनाथ कविराज)**। अचेतन में चेतन के धर्म का अध्यारोप इस वक्रता के भीतर आ जाता है। इस प्रकार के भीतर ध्वनि का प्रपंच बड़ी सुन्दरता से विराजता है। कालिदास ने मेघदूत में अन्धकार को 'सूचिभेद्य' (सूचिभेद्यैस्त-मोभिः) 'मारग सूझि जिन्हैं न परै जव सूचिकाभेदि झुकै अँधियारी' (राजा लक्ष्मणसिंह) कहा है। सूई के द्वारा मूर्त पदार्थ (ठोस वस्तु) में ही छेद किया जा सकता है, परन्तु यहाँ अमूर्त अन्धकार 'सूचिभेद्य' (सूई से छेदने योग्य) कहा गया है। फलतः यहाँ अमूर्त में मूर्त धर्म का अध्यारोप होने से 'उपचार-वक्रता' विद्यमान है।

संवृति-वक्रता

यह वक्रता वहाँ होती है जहाँ कोई विवक्षित वस्तु भी छिपाई जाती है। छिपाने से वह छिपती नहीं, प्रत्युत वह खुलकर अपने आपको और भी अधिक सफाई से प्रकट करती है। कालिदास ने कुमारसम्भव (५।८३) में पार्वती तथा ब्रह्मचारी के कथनोपकथन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। पार्वती के मना करने पर भी वह वटु कुछ वोलना चाहता है। इस पर पार्वती अपनी सखी से कहती हैं कि हे सखि, इस वटु को रोको। यह फिर कुछ न कुछ (किमपि) वोलना चाहता है। यहाँ 'किमपि' शब्द संवृत्ति-वक्रता का दृष्टान्त है। 'किमपि' शब्द किसी अश्रवणीय तथा अकल्पनीय वस्तु की यहाँ कल्पना कर रहा है। इस वस्तु की व्यञ्जना अन्य प्रकार से सुखरूपेण गम्य नहीं है।

लिंग-वैचित्र्य वक्रता

जहाँ किसी शब्द का प्रयोग अनेक लिंगों में स्वभावतः होता है वहाँ उसे केवल लिंग-विशेष में ही प्रयुक्त करना इस वक्रता के भीतर आता है। हिन्दी में दोनों ही शब्द चलते हैं—तट और तटी। जहाँ इन दोनों में तटी स्त्रीलिंग पद का प्रयोग किया जावेगा, वहाँ भावों में कमनीयता तथा सुन्दरता स्वयं विराजने लगेगी। इसी प्रकार कोमलता तथा औचित्य की दृष्टि से वृक्ष के स्थान पर लता का वर्णन उचित होता है। रावण के द्वारा सीता के हरण किये जाने पर लतायें अपनी झुके पल्लववाली शाखाओं के द्वारा राम को उस मार्ग का संकेत कर रही हैं (रघुवंश १३।२४)। स्त्रीलिंगी होने से 'लता' में जिस दया तथा कारुण्य का भाव विद्यमान है उसका परिचय 'वृक्ष' जैसे पुल्लिग शब्द के प्रयोग से नहीं होता।

घनानन्द की वक्रोक्तियाँ

हिन्दी के कवियों में 'घनानन्द' की कविता में वक्रोक्ति का पूर्ण निवास माना जा

सकता है। उनकी उक्तियाँ एक से एक बढ़कर चमत्कारपूर्ण तथा मनोरञ्जक प्रतीत होती हैं। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

उर-भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी विराजत बात-बनी।
मृदु मञ्जु पदारथ भूषन सो सुलसै हुलसै रस-रूप-मनी॥
रसना-अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित सेज ठनी।
घन-आनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान-धनी॥

आशय है कि बातरूपी दुलहिन हृदय के भवन में मौन का घूँघट काढ़कर छिपकर बैठी हुई है। बात बाहर प्रकट नहीं होती वल्कि हृदय में ही बैठी हुई है। जीभ ही सखी है जो कानरूपी गली से होकर प्रिय को चित्त की सजी हुई सेज पर लाकर बैठाती है जिससे स्नेही सुजान बुद्धि के अंक में बैठकर विलास कर रहा है। वक्रता बड़ी निगूढ़ है यहाँ; पर है बहुत ही सुन्दर।

यह सवैया संयोग से वियोग दशा का अन्तर बड़ी सुन्दरता से दिखलाती है—

तब तौ छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित-पोष के तोष सुप्रान पले, बिललात महा दुखदोष भरे॥
'घन-आनँद' मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि कै बीच पहार परे॥

वियोग में पड़ा विरही अपनी पूर्व संयोग-दशा से अपनी दशा की तुलना कर रहा है। उस समय तो शोभा पीते हुए जीते थे, अब तो सोच के मारे मेरे नेत्र जल रहे हैं। तब प्रेम के पोषण से प्राण अघा कर संतुष्ट थे; परन्तु अब तो बिलखते हुए दुःखों में दिन कट रहे हैं। सुजान से मिलने के समय तो दोनों के बीच में आनेवाला हार पहार के समान लगता था, परन्तु आज वियोग में तो सचमुच दुर्लङ्घ्य पहाड़ बीच में आकर पड़ गये हैं। कितनी दयनीय दशा है बेचारे विरही की !!! इस सवैये का अन्तिम चरण एक संस्कृत सूक्ति की स्मृति बरबस दिलाता है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विच्छेद-भीरुणा।
इदानिमावयोर्मध्ये सरित्-सागर-भूधराः॥

परन्तु घनानन्द की उक्ति में जो नोंक-झोंक दीख पड़ता है, वह संस्कृत के सरल अनुष्टुप् में कहाँ ?

इस प्रकार वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार श्रोताओं के केवल मस्तिष्क को ही नहीं स्पर्श करता, प्रत्युत वह उनके हृदय को भी प्रफुल्ल तथा विकसित बना देता है। सच्ची वक्रोक्ति का यही प्रभाव होता है।

वक्रोक्ति तथा अन्य सिद्धान्त

वक्रोक्ति सिद्धान्त के पुरस्कर्ता आचार्य कुन्तक अभिधावादी थे क्योंकि उनकी दृष्टि में अभिधाशक्ति ही कवि के अभीष्ट अर्थ को भलीभाँति प्रकट कर सकती है, परन्तु वे अभिधा का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत मानते हैं जिसके भीतर लक्षणा तथा व्यञ्जना दोनों गतार्थ होती हैं। 'वाचक शब्द द्योतक तथा व्यञ्जक दोनों प्रकार के शब्दों का उपलक्षण है। फलतः वे ध्वनिसिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे, परन्तु वे ध्वनि को वक्रोक्ति के विविध प्रकारों के अन्तर्गत मानते थे।

वक्रोक्ति और ध्वनि

कुन्तक की उपचार-वक्रता के अन्तर्गत ध्वनि का नाना प्रपञ्च अन्तर्निविष्ट हो जाता है। उदाहरण पर विचार कीजिए। 'गगनं च मत्तमेघम्'—आकाश पागल मेघों से व्याप्त है। 'मत्तता' चेतन का धर्म है, परन्तु यहाँ अचेतन मेघ का वह धर्म बतलाया गया है। फलतः यहाँ चेतन का धर्म अचेतन पदार्थों में उपचरित है। यहाँ आनन्दवर्धन के अनुसार 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि है। इसी प्रकार 'वैचित्र्य-वक्रता' के भीतर अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि का अन्तर्भाव अभीष्ट है। इतना ही नहीं, आचार्य कुन्तक ने काव्य में प्रतीयमान अर्थ की सत्ता की स्वीकृति स्वयं अपने ग्रन्थ में दी है। वे 'विचित्र' मार्ग में वाक्य के अर्थ को प्रतीयमान होना स्वयं बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में अनेक अलंकारों के द्विविध रूप होते हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान। रूपक, उपमा, व्यतिरेक, आदि अलंकारों को वे दो प्रकार का मानते हैं। एक में तो वाच्य अर्थ ही रहता है, परन्तु दूसरे में प्रतीयमान अर्थ की भी सत्ता रहती है। निष्कर्ष यह है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त ध्वनि का विरोधी नहीं है, प्रत्युत इसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपंच सिमिट कर व्याप्त हो रहा है।

वक्रोक्ति और रस

वक्रोक्ति सिद्धान्त के साथ रस सिद्धान्त का भी कहीं विरोध नहीं होता, प्रत्युत रस वक्रोक्ति के नाना प्रकारों में से अन्यतम प्रकार प्रतीत होता है। कुन्तक ने रस को प्रबन्ध-वक्रता के कतिपय भेदों के अन्तर्भूत माना है। उनका स्पष्ट मत है कि कविजनों को केवल इतिवृत्त का आश्रय लेकर रचना नहीं करनी चाहिए, बल्कि रस से निरन्तर भरे हुए सन्दर्भों से अपनी रचना को पुष्ट तथा आप्लुत बनाना चाहिए। कुन्तक के अनुसार वस्तु का स्वभाव काव्य में अलंकार्य होता है, अलंकार नहीं। वे रसभाव से पेशल वस्तुस्वभाव को समधिक रमणीय अलंकार्य वस्तु मानते हैं। वे 'रसवत्' अलंकार को मानते हैं, परन्तु प्राचीन आलंकारिकों से विपरीत वे उसे अलंकार न मानकर अलंकार्य ही मानते हैं। प्रबन्ध तथा

प्रकरण की वक्रता के भीतर भी रसचमत्कार का अन्तर्भाव वे मानते हैं। फलतः रस के प्रति उनकी वही आदर तथा महत्त्व बुद्धि है जो रसवादी आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती है। इस मार्ग में नये-नये गुणों की तथा कवि स्वभावगत रीति की भी कल्पना मान्य है। कुन्तक भौगोलिक स्थिति से किसी भी रीति को प्रभावित नहीं मानते, प्रत्युत रीति का आश्रयण वे कवि के स्वभाव पर मानते हैं। इसलिए उन्होंने प्राचीन नामों के स्थान पर रीतियों का नवीन नामकरण किया है। वैदर्भी के स्थान पर 'सुकुमार-मार्ग', गौडी के स्थान पर 'विचित्र-मार्ग' तथा पाञ्चाली के स्थान पर 'मध्यम-मार्ग' की कल्पना बड़ी ही सुन्दर, व्यापक तथा उपादेय है। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त ने अन्य प्रख्यात सिद्धान्तों को अपने प्रकार के भीतर मानकर काव्य का संतुलित रूप प्रस्तुत किया है।

वक्रोक्ति तथा काव्य

वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार काव्य में व्यापार की प्रधानता रहती है। काव्य के स्वरूप के विषय में भी कुन्तक का स्वतन्त्र मत है। काव्य का उद्देश्य श्रोताओं के हृदय में अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन है और वह उन्मीलन तभी सिद्ध हो सकता है जब शब्द का प्रयोग शास्त्रादिकों में मान्य अर्थों से दूर हटकर विचित्रता-सम्पन्न होता है। लोक-व्यवहार में शब्दों का प्रयोग किसी-न-किसी अर्थ में रूढ़ हो गया है। इन रूढ़ अर्थों से हमारा परिचय इतना अधिक है कि हमारे लिए उनमें किसी प्रकार का आह्लाद रह नहीं जाता। अतः अप्रचलित प्रकार से स्वतन्त्र प्रयोग में ही वैचित्र्य उत्पादन की क्षमता शब्दों में हो सकती है। यही कुन्तक को स्वीकार है। महिमभट्ट ने भी इसी तात्पर्य को अपने ग्रन्थ में समानार्थक शब्दों में ही अभिव्यक्त किया है—जहाँ वैचित्र्य की सिद्धि के लिए प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग कर वही अर्थ दूसरे ही प्रकार से प्रतिपादित किया जाता हो वही 'वक्रोक्ति' है :—

प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता॥

काव्य का लक्षण आलंकारिकों ने अपने मत से भिन्न ही प्रकार से किया है। कुन्तक ने 'काव्य' शब्द का प्रयोग शब्द तथा अर्थ—इन दोनों के समन्वय के लिए किया है। शब्द तथा अर्थ के मञ्जुल समन्वय को लक्षित कर ही 'साहित्य' शब्द प्रयुक्त होता है। कुन्तक दण्डी के समान उन आलंकारिकों में नहीं हैं जो काव्य में शब्द की ही मुख्यता मानते हैं। महाकवि दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' रूप काव्य की सत्ता मानकर काव्य का मौलिक आधार 'शब्द' ही माना है, परन्तु कुन्तक न तो शब्द की प्रधानता मानते हैं और न केवल अर्थ के सौन्दर्य पर आस्था जमाते हैं। उनके लिए तो काव्य, शब्द तथा अर्थ

दोनों के मञ्जुल तथा सरस समुच्चय का ही द्योतक होता है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि किन्हीं आलंकारिकों की सम्मति में कविकौशल से कल्पित, कमनीयता से सम्पन्न, शब्द ही केवल काव्य होता है तथा अन्य विद्वानों के मत में रचना-वैचित्र्य से चमत्कारकारी वाच्य ही काव्य होता है। परन्तु ये दोनों मत नितान्त चिन्त्य हैं। जिस प्रकार प्रत्येक तिल में तैल रहता है उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में ही काव्यत्व का निवास रहता है, केवल एक में नहीं। काव्य कविप्रतिभा का चमत्कार ठहरा और प्रतिभा एकमुखी न होकर उभयमुखी होनी चाहिए। शब्दों की माधुरी उत्पन्न कर श्रोताओं के कानों को प्रसन्न करनेवाला कवि अपनी प्रतिभा का दारिद्रच प्रकट करता है, तो शब्दचमत्कार से हीन अलंकार से विरहित केवल वस्तुमात्र का उपन्यास करनेवाला कवि भी उसी प्रकार अपराधी माना जाता है। अतः कविता के आसन की स्थिति जमाने के लिए दो स्तम्भ हैं—शब्द और अर्थ। इन दोनों में जब तक समरसता अर्थात् एकरूपता नहीं आती, तबतक कविता का उदय नहीं होता। जब तक शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध बिल्कुल ही सरस तथा व्यवस्थित नहीं रहता, तब तक 'काव्य' का जन्म नहीं। जो भाव कवि को प्रकट करना हो, उसको ठीक-ठीक प्रकट करने वाले ही शब्द का प्रयोग होना चाहिए। न तो शब्द ही हटाया जा सके और न अभीष्ट अर्थ को ही बदलने की आवश्यकता हो। शब्द तथा अथ का ऐसा परस्पर सम्बद्ध तथा समरस योग ही 'काव्य' कहलाता है। कुन्तक इसीलिए उस शब्दार्थ को काव्य मानते हैं जो कवि के वक्र व्यापार से सुशोभित तथा सहृदयों को आह्लाद देनेवाले बन्ध में व्यवस्थित रहते हैं। इस प्रकार कुन्तक शब्द तथा अर्थ को काव्यशरीर मानकर 'अलंकार्य' मानते हैं और इसे सजानेवाला एक ही अलंकार है और वह है वक्रोक्ति।

सूक्ति

वक्रोक्ति का यही व्यापकरूप आचार्य कुन्तक को अभीष्ट है। जो आलोचक वक्रोक्ति को चमत्कारमात्र का पर्याय मानते हैं वे इसके व्यापक तथा महनीय अर्थ को संकीर्ण बना देते हैं। चमत्कार भी व्यापकरूप में काव्य का एक महनीय तथा मान्य गुण है, परन्तु संकीर्ण रूप में वह केवल क्षणिक आनन्द उत्पन्न करने में ही कृतकार्य होता है। यदि चमत्कार रसात्मक हो, या वक्रोक्ति रसोक्ति के साथ सम्मिलित हो, तो काव्य का मूल्य बहुत ही अधिक होता है। हिन्दी के कवियों ने अनेक स्थलों पर चमत्कारिणी उक्तियाँ कही हैं जिसमें केवल चमत्कार ही हाथ आता है; रस तथा भाव पर प्रतिष्ठित न होने से ये उक्तियाँ हृदय को छूने में सफल नहीं होतीं, परन्तु अनेक महाकवियों की सरस-चमत्कारिणी उक्तियाँ नितान्त स्निग्ध तथा रसपेशल होती हैं। महाकवि देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही ते समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयौ गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ॥
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै आसहु पास अकास रह्यौ भरि ।
जा दिन तैं मुख फेरि हरै हँसि, हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि ॥

श्रीकृष्ण ने जिस दिन से उसे मुख फेर कर ताका है और हँसकर उसके हृदय को चुरा लिया है, उसी दिन से राधा की विरह-वेदना में इतना बढ़ाव आ गया है कि पाँचों तत्त्व शरीर से धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। साँसों के द्वारा शरीर से सब वायु निकल गयी। आँखों से निरन्तर बहनेवाले आँसुओं के रूप में सब जल शरीर से बह गया। तेज अपना गुण लेकर चला गया अर्थात् राधा का शरीर बिल्कुल तेजहीन और प्रभारहित हो गया। शरीर को दुबला-पतला बनाकर भूमि तत्त्व शरीर से हट गया। देव कवि का कहना है कि राधा कृष्ण से मिलने की ही आशा से जी रही है, परन्तु उसकी आशा के पास आकाश भर गया है। आकाश शून्य रूप है। फलतः मिलने की आशा शून्य में परिणत हो गई है। इस प्रकार पाँचों तत्त्वों के शरीर से निकलने का मधुर संकेत राधा की दयनीय दशा से मिलता है। इसमें सूक्ति के साथ रस का भी सुन्दर चमत्कार है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सम्प्रदाय के सिद्धान्त नितान्त व्यापक, अन्तरंग तथा सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के द्योतक हैं।

———

१२

अलंकार सिद्धान्त

विश्व में अलंकार की महिमा बड़ी विशाल है। मानव ही अपनी वस्तुओं को, अपने शरीर को तथा अपनी सामग्री को अलंकृत नहीं रखता, प्रत्युत प्रकृति भी अपने अंगों को अलंकृत करने में कथमपि पराङ्मुख नहीं होती। प्रातःकाल जब सूरज का उदय होता है, तब प्रकृति प्राची दिशा को नये-नवीन रंगों से कैसे रँग देती है। मालूम पड़ता है कि गाढ़ी लालिमा के रंग से किसी ने पूरब दिशा को रँग डाला है। वाटिका के पुष्पों के रगों तथा सजावट को देखिए। रंग कितना भव्य तथा सजावट कितनी मोहक होती है। सारांश यह है कि प्रकृति स्वयं अलंकरण की प्रेमी होती है और अपने अंग-प्रत्यंग को नाना सजावट से सजाने में. नये रंगों से रंगीन बनाने में, उसको बड़ा आनन्द आता है।

कवि भी प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करनेवाला एक भावुक व्यक्ति होता है। वह भी अपनी रचनाओं को अलंकारों से सजाने का प्रेमी तथा अभ्यासी होता है। जो कुछ भी वह लिखता है उसे वह अवश्यमेव सजाता है। सुन्दर बनाने के लिए नयी-नयी सामग्री एकत्र करता है और उसका ऐसा सरस विन्यास करता है कि देखते ही नेत्रों को विशेष आनन्द आता है और सुनते ही लोगों के कान स्वतः उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। कवि, लेखक, अथवा वक्ता अपनी बातों को सुन्दर तथा मनोरम बनाने के अभिप्राय से उसे अलंकारों से सजाता है और इससे उसकी इच्छा सद्यः पूर्ण हो जाती है। उस दिन काशी की गलियों में जाली नामक कपड़े का फेरीवाला जब जोरों से चिल्लाता जाता था—"जाली का चच्चा, घोड़ा सा बच्चा!", तब श्रोताओं का ध्यान 'चच्चा' और 'बच्चा' के शब्दसाम्य से स्वयं आकृष्ट हो रहा था और उस जाली को खरीदने के लिए तुरन्त तैयार हो रहे थे। जिन साधनों के द्वारा काव्य या निबन्ध सुन्दर बनाया जाता है तथा हृदय को आकृष्ट करने की अद्भुत शक्ति से वह सम्पन्न किया जाता है उनमें से अन्यतम साधन है—अलंकार।

अलंकार का रूप

अलंकार में जो वस्तु जीवनी शक्ति डालकर उसे सजीव तथा आकर्षक बनाती है वह 'चमत्कार' के नाम से प्रख्यात है। अलंकार का अलंकारत्व तभी है जब वह चमत्कार से मण्डित है। अलंकार का सामान्य रूप है वैचित्र्य, विचित्रता। वैचित्र्यम् अलंकारः।

विचित्रता से हीन स्वभाव कभी अलंकार नहीं हो सकता। अलंकार की यही कसौटी है विचित्रता, चमत्कार। इसके लिए कवि को प्रतिभा की बड़ी आवश्यकता होती है। बिना विचित्रता के कोई भी साधन 'अलंकार' के महनीय नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। एक उदाहरण से इसे समझिए। 'अपन्हुति' नामक एक अलंकार होता है जिसमें प्रकृत वस्तु का तिरस्कार कर एक अप्रकृत वस्तु की स्थापना की जाती है। पूर्णिमा की रात को आकाश की ओर दृष्टिपात करता हुआ संस्कृत का कवि कह रहा है—

नेदं नभो मण्डलमम्बुराशेर्नैताश्च तारा नवफेनभंगाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नायं कलंकः शयितो मुरारिः॥

कवि का कहना है कि यह आकाश नहीं बल्कि जल का एक विशाल समूह है। ये तारायें नहीं हैं बल्कि फेन के नये टुकड़े हैं। यह चन्द्रमा नहीं है, बल्कि कुण्डल मारकर गोले में बैठने वाला सर्प है। यह चन्द्रमा का कलंक नहीं है, बल्कि काले रंग वाले भगवान विष्णु उसपर शयन कर रहे हैं। विचित्रता होने के कारण ही यह अपन्हुति अलंकार-रूपा है। यदि वैचित्र्य नहीं, तो अलंकार भी नहीं। कोई कवि बैल का वर्णन कर रहा है—

गोरपत्यं बलीवर्दः, तृणायन्ति मुखेन सः।

गाय का यह बेटा बैल है जो मुख से तृणों को चरता है। जातिगत होने से यह वर्णन सच्चा तथा वैज्ञानिक भले माना जाय, परन्तु यह चमत्कारहीन होने से अलंकार कोटि में कभी नहीं आ सकता। इस प्रकार 'अलंकार' का सामान्य लक्षण है वैचित्र्य; जिसे प्रत्येक अलंकार में होना नितान्त आवश्यक होता है।

अलंकार का लक्षण

अलंकार का लक्षण क्या है? आचार्य मम्मट के शब्दों में जैसे शरीर की शोभा बढ़ाने वाले कटक, कुण्डल आदि नाना प्रकार के भूषण या गहने होते हैं, वैसे ही अलंकार शब्द तथा अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाले अस्थिर धर्म हैं। अस्थिर कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकार की स्थिति आवश्यक नहीं रहती। वे काव्य में रह भी सकते हैं और नहीं भी रह सकते हैं। गुणों के समान उनकी स्थिति 'नियत' नहीं होती है। गुण तो काव्य में नियत रूप से रहता है, गुणों का निवास काव्य में अनिवार्य है। गुण रस का सदा उपकार करते हैं, परन्तु अलंकार काव्य में विद्यमान रहने वाले रस का उपकार करते हैं और कभी-कभी तो विद्यमान भी रस का उपकार नहीं करते (सन्तमपि नोपकुर्वन्ति)। इसलिए 'अलंकार' को अस्थिर धर्म कहा है जो स्थिर तथा नियत धर्म (अर्थात् 'गुण') से सर्वथा भिन्न होता है। यह विवेचन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि से किया गया है, परन्तु अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि काव्य में अलंकार को विशेष महत्व देती है। वे

'अलंकार' को काव्य का नितान्त आवश्यक शोभावर्धक साधन मानते हैं जिनका काव्य में निवास नितान्त आवश्यक होता है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार उष्णता से रहित अग्नि की कल्पना असम्भव है वैसे ही अलंकार के विना काव्य की सत्ता निराधार है। परन्तु आजकल का आलंकारिक अलंकारों को काव्य में इतना महत्त्वशाली नहीं मानता। वह उसे काव्य का अस्थिर ही धर्म मानता है जो काव्य में रहकर उसे चमत्कृत बनाने की योग्यता रखता है अथवा कभी-कभी न रह कर भी काव्य को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। अलंकार का यही परिनिष्ठित रूप है।

अलंकार का विकास

संस्कृत के आचार्यों ने अलंकार के विकास को अपने ग्रन्थों में भलीभाँति समझाया है। ऊपर हमने दिखलाया है कि 'अलंकारशास्त्र' एक प्रगतिशील वर्धिष्णु शास्त्र है जिसका प्रत्येक आचार्य कुछ नवीन मान्यताओं के साथ स्थापना अपने ग्रन्थ में करता है और प्राचीन मान्यता के ऊपर भी एक नये सिरे से या नयी दृष्टि से विचार करता है। इसीलिए यह शास्त्र लकीर का फ़कीर बनकर केवल पिष्टपेषण नहीं करता और प्राचीनों के द्वारा वर्णित सिद्धान्तों की ही पुनः आवृत्ति नहीं करता, बल्कि नवीन बातों को खोजकर नये काव्यतत्त्वों का उन्मेष करता है। हमारे आलोचनाशास्त्र की यह बड़ी भारी विशेषता है जिधर साधारण आलोचक का ध्यान नहीं जाता। उदाहरण के लिए अलंकार की संख्या पर ही दृष्टिपात कीजिए। सबसे प्राचीन आलंकारिक भरत ने केवल चार ही अलंकार माने हैं—यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक जिनमें 'यमक' तो शब्दालंकार का प्रतिनिधि है तथा अन्य तीन अर्थालंकार के। इन्हीं चार अलंकारों का विकास होते-होते अलंकारों की संख्या 'कुवलयानन्द' में १२५ तक पहुँच गई है। संख्या में ही विकास नहीं है, अलंकारों के स्वरूप में भी पर्याप्त विकास होता गया है। यहाँ तक कि पुराने अलंकारों को हम नये अलंकार के ही रूप में नहीं पाते, प्रत्युत उन्हें नये काव्यतथ्य के रूप में भी पाते हैं। 'वक्रोक्ति' इसका स्पष्ट उदाहरण है। यह भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों में केवल अलंकार है, परन्तु कुन्तक ने इसे ऊपर उठाकर काव्य के व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अलंकारों के स्वरूप में महान् भेद भी है।

'स्वभावोक्ति' सर्वत्र एक नहीं है। सामान्यतः यह एक अलंकार ही है, परन्तु कुन्तक और महिमभट्ट इसे 'अलंकार' न मानकर 'अलंकार्य' मानते हैं। दण्डी ने इसे 'आद्या अलंकृति' (प्रथम अलंकार) माना है। रुद्रट ने भी इसके आधार पर 'वास्तव' को अलंकार के विभाजन में एक मुख्य साधन माना है। भोजराज भी 'स्वभावोक्ति' को एक पृथक् अलंकार के रूप में मानते हैं, परन्तु कुन्तक ने इस पर बड़ा ही मार्मिक विचार कर

इसे अलंकार न मानकर अलंकार्य माना है। वस्तु के स्वभाव का कथन प्रथमतः मुख्य रूप से होना चाहिए और तभी आगे चलकर उसे अलंकारों से सजाया जा सकता है। भित्ति को ही चित्रों से सजाया जाता है। 'स्वभावोक्ति' भित्ति के समान है और चित्रों की कल्पना अलंकार के समान है। इस प्रकार 'स्वभावोक्ति' की कल्पना स्थूल से सूक्ष्म होती गई है।

सूक्ष्म विभाजन इस विकास का अन्यतम रूप है। प्राचीनों ने जहाँ किसी अलंकार का एक या दो भेद माना है, पिछले आलंकारिकों ने वहाँ अपनी बुद्धि से नये-नये प्रकारों को खोज निकाला है। 'तुल्ययोगिता' का एक ही प्रकार काव्यप्रकाश में वर्णित तथा विवेचित है, परन्तु अप्पयदीक्षित ने इसके चार विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। 'निदर्शना' के केवल दो प्रकारों का लक्षण काव्यप्रकाश में मिलता है, परन्तु 'कुवलयानन्द' में उसके पाँच प्रकारों की मीमांसा है। 'भाविक' कभी प्रबन्ध का एक सर्वातिशायी व्यापक तत्त्व माना जाता था। वही पिछले युग में केवल एक सामान्य अलंकार के रूप में दीख पड़ता है। किसी अलंकार के महत्त्व घटने का यह अच्छा उदाहरण है। संस्कृत के आलोचनाग्रन्थों में इतनी विपुल सामग्री उपस्थित है कि उसके आधार पर प्रत्येक अलंकार के विकास की कहानी बड़े ही रोचक ढंग से लिखी जा सकती है।

अलंकार के विभाग

विभाजन तत्त्व

स्थिति की दृष्टि से अलंकार का विभाजन किया जाता है। काव्य के शब्द और अर्थ ही शरीर के स्थान पर होते हैं। जिस प्रकार लोक में अलंकार शरीर की शोभा बढ़ाता है तथा शरीर के ऊपर स्थित रहता है, उसी प्रकार ये काव्यालंकार भी शब्द और अर्थ में निवास करते हैं। इस दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—(क) **शब्दालंकार** (ख) **अर्थालंकार** (ग) **उभयालंकार**। इस भेद के मूल तत्त्व को भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। कोई अलंकार शब्द में रहता है; इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ शब्द ही प्रधान रहता है। शब्द की प्रधानता से तात्पर्य यह है कि वह शब्द वहाँ से हटाया नहीं जा सकता। यदि उसके स्थान पर उसका कोई पर्याय रखा जाय, तो वह अलंकार बिलकुल गायब हो जाता है। शब्द विशेष के रहने पर ही अलंकार की स्थिति है और शब्द के हटते ही, उसके स्थान पर उसके समानार्थक शब्द रखते ही, अलंकार अस्तंगत हो जाता है। ऐसे अलंकार को 'शब्दालंकार' कहते हैं। यदि शब्द के पर्यायों में परिवर्तन करने पर भी अलंकार की सत्ता विद्यमान रहती है, तो अर्थ की प्रधानता होने के कारण यह 'अर्थालंकार' कहलाता है। 'उभयालंकार' में पूर्वोक्त दोनों विशेषताएँ पद्य के किसी-न-किसी भाग में

अवश्य मिलती हैं अर्थात् पद्य के किन्हीं शब्दों को हम पर्याय के रूप में बदल सकते हैं (अर्थालंकार) और किन्हीं शब्दों को हम बदल नहीं सकते (शब्दालंकार)। इसी विशेषता के कारण यह अलंकार 'उभयालंकार' के अन्वर्थक नाम से पुकारा जाता है। शब्दालंकारों की संख्या मुख्यतया आठ है; अर्थालंकारों की लगभग एक सौ तथा उभयालंकार केवल एक ही होता है।

इन अलंकारों की स्थिति दो रूपों में हो सकती है—केवल रूप या मिश्रित रूप। ये अकेले भी रहते हैं तथा अन्य अलंकारों के साथ मिलकर भी रहते हैं। यह मिश्रण दो प्रकार का होता है नीरक्षीरवत् तथा तिलतण्डुलवत्। नीर और क्षीर, पानी और दूध एक दूसरे से जब मिल जाते हैं, तब अलग नहीं किये जा सकते; उसी प्रकार जब दो या दो से अधिक अलंकार ऐसे मिले होते हैं कि उनका अलग करना कठिन हो तब अलंकारों की यह मिलावट 'संकर' कहलाती है। जब अलंकारों का मिश्रण तिल तथा तण्डुल, तिल तथा चावल के मिलावट के समान हो, तब इसे 'संसृष्टि' कहते हैं। जिस प्रकार मिले हुए काले तिल और उज्ज्वल चावल को अलग कर लेना सहज होता है उसी प्रकार एक ही रचना में जहाँ अलंकार अलग-अलग स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं वहाँ 'संसृष्टि' अलंकार होता है।

शब्दालंकार

शब्दालंकारों के एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। (क) **अनुप्रास**—जहाँ अक्षरों की समानता दिखाई जाय, उसके स्वर मिलें या न मिलें, वहाँ '**अनुप्रास**' होता है। 'अनुप्रास का अर्थ है रस के अनुकूल अक्षरों की रचना (प्रास)'। इस अलंकार के कई भेद होते हैं—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास। जहाँ एक वर्ण की या अनेक वर्णों की समानता केवल एक बार हो वहाँ '**छेकानुप्रास**' होता है और जहाँ यह समानता वृत्ति के अनुकूल कई बार हो वहाँ '**वृत्त्यनुप्रास**' होता है। जहाँ शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति हो और उनका अर्थ भी एक ही हो, केवल अन्वय करने से तात्पर्य बदल जाता हो, वहाँ '**लाटानुप्रास**' होता है।

राधा बर के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाय।
दाख दुखी मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय॥

यहाँ एक ही वर्ण की एक बार आवृत्ति होने से 'छेकानुप्रास' है। यहाँ 'बर' और 'बैन' में बकार की, 'चीनी' और चकित" में चकार की, 'दाख' और 'दुखी' में दकार की, मिसरी और मुरी में मकार की, सुधा और सकुचाय में सकार की आवृत्ति एक ही बार होती है, इसलिए यह 'छेकानुप्रास' का दृष्टान्त है।

(ख) यमक

निरर्थक अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक स्वर-व्यञ्जन के समुदाय का जहाँ उसी क्रम से पुनः श्रवण हो वहाँ 'यमक' अलंकार होता है। यमक में अनुप्रास से वैशिष्टय स्पष्ट ही मालूम पड़ता है। यमक में आवृत्ति स्वर-व्यञ्जन समुदाय की ही होती है, परन्तु इनमें यदि शब्दों का कोई अर्थ होता हो वह आपस में एक दूसरे से भिन्न होना ही चाहिए। दोनों समुदायों का निरर्थक होना अभीष्ट है, परन्तु यदि वे सार्थक हैं, तो अर्थ भिन्न ही होना चाहिए। यही इसकी विशिष्टता है। इसमें स्थान का नियम है अर्थात् यमक यदि प्रथम पाद के आदि में विद्यमान हो, तो उसे अन्य पादों के आदि में होना ही चाहिए। संस्कृत के आचार्यों ने इसके अनेक विचित्र प्रकारों का विवरण अपने ग्रन्थों में दिया है। विहारी का यह प्रसिद्ध दोहा 'यमक' का एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत करता है—

भजन कह्यो तासों भज्यो, भज्यो न एको बार।
दूरभजन जासों कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार॥

कवि किसी व्यक्ति को सचेत करता हुआ कह रहा है—मैंने जिस भगवान को भजने की बात तुमसे कही; उससे तो तुम भाग गये। उसका भजन तुमने एक बार भी नहीं किया और जिन वस्तुओं (संसार के विषयों) से दूर भागने की शिक्षा दी उनकी ही तुमने सेवा की। यहाँ 'भजन' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) सेवा करना तथा (२) भागना। इन्हीं दोनों अर्थों की यहाँ सत्ता है। 'भज्यो' की आवृत्ति में भी यही अर्थभेद है। फलतः यह 'यमक' ही है।

(ग) वक्रोक्ति

कहे गये वाक्य का श्लेष से या काकु से और ही अर्थ कल्पित किया जाय, वहाँ 'वक्रोक्ति' होती है। वक्ता किसी एक अर्थ में वाक्य का प्रयोग करता है और श्रोता उसका दूसरा ही अर्थ लगाकर उत्तर देता है या कथन करता है वहाँ यह चमत्कारी अलंकार होता है। 'वक्रोक्ति' की यह सीमित कल्पना 'रुद्रट' ने की है। कुन्तक के हाथों यही 'वक्रोक्ति' एक व्यापक काव्य-तत्त्व की प्रतिनिधि वन जाती है। नीचे के पद्यांश में शिव तथा पार्वती का संवाद है। प्रथम पाद शिवजी की उक्ति है और द्वितीय पाद में पार्वती का कथन है जिसमें शिव के शब्दों के भिन्न अर्थ किये गये हैं—

गौरव शालिनी प्यारी हमारी, सदा तुमही इक इष्ट अहो।
हौं न गऊ, नहिं हौं अवशा, अलिनी हू नहीं, अस काहे कहो॥

पद्य का आशय यह है। शिवजी पार्वती जी से कह रहे हैं कि तुम हमारी गौरव-

शालिनी प्रियतमा हो। तुम मेरी इष्टदेवी हो। इन वचनों को सुनकर पार्वती 'गौरव-शालिनी' शब्द को तीन टुकड़ों में (गौः + अवशा + अलिनी) विभक्त कर उत्तर देती हैं—न मैं गऊ हूँ, न अवशा (वश रहित) हूँ, और न अलिनी हूँ। तव आप मुझे 'गौरव-शालिनी' क्यों कह रहे हैं। यहाँ स्पष्ट है कि वक्ता के द्वारा विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त शब्द को श्रोता मूलतः यह खण्ड करके उसे दूसरे अर्थ में समझता है और अपनी समझ के अनुसार उत्तर देता है। यही वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार है।

अर्थालंकार

अर्थालंकारों का विभाजन कुछ विशेष आधारों के ऊपर किया जाता है। इन आधारों को कतिपय वर्ग में हम बाँट सकते हैं—सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, शृंखलाबन्ध, तर्कन्याय-मूल, लोकन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल तथा गूढ़ार्थ प्रतीतिमूल। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत मुख्य मुख्य अलंकारों की विशिष्टता दिखलाने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है।

(१) सादृश्यगर्भ अलंकार

ये सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते हैं। किसी अज्ञात वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अनजान विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वर्ग के अलंकारों में मुख्य है—उपमा। कविता के उदय के साथ ही उपमा का उदय होता है। हम तो उस काव्य-युग की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें उपमा अपने चमत्कार का प्रदर्शन नहीं करती तथा जिसमें उपमा के द्वारा सौन्दर्य का विकास नहीं होता। भारतीय वाङ्मय में मन्त्रों में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता से पाठकों का मन मुग्ध करती है। जितनी सुन्दर उपमायें वहाँ दृष्टिगोचर होती हैं उतनी अन्यत्र नहीं। उपमा के लक्षण तथा दृष्टान्त निरुक्त में पाये जाते हैं। यास्क ने उपमा का वैज्ञानिक लक्षण ही नहीं दिया है, उसके पाँच प्रकारों का—कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा तथा अर्थोपमा—स्वरूप भी उदाहरणों के द्वारा समझाया है। व्याकरण शास्त्र में उपमा तथा उपमान का तद्धित, समासान्त प्रत्यय, समास के विधान तथा स्वर के ऊपर विशेष प्रभाव पड़ता है जिसका उल्लेख सूत्र तथा भाष्य में किया गया है। व्याकरण-सम्मत विवेचना का प्रभाव अलंकार शास्त्र के ऊपर भी विशेष रूप से पड़ा है।

उपमा का महत्त्व

कविता का तो प्राण ही उपमा है। अप्पयदीक्षित ने 'उपमा' की तुलना एक नटी (शैलूषी) के साथ की है। रंगमंच के ऊपर नटी नाना भेषभूषा से सज्जित होकर नाना रूपों में आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप में अवतीर्ण होती है, तो कभी शैव्या के रूप में।

कभी वह आनन्द से उल्लसित रहती है, तो कभी करुण-रसात्मक नाटक में शोक में तल्लीन रहती है। उसके बाहरी रूप को देखने पर वह अनेक रूपों की प्रतीति देती है, परन्तु उसके आवरण को हटाकर निरखने पर उसका एक ही रूप सर्वत्र अनुस्यूत दीख पड़ता है। ठीक यही दशा उपमा की भी है। वह काव्य के रंगमंच पर कभी रूपक, कभी दीपक, कभी तुल्ययोगिता, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरञ्जन करती है, परन्तु रहती है अन्तराल में, केवल एक ही रूप में।

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

—चित्र मीमांसा।

सादृश्य की ही कल्पना को तनिक विस्तृत रूप प्रदान करने से नये-नये अलंकारों का जन्म होता है।

उदाहरणों से इस सिद्धान्त को ध्यान में लाना चाहिए।

(१) चन्द्रमा के समान मुख है—उपमा (सादृश्य के कारण)।
(२) चन्द्रमा के समान मुख और मुख के समान चन्द्रमा—उपमेयोपमा।
(३) मुख मुख के समान—अनन्वय।
(४) मुख के समान चन्द्रमा (उपमान)—प्रतीप।
(५) चन्द्र को देखकर मैं मुख का स्मरण करता हूँ—स्मरण।
(६) मुख ही चन्द्रमा है—रूपक (अभेद)।
(७) मुखचन्द्र से ताप शान्त होता है—परिणाम।
(८) क्या यह मुख है अथवा चन्द्रमा है ?—सन्देह।
(९) यह चन्द्रमा ही है, मुख नहीं—अपह्नुति।
(१०) चकोरगण तुम्हारे मुख को चन्द्रमा समझकर उसकी ओर दौड़ते हैं—भ्रान्तिमान (मुख में चन्द्रमा का भ्रम)।
(११) तुम्हारे मुख में चकोर चन्द्रमा समझकर और भ्रमर कमल समझकर रमण करते हैं—उल्लेख (एक ही स्थल पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा विभिन्न कल्पना)।
(१२) मुख निश्चय ही चन्द्रमा है—उत्प्रेक्षा (उपमान की सम्भावना)।
(१३) यह चन्द्रमा है—अतिशयोक्ति (केवल उपमान की स्थिति)।
(१४) मुख के द्वारा चन्द्रमा और कमल जीते गए—तुल्ययोगिता।
(१५) रात में चन्द्रमा और तुम्हारा मुख दोनों प्रसन्न होते हैं—दीपक।

(१६) तुम्हारे मुख ही से मैं प्रसन्न हूँ और चन्द्रमा ही से चकोर प्रसन्न है—प्रतिवस्तूपमा।

(१७) आकाश में चन्द्रमा और पृथ्वी पर तुम्हारा मुख—दृष्टान्त।

(१८) मुख चन्द्र लक्ष्मी को धारण करता है—निदर्शना।

(१९) निष्कलंक मुख चन्द्रमा से बढ़ कर है—व्यक्तिरेक।

(२०) चन्द्रमा तुम्हारे मुख के साथ रात के समय प्रसन्न होता है—सहोक्ति।

ये समस्त अलंकार 'औपम्यगर्भ' हैं अर्थात् इनके भीतर सादृश्य की ही भावना प्रतिष्ठित है। उपमा से लेकर सहोक्ति तक बीसों अलंकारों के भीतर सादृश्य किस प्रकार रहता है यह उदाहरणमुखेन ऊपर दिखलाया गया है। इसी महत्ता के कारण अप्पयदीक्षित उपमा की तुलना ब्रह्म से करते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से यह चित्र विचित्र संसार ज्ञात हो जाता है, उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से समस्त अलंकार (चित्र) ज्ञात हो जाते हैं।

उपमा अलंकार में उपमान तथा उपमेय के बीच में भेद भी रहता है और कुछ-कुछ अभेद भी। उपमेय उस वस्तु को कहते हैं जिसकी तुलना अभीष्ट होती है और जिससे वह तुलना की जाती है वह 'उपमान' कहलाता है। 'मुखं चन्द्रः' में मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान। उपमा के भाव को लेकर नये-नये अलंकार उदित हुए। एक ओर भेद बढ़ने लगता है और दूसरी ओर अभेद। भेद बढ़ते-बढ़ते उस सीमा तक पहुँच जाता है जहाँ उपमान तथा उपमेय एकदम अलग हो जाते हैं। ऐसे स्थल के अलंकार का नाम है 'व्यतिरेक'। उधर उपमेय तथा उपमान का अभेद इतना बढता जाता है कि वे दोनों एक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति को 'रूपक' के नाम से पुकारते हैं। उपमालंकार में उपमेय हीन गुण वाला (गौण) होता है और उपमान अधिक गुण वाला (प्रधान) होता है परन्तु आगे चलकर इसमें विकास तथा वैचित्र्य आने लगता है। उपमेय का प्रधानत्व और उपमान का गौणत्व बढ़ने लगता है जिससे नये अलंकार जनमते हैं। अर्थात् उपमेय को इतनी प्रतिष्ठा दी जाती है कि उपमान का सर्वथा तिरस्कार ही कर दिया जाता है। इसे 'प्रतीप' के नाम से पुकारते हैं। इससे एक सीढ़ी और आगे बढ़ने पर उपमान का सर्वथा लोप ही होता है और उपमेय ही उपमान का भी कार्य करता है। यही 'अनन्वय' है। 'रूपक' में उपमेय तथा उपमान की स्थिति तुल्यबल के समान रहती है। मुख ही चन्द्रमा बन जाता है। मुख की अभिन्नता चन्द्रमा के साथ अवश्य हो जाती है, परन्तु स्थिति दोनों की रहती है। इससे और आगे बढ़ने पर उपमेय की गौणता बढ़ती जाती है। उपमान इतना प्रधान बन जाता है कि उपमेय को वह एकदम खा लेता है और वह इतना

महत्त्वशाली हो जाता है कि वह अकेले ही खड़ा रहकर उपमेय का भी कार्य करता है। इस दशा का नाम होता है रूपकातिशयोक्ति।

इस विकास को उदाहरणों से समझने की आवश्यकता है।

उपमा

उदय सूर सो भाल, सिन्दुर घसो गनेश को।
हरत विघन को जाल, जो जग व्यापक तिमिर सो॥

यहाँ भाल उपमेय, सूर (सूर्य) उपमान; उदय साधारण धर्म, 'सो' वाचक। अतः यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

व्यतिरेक

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक॥

यहाँ चन्द्र (उपमान) सीताजी के मुख (उपमेय) की समता पाने के सर्वथा अयोग्य ठहराया गया है।

रूपक

सम्पत्ति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आस्रम पींजरा, राखे भा भिनसार॥

यहाँ सम अभेद रूपक है। सम्पत्ति का चकई के साथ, भरत का चकवा के साथ, आश्रम का पिंजड़े के साथ अभेद किया गया है। अर्थात् इनमें आपस में भेद नहीं है।

प्रतीप

जँह राधा आनन उदित, निसि बासर आनन्द।
तहाँ कहा अरविंद है, कहा बापुरो चन्द॥

यहाँ राधा के मुख (उपमेय) के सामने अरविन्द तथा चन्द्रमा (उपमान) को व्यर्थ सिद्ध किया गया है। यहाँ उपमेय के सामने उपमान का सर्वथा तिरस्कार किया गया है। अतएव 'प्रतीप' हुआ।

अनन्वय

राम से राम, सिया सी सिया
सिरमौर विरंचि विचारि सँवारे॥

यहाँ उपमान का सर्वथा लोप है। उपमेय ही उपमान का भी कार्य कर रहा है। अभिप्राय यह है राम राम के समान हैं अर्थात् उनके समान जगत् में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं। 'सिया सी सिया' में भी वही अद्वितीयता का भाव है।

रूपकातिशयोक्ति

राम सीय-सिर सेन्दुर देहीं । उपमा कहि न सकत कवि केहीं ॥
अरुन पराग जलज भरि नीके । ससिहिं भूष अहि लोभ अमी के ॥

यहाँ श्री रामचन्द्र के द्वारा सीता के सिर सिन्दूर भरने का वर्णन है । कवि कहता है कि साँप कमल में लाल पराग भरकर अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित कर रहा है । यहाँ 'अहि' से तात्पर्य राम की 'भुजा' से, 'अरुन पराग' का सिन्दूर से, 'जलज' का राम के 'हाथ' से, 'शशी' (चन्द्रमा) का तात्पर्य सीताजी के 'मुख' से है ।

एक बात ध्यान देने की यह है कि अलंकारों में प्रथमतः भेद से पूर्ण अभेद की सिद्धि की ओर हम बढ़ते हैं । उपमा में स्पष्टतः भेद है । समानता होने पर मुख चन्द्रमा से भिन्न है ही । फलतः यह हुआ द्वैतवाद । रूपक में दोनों का अभेद होता है । 'मुख ही चन्द्रमा है'—यहाँ चन्द्रमा तथा मुख का अभेद है । यह बीच की स्थिति है जहाँ से होकर हम पूर्ण अद्वैत के लिए आगे बढ़ते हैं । अतिशयोक्ति का दृष्टान्त है—यह चन्द्रमा है । यहाँ उपमेय (मुख) का सर्वथा तिरस्कार कर उपमान (चन्द्रमा) की पूरी प्रतिष्ठा है । यही पक्का 'अद्वैतवाद' औपम्यगर्भ अलंकारों की अन्तिम कोटि में दृष्टिगोचर होता है । अन्य अलंकार उपमा और अतिशयोक्ति के बीच की स्थिति के सूचक होते हैं ।

(२) विरोध-गर्भ अलंकार

अलंकारों के विभाजन का दूसरा आधार **विरोध** है जो सादृश्य से ठीक विपरीत तत्त्व है । वास्तव विरोध तो कहीं भी अभीष्ट नहीं होता । विरोध होने पर अर्थ ही बाधित हो जाता है और काव्य की स्थिति ही नहीं जमती । फलतः यह विरोध आपाततः ही प्रतीयमान होता है । यह कई प्रकार से दृष्टिगोचर होता है—

(क) द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति में परस्पर भेद दिखा कर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है । यहाँ विरोध का आभास ही रहता है, वास्तविक नहीं । इसलिए इस स्थिति में होगा **विरोधाभास** अलंकार । जैसे "वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई" । यहाँ आँखों में लुनाई (नमकीनपना) को मीठा लगने की बात कही गई है । विरोध स्पष्ट है नमक को मिठाई कहने में, परन्तु यहाँ 'लुनाई' का दूसरा अर्थ है लावण्य (= सुन्दरता) । और इस प्रकार इसका परिहार हो जाता है । आँखों में मुख की सुन्दरता मीठी लगती है । सुन्दरता को मीठा लगना उचित ही है । अतः यहाँ विरोध का आभास है ।

(ख) कार्य तथा कारण का परस्पर विरोध । यह कई प्रकार से दृष्टिगोचर हो सकता है ।

(१) कारण कार्य से पहले होता है, परन्तु इस पूर्वापरभाव के विपर्यय करने पर, नियम के उलट जाने पर एक नवीन अलंकार होता है—कारणातिशयोक्ति। जैसे—

उठ्यौ संग गज कर कमल, चक्र चक्रधर हाथ।
कर ते चक्र सुनक्र सिर, धरते विलग्यौ साथ॥

यहाँ भगवान विष्णु के हाथ में चक्र के रखने से पहले ही ग्राह के सिर के कट जाने का वर्णन है। फलत. कार्य तथा कारण के बीच क्रम का अभाव है।

(२) कहीं कारण के अभाव में कार्य होता है—यह है **'विभावना'** नामक अलंकार। जैसे—

सुनत लखत श्रुति नैन बिनु, रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिन लहै, परसै बिना निकेत॥

यहाँ कान (कारण) के बिना सुनने (कार्य) तथा नैन (कारण) के बिना देखने का (कार्य) वर्णन होने से 'विभावना' है।

(३) कहीं कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य नहीं होता। उसे **विशेषोक्ति** कहते हैं।

त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाय।
सगुण सलोने रूप की, जु न चख तृखा बुझाय॥

बिहारी का कहना है कि राधा के सलोने रूप को हम ज्यों-ज्यों पीते हैं, त्यों-त्यों प्यासे ही रहते हैं। नेत्रों की प्यास बुझती ही नहीं। पीने से भी यहाँ तृप्ति नहीं होती है। प्यास बनी ही रहती है। कारण (पीना) के रहने पर भी कार्य (प्यास बुझने) का अभाव। अतः विशेषोक्ति अलंकार।

(४) कहीं कारण तथा कार्य के देश, काल में व्यवधान। नियमानुसार जिस देश में तथा काल में कारण होता है, वहीं और उसी समय कार्य भी होना चाहिए; इस नियम का उल्लंघन होने से **'असंगति'** अलंकार होता है। इसका सबसे रुचिर उदाहरण है बिहारी का यह दोहा—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

जहाँ कोई वस्तु उरझती है, वहीं टूटती है। जहाँ किसी को जोड़ते हैं, वहीं गाँठ पड़ती है। इस व्यापक अनुभव का यहाँ उल्लंघन है। राधा और कृष्ण के नेत्र उरझते हैं (परस्पर मिलते हैं); परन्तु टूटता है कुटुम्ब। चतुरों के चित्त में प्रीति जुटती है, परन्तु दुर्जनों के हृदय में गाँठ पड़ती है अर्थात् राधा-कृष्ण के परस्पर अनुराग को देखकर सयाने

लोगों का चित्त इस उचित सम्वन्ध से रीझता है, परन्तु दुष्टों के हृदय में विषाद उत्पन्न होता है। कार्य तथा कारण के देशकाल का पूर्ण विरोध होने से 'असंगति' अलंकार।

(५) कहीं कार्य तथा कारण के गुण और क्रिया में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। तव होता है 'विषमालंकार'।

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होय॥

कवि का कहना है कि भक्त का प्रेमी चित्त घनश्याम के काले रंग में ज्यों-ज्यों डूबता है, त्यों-त्यों वह सफेद होता जाता है। काले रंग में डूबने पर वस्तु काली हो जाती है, उजली नहीं। कारण तथा कार्य के गुणों में अन्तर होने से 'विषमालंकार'।

(ग) विरोध की इस तीसरी स्थिति में आधार तथा आधेय में किसी न किसी प्रकार का विरोध विद्यमान रहता है। कहीं तो छोटे आधार में वड़ा आधेय रहता है (अल्प) और कहीं वड़े आधार में रखने से आधेय की विशालता सूचित होती है और कहीं वड़े आधेय को छोटे आधार में रखते हैं। इन अन्तिम दोनों दशाओं में 'अधिक' अलंकार होता है।

अब जीवन की हे कपि आस न मोहि।
कनगुरिया की मुँदरी ककना होहि॥

जानकी जी हनुमान जी से कह रही हैं कि अब मुझे जीने की तनिक भी आशा नहीं है, क्योंकि छिगुनी का छल्ला (अत्यन्त छोटा छल्ला) मेरे हाथ में कंकण की तरह होता है। सीताजी इतनी दुवली हो गई हैं। छोटे आधार में वड़े आधेय की स्थिति होने से यह 'अल्प' अलंकार है।

जामें भारी भुवन सब गँवई से दरसात।
तेहि अखंड व्रहमंड में तेरो जस न अमात॥

सम्पूर्ण व्रह्माण्ड में नहीं अमाने से यश की विशालता का कीर्तन है। 'अधिक' अलंकार।

(३) शृंखलामूलक अलंकार

इन अलंकारों में एक वात से दूसरी वात, (एक कथन से दूसरा कथन), उसी प्रकार जुटती चली जाती है जिस प्रकार किसी जंजीर की कड़ियाँ एक दूसरे से जुटी हुई होती हैं। अव प्रश्न यह है कि एक कड़ी का लगाव दूसरी कड़ी के साथ किस प्रकार का होता है। यह लगाव भिन्न-भिन्न रूप से दीखता है और इसी में चमत्कार उत्पन्न होने से नये-नये अलंकार जनमते हैं। इस सम्वन्ध की ये भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हो सकती हैं—

(१) जब क्रम से पूर्व वस्तु के साथ उत्तर वस्तु विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध रखती है, तब 'एकावली' अलंकार होता है अर्थात् प्रथम वस्तु विशेष्य होती है और उसके बाद-वाली वस्तु उसका विशेषण होती है। जैसे—

सो नहिं सर जित सरसिज नाहीं।
सरसिज नहिं जेहि अलि न लुभाहीं।
अलि नहिं जो कल गुंजन हीना।
गुंजन नहिं जु मन न हरि लीना॥

पद्य का आशय है कि वह तलाव नहीं है जहाँ कमल नहीं खिले हों। वह कमल नहीं जिसकी ओर भौंरे नहीं लुभाते। वह भौंरा नहीं जो मीठा गुंजन नहीं करता और वह गुंजन भी व्यर्थ है जो मन को हर नहीं लेता। यहाँ सर, सरसिज, अलि तथा गुंजन में पूर्व वस्तु विशेष्य है और उसके ठीक उत्तर आने वाली वस्तु निषेध से उसके गुणों को बखानती है। अतः 'एकावली' अलंकार।

(२) क्रम से पूर्व वस्तु के साथ उत्तरोत्तर वस्तु का सम्बन्ध कारण-कार्य सा हो, तब 'कारणमाला' होता है। एकावली तथा कारणमाला का अन्तर स्पष्ट है। 'कारणमाला' में केवल कारण और कार्य की शृंखला बनाई जाती है। एकावली में सब ही वस्तुओं की शृंखला होती है।

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भागु।
मोह गये बिनु राम पद, होय न दृढ़ अनुरागु॥

यहाँ सतसंग, हरिकथा, मोह, अनुराग में क्रम से पूर्व कारण है और उसके बाद वाली वस्तुएँ कार्य हैं। अतएव कारणों का समूह होने से यहाँ 'कारणमाला' अलंकार है।

(३) जब क्रम से पूर्व वस्तु उपकार्य होती है तथा उत्तर वस्तु उपकारक होती है, तब होता है **मालादीपक**। अर्थात् पीछे आनेवाली चीजें अपने से पूर्व विद्यमान रहनेवाली वस्तुओं का उपकार करती हैं। महाकवि भूषण का यह पद्य देखिये—

मन कविभूषण को सिव की भगति जीत्यौ
सिव की भगति जीत्यौ साधुजन सेवा ने।
साधुजन जीते या कठिन कलिकाल, कलि-
काल महावीर महाराज महिमेवा ने।
जगत में जीते महाबीर महाराजन ते
महाराज बावन हूँ पातसाह लेवा ने।
पातसाहि बावनौ दिली के पातसाहि
दिल्लीपति पातसाहै जीत्यौ हिंदूपति सेवा ने॥

(५) जब पूर्ववस्तु हीन होती है और उत्तरवस्तु उससे बढ़कर होती है, अर्थात् अपकर्ष उत्कर्ष की स्थिति होने पर 'सार' अलंकार होता है।

मखमल ते कोमल महा कदलि-गरभ को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम तिहारे गात॥

हे राम, मखमल कोमल चीज होता है। उससे कोमल होता है केला के भीतर का पत्ता और उससे भी अधिक कोमल तुम्हारे गात हैं। यहाँ मखमल—केला-गर्भ का पात—राम के गात एक दूसरे से कोमलता में बढ़कर बतलाये गये हैं। इसलिए यहाँ 'सार' अलंकार हुआ।

(४) तर्कन्यायमूलक अलंकार

इस श्रेणी के अलंकार वे होते हैं जिसमें नैयायिक अनुमान का सहारा लिया जाता है। कारण दो प्रकार का होता है—एक होता है उत्पादक हेतु, जैसे पिता पुत्र का; दूसरा ज्ञापक हेतु होता है जैसे दीप के द्वारा घट का; कमरे में पहिले से रहनेवाले घड़े को दीप वहाँ आकर प्रकट कर देता है। अतः वह 'ज्ञापक' हेतु कहलाता है। जहाँ उत्पादक हेतु तथा उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य का कथन होता है वहाँ होता है 'अनुमान' अलंकार। ज्ञापक हेतु तथा कार्य के कथन होने पर 'काव्यलिंग' अलंकार होता है।

इस प्रकार ज्ञापक हेतु के द्वारा जहाँ अर्थ का समर्थन होता है वहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार होता है—

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥

कवि कहता है कि धतूरे की अपेक्षा सोने में सौ गुनी मादकता होती है। इस कथन के समर्थन में ज्ञापक हेतु है कि धतूरा खाने से मनुष्य बौराता है परन्तु सोना पाने से ही वह बौरा जाता है। यहाँ बौरा जाना मादकता का हेतु है। अर्थात् दोहे के पूर्वार्ध के लिए उत्तरार्ध हेतु का काम करता है। इसलिए यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास काव्यलिंग से भिन्न तथा स्वतन्त्र अलंकार है। यहाँ भी एक अर्थ का दूसरे अर्थ से समर्थन होता है परन्तु समर्थनीय और समर्थन वाक्यों में परस्पर सामान्य-विशेष सम्बन्ध बना रहता है। समर्थनीय वाक्य कभी सामान्य होता है तब उसका समर्थन विशेष वाक्य के द्वारा किया जाता है। कभी इससे विपरीत स्थिति होती है अर्थात् समर्थनीय वाक्य विशेष होता है और समर्थक वाक्य ही सामान्य होता है। काव्यलिंग में भी समर्थन होता है अवश्य परन्तु दोनों वाक्यों में सामान्य-विशेष से भिन्न प्रकार का सम्बन्ध होता है। यही दोनों का अन्तर है।

(क) सामान्य का समर्थन विशेष से—

जो छोड़त कुल आपनो ते पावत बहु खेद।
लखहु बंस तजि बाँसुरी लहै लोह को छेद॥

यहाँ पूर्वार्ध सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादक है कि जो व्यक्ति अपने कुल को छोड़ता है वह बहुत ही दुःख उठाता है। इसके समर्थन में बाँसुरी की दशा का वर्णन है कि वह अपने कुल अर्थात् बाँस को छोड़ देने पर लोहे के द्वारा छाती में छेदों को पाती है अर्थात् उसकी छाती में छेद किये जाते हैं। बाँसुरी एक विशिष्ट वस्तु ठहरी और इसीलिए समर्थक वाक्य विशेष है।

(ख) विशेष का समर्थन सामान्य से:—

कैसे फूले देखियत प्रात कमल के गोत।
'दास' मित्र उद्योत लखि, सबै प्रफुल्लित होत॥

'प्रातःकाल कमल के समूह फूले दीखते हैं'—समर्थनीय वाक्य विशेष रूप में है। इसके समर्थन में दास कवि का कहना है कि मित्र के उदय को देखकर सब कोई प्रसन्न होता है। यह वाक्य सामान्य ठहरा क्योंकि यह एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादक है। अतः यहाँ विशेष का सामान्य से समर्थन। अर्थान्तरन्यास वाले वाक्य सुन्दर सूक्ति के रूप में प्रसिद्ध होते हैं।

(५) वाक्यन्यायमूलक अलंकार

इस श्रेणी के अलंकारों में वाक्यों के संघटन और विधि-विधान के विचार से वस्तुओं के क्रम तथा परिवर्तन का वर्णन किया जाता है—

(१) कहीं पर क्रमपूर्वक कथित पदार्थों का अन्वय उसी क्रम से कथित वस्तुओं के साथ किया जाता है वहाँ 'यथासंख्य' अलंकार होता है। जैसे—

अमी हलाहल मद-भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

नायिका के नेत्रों में तीन रंग हैं सफेद, काला तथा लाल जो क्रम से अमृत, विष तथा मद जैसे प्रतीत होते हैं। जिसके ऊपर वह सुन्दरी ऐसे-ऐसे नेत्र से देखती है वह उसी क्रम से जीता है, मरता है तथा गिरता-पड़ता है। क्रमिक सम्बन्ध के कारण ही इनका चमत्कार है। आँख का सफेद रंग अमृत होने से जिलाता है, विषरूपी काला रंग मार डालता है तथा लाल रंग शराब होने के कारण मतवाला बना देता है जिससे वह व्यक्ति ऊँघता फिरता है।

(२) कहीं पर एक वस्तु को लेकर दूसरी वस्तु दी जाती है वहाँ अदला-बदली होने के कारण 'परिवृत्ति' अलंकार होता है।

(३) कहीं पर किसी वस्तु, धर्म, गुण अथवा जाति को अन्य सब उपयुक्त स्थानों से हटाकर किसी एक विशेष स्थान पर ठहराते हैं, तब 'परिसंख्या' अलंकार होता है—

दण्ड जतिन कर भेद जँह नर्तक नृत्य समाज।
जीतौ मनसिज सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥

राम के राज्य में दण्ड केवल संन्यासियों के हाथ में था, अन्यत्र दण्ड (सजा) नहीं था। भेद (भेद की नीति) कहीं नहीं था, केवल नर्तक समाज में सुर, ताल, राग का भेद (विलगाव) देखा जाता था। यहाँ वर्जन में ही तात्पर्य रहता है।

इसी प्रकार पर्याय, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय तथा समाधि अलंकारों का अन्तर्भाव सी वर्ग के भीतर किया जाता है।

(६) लोकन्यायमूलक अलंकार

जहाँ पदार्थों में अन्य पदार्थों से सम्पर्क होने से रूप आदि का परिवर्तन हो जाता है या उनके एकदम लीन होने का वर्णन होता है वहाँ इस श्रेणी के अलंकार होते हैं।

(१) जहाँ अधिक रंगवाली वस्तु के साथ आने से कोई वस्तु अपने रंग को छोड़कर दूसरे का रंग ले लेती है तब 'तद्गुण' अलंकार और (२) जब नहीं लेती तब अतद्गुण अलंकार होता है।

अधर धरत हरि के परत ओंठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रँग होति॥

भगवान् श्रीकृष्ण के होठों पर रखी हुई बाँसुरी ओठ, दृष्टि, पट की ज्योति पड़ने के कारण अपने असली हरे रंग को छोड़ देती है और इन्द्रधनुष के रंग को ले लेती है। अतः रंग के ग्रहण करने से 'तद्गुण' अलंकार हुआ।

लाल बाल अनुराग सो रँगत रोज सब अंग।
तऊ न छाड़त रावरो रूप साँवरो रंग॥

राधा अपने अनुराग से (लाल रंग से) कृष्ण के सब अंगों को रोज रँगती है, परन्तु कृष्ण का साँवला रूप अपने साँवले रंग को छोड़कर कभी लाल रंग नहीं बन जाता। अतः रंग के ग्रहण न करने से यह 'अतद्गुण' अलंकार है।

(३) कहीं दो चीजें एक ही रंग में ऐसी मिल जाती हैं कि उन दोनों में कोई भेद ही नहीं दीख पड़ता उसे 'मीलित' कहते हैं।

पान पीक अधरान में सखी लखी ना जाय।
कजरारी अँखियान में कजरा री न लखाय॥

यहाँ लाल होंठ में पान की लाल पीक मिलकर एक हो जाती है तथा कजरारी आँखों में लगाया गया भी काजर नहीं दीख पड़ता। दोनों का रंग ऐसा मिल गया है कि दोनों वस्तुयें अलग-अलग दिखलाई नहीं पड़तीं।

'तद्गुण' तथा 'मीलित' में कुछ साम्य आपाततः प्रतीत होता है, परन्तु दोनों में भिन्नता है। साम्य इतना ही है कि दोनों में वलवत्तर पदार्थ निर्बल पदार्थ को दबा देता है, परन्तु भेद यह है कि तद्गुण में एक वस्तु का गुण दूसरे वस्तु के गुण को छिपा देता है, परन्तु मीलित में स्वयं वस्तु ही (धर्मी ही) अपर वस्तु को (धर्मी को) तिरोहित करती है। 'तद्गुण' में तिरोहित करनेवाला धर्म पहिले से भिन्न होता है, परन्तु मीलित में दोनों धर्मी समान गुणवाले होते हैं।

इसी के अन्तर्गत प्रत्यनीक, सामान्य, उत्तर अलंकारों का भी समावेश किया जाता है।

(७) गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकार

अलंकारों के वर्गीकरण का अन्तिम आधार है—गूढ़ार्थ प्रतीति अर्थात् किसी छिपे हुए अर्थ को प्रकट या संकेत करना। यह नाना प्रकार से दिखाई पड़ती है जिससे अनेक अलंकारों का समावेश यहाँ होता है—

(१) कहीं दूसरे का किया हुआ कोई सूक्ष्म कृत्य, संकेत, या चेष्टा देखकर कोई व्यक्ति इशारे से ही उसका उत्तर देता है या समाधान करता है, वहाँ 'सूक्ष्म' अलंकार होता है—

विनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसकानी॥

यहाँ विनय से भवानीजी सीताजी के मन का अभिप्राय समझ गईं और मुसकाकर अपना तात्पर्य भी वता दिया। संकेत से संकेतित अर्थ का प्रकटीकरण होने से 'सूक्ष्म'।

(२) कहीं एक के आकार से उसका छिपा हुआ वृत्तान्त समझ लेना और ऐसी क्रिया करना जिससे छिपे वृत्तान्त के जानने का संकेत हो जाय, वहाँ 'पिहित' अलंकार होता है।

जल को गए लक्खन हैं लरिका, परखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयार करौं अरु पाँय पखारि हौं भूभुरि डाढ़े॥
'तुलसी' रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब सों कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लखै पुलकी तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥

सीताजी वनगमन के समय थक गई हैं। लखनजी को पानी लाने भेजा है। तब तक

ठहरने के लिए राम से अनुरोध करती हैं। सीता ने अपनी थकावट को छिपा रखा। राम समझ गये और एक पेड़ के नीचे बैठकर बहुत देर तक अपने पैर से काँटे निकालते रहे। स्पष्ट ही 'पिहित' अलंकार है। प्रथम तीन ही चरण पर्याप्त हैं। अन्तिम चरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३) कहीं दूसरे के प्रति उद्देश्य कर कोई वचन कहना जिससे वह सुन ले और समझ ले, वहाँ 'गूढ़ोक्ति' अलंकार होता है। 'अनीस' कवि का यह प्रख्यात कवित्त गूढ़ोक्ति का सुन्दर दृष्टान्त है—

सुनिए विटप! हम पुहुप तिहारे अहैं,
राखिहौ हमैं तो सोभा रावरी बढ़ावेंगे।
तजिहौ हरषि कै तो विलग न मानें कछू,
जहाँ जहाँ जैहैं तहाँ दूनो जस पावेंगे।
सुरन चढ़ेंगे नर-सिरन चढ़ेंगे वर
सुकवि 'अनीस' हाथ हाथन बिकावेंगे।
देस में रहैगे परदेस में रहैंगे
काहू भेस में रहैंगे तऊ रावरे कहावेंगे॥

कवि यहाँ वृक्ष से कोई उक्ति कह रहा है, पर उसका अभिप्राय किसी धनी मानी प्रभु से है जो इस उक्ति को सुनता है और समझता है। यही गूढ़ोक्ति है।

इसी वर्ग के भीतर स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त तथा सूक्ष्म आदि अलंकारों का समावेश माना जाता है। अन्य अलंकारों का भी समावेश इन्हीं वर्गों के भीतर कहीं न कहीं किया जा सकता है। विस्तारभय से यहाँ उन सबकी चर्चा नहीं की जा रही है। भिन्न भिन्न अलंकारों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। पूर्वोक्त वर्गीकरण रुय्यक ने अपने 'अलंकार सर्वस्व' में किया है। यह वर्गीकरण विशेष व्यापक तथा हृदयावर्जक है और इसीलिए यह प्रायः सर्वत्र स्वीकृत तथा आदृत किया गया है।

१३

ध्वनि सिद्धान्त

काशी में गंगा के तीर पर एक पाठशाला है। छात्रगण बड़े प्रेम तथा मनोयोग से वैदिकमंत्रों का अध्ययन कर रहे हैं। कभी मन्त्रों का सस्वर पाठ कर रहे हैं और कभी उन मन्त्रों की व्याख्या में प्रवृत्त हो रहे हैं। दिन ढल गया है। सन्ध्या की लालिमा प्राची क्षितिज को अपने सुनहले रंग से रँग चुकी है। इतने में गुरुजी ने गम्भीर स्वर में कहना आरम्भ किया—गतोऽस्तम् अर्कः (=सूरज डूब गया)। इस वाक्य को सुनते ही छात्रगण पढ़ना बन्द कर देते हैं और अपना कुशासन तथा पंचपात्र लेकर सन्ध्या-वंदन के निमित्त गंगा के किनारे चले जाते हैं और सायं-सन्ध्या में निमग्न हो जाते हैं। उसी समय काशी के चौक में चलिये और वहाँ के दृश्य पर दृष्टिपात कीजिए। एक बड़ी ही ऊँची सजी हुई दुकान है जिसमें नाना प्रकार की रंग-बिरंगी रेशमी साड़ियाँ बिक्री के लिए लटकायी गयी हैं। ज्योंही सन्ध्याकाल का भान होता है, त्योंही दुकान का मालिक आदेश-भरे शब्दों में पुकार उठता है—गतोऽस्तमर्कः (=सूरज डब गया)। इस वाक्य को सुनते ही नौकर लोग सचेत हो जाते हैं और बटन दबाकर बिजली की बत्तियाँ जलाने लगते हैं। सजी दुकान बिजली की रोशनी से जगमगा उठती है। एक तीसरा दृश्य है काशी के पास ही एक गाँव का। अहीरों के लड़के अपनी मस्ती में चरागाह में गायों को चरा रहे हैं। इतने में सन्ध्या-कालीन आकाश में लालिमा छा जाती है और उनमें एक वयस्क बालक पुकारता है—सूरज डूब गइल। कानों पर इस वाक्य के पड़ते ही सब बालक अपनी गायों को इकट्ठा करने लगते हैं और उन्हें बटोर कर वे गीत गाते हुए घर की ओर चल देते हैं।

अब प्रश्न यह है कि तीन प्रसंगों में एक ही वाक्य का उच्चारण किया जाता है और तीनों स्थानों पर वह तीन भिन्न भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति करता है—(क) पाठशाला के छात्रों के लिए 'गतोऽस्तमर्कः' का अर्थ अध्ययन समाप्त कर सन्ध्या-वन्दन के लिए आदेश है; (ख) दूकान के नौकरों के लिए दूकान सजाने, बिजली जलाने तथा तैयार रहने की आज्ञा है तथा (ग) ग्वाल-बालकों के लिए गायों को इकट्ठा कर उन्हें घर ले चलने की सलाह है। एक ही वाक्य के तीन अर्थ हो रहे हैं और स्पष्टतः ये तीनों अर्थ स्थान की विभिन्नता तथा वक्ता और बोधव्य के भेद के कारण हैं। परन्तु विचारणीय बात यह

है कि "सूरज डूब गया" इस तीन पदों के वाक्य में इतने अर्थों की गुंजाइश कहाँ है ? इनमें से किसी पद का अर्थ पूर्वोक्त अर्थों से मेल नहीं खाता। इसका उत्तर यही है कि सूरज के डूब जाने का अर्थ तो सामान्यतः वाच्य अर्थ है परन्तु सन्दर्भ-विशेष से निकलने वाले ये तीनों अर्थ प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ कहलाते हैं। कानों से जितना सुनाई पड़ता है उतना ही अनेक वाक्यों का अर्थ नहीं होता, प्रत्युत उससे भिन्न तथा गम्भीर अर्थ की अभिव्यक्ति अवस्था तथा कारण विशेष से उसी वाक्य से होती है। इस द्वितीय अर्थ को हम प्रतीयमान अर्थ मानते हैं और उसे प्रकट करने वाले वाक्य को 'ध्वनि काव्य' की संज्ञा देते हैं।

ध्वनि शब्द का अर्थ

आलंकारिक लोग 'ध्वनि' नाम के लिए वैयाकरणों के ऋणी हैं। व्याकरण शास्त्र में ध्वनि का एक विशिष्ट अर्थ होता है और उसी अर्थ की समता के कारण इस शब्द का व्यापक व्यवहार अलंकार-शास्त्र में किया गया है। उच्चरित शब्द को 'ध्वनि' कहते हैं। पानी लाने का इच्छुक व्यक्ति कहता है—घटम् आनय (घड़ा लाओ)। यहाँ जिस घट शब्द का हम उच्चारण करते हैं वह 'ध्वनि' कहलाता है। ध्वनि की सत्ता क्षणिक होती है। वह एक क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में वह अवसर ही नहीं आता जब वर्णों का समुच्चय हो और वे मिलकर सामूहिक रूप से किसी अर्थ की द्योतना करें।

उदाहरणार्थ 'घट' शब्द पर दृष्टिपात कीजिये। इस शब्द का प्रथम अक्षर 'घ' जब हमें सुनाई पड़ता है तब 'ट' वर्ण भविष्य के गर्भ में ही छिपा रहता है। उधर 'ट' के श्रवण होने के समय 'घ' उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में विलीन हुआ रहता है। इस प्रकार वह समय ही नहीं आता जब 'घ' और 'ट' समुच्चरित होकर एक साथ मिलकर—किसी अर्थ का प्रकाश करें। इस त्रुटि को दूर करने के लिए वैयाकरणों ने एक नित्य शब्द की कल्पना की है जो सदा विद्यमान रहता है और जो ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसी नित्य शब्द से अर्थ फूटता है और इसी का नाम स्फोट है ('स्फुटति अर्थः अस्माद् इति स्फोटः)। इसके लिए अनित्य ध्वनि का काम इतना ही है कि वह स्फोट की अभिव्यक्तिमात्र कर देती है। इस प्रकार ध्वनि से अर्थ की उत्पत्ति न होने पर भी 'स्फोट' के प्रकट करने के लिए उसकी महती आवश्यकता होती है। इस रीति से 'ध्वनि' का स्वरूप हुआ अभिव्यञ्जक शब्द।

आलंकारिकों ने इसी ध्वनि शब्द को ग्रहण कर अपने शास्त्र में प्रयुक्त किया परन्तु उन्होंने उसके अर्थ को विस्तृत कर दिया। जहाँ 'ध्वनि' मूलतः अभिव्यञ्जक शब्द के ही लिए सीमित थी वहाँ अब वह अभिव्यञ्जक अर्थ के लिए भी प्रयुक्त की जाने लगी।

इस प्रकार अलंकारशास्त्र में 'ध्वनि' शब्द केवल अभिव्यञ्जक शब्द के ही लिए प्रयुक्त नहीं होता प्रत्युत अभिव्यञ्जक अर्थ के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार 'ध्वनि' शब्द के लिए साहित्यशास्त्र व्याकरणशास्त्र का सर्वथा ऋणी है।

ध्वनि का महत्त्व

ध्वनि का उपयोग काव्य की सृष्टि में बहुत ही अधिक है। ध्वनि की सत्ता बहुत ही प्राचीन है। यह उतनी ही प्राचीन है जितनी काव्य कला। ध्वनि का आश्रय लेने से कवियों की प्रतिभा अनन्त रूप में विकसित होती है। प्राचीन अर्थ को ग्रहण कर लिखी गयी कविता ध्वनि से संपन्न होने पर नवीन चमत्कार उत्पन्न करती है। काव्य में कथनप्रकार का ही विशेष महत्त्व रहता है। वर्णनीय वस्तु की एकता होने पर भी यदि उसके वर्णनप्रकार में विभिन्नता तथा नवीनता है तब वह वस्तु हमारे लिए नवीन तथा चमत्कार युक्त प्रतीत होती है। वाटिका के वृक्षों में मूलतः किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है। वे ही पुराने वृक्ष होते हैं, परन्तु वसन्त ऋतु के प्रादुर्भाव से वृक्षों में अपूर्वता दीखने लगती है। ध्वनि से युक्त काव्य की भी यही दशा है। अर्थ की प्राचीनता होने पर भी ध्वनि का संयोग उसमें नवीन जीवन फूंक देता है तथा नयी शक्ति प्रदान करता है। ध्वनि के कारण अर्थों में अपूर्वता तथा नवीनता अवश्यमेव आ जाती है। एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण नया तथा अपूर्व जान पड़ता है। इसलिए कवि लोग ध्वनि का आश्रय लिया करते हैं।

आनन्दवर्धन ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वे ही रूखे-सूखे पेड़ हैं; वही वृक्षों से रहित शाखायें हैं; वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं सब कुछ पुराना है; परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति में नवीन परिवर्तन हो जाता है। वृक्षों में नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं; शाखायें हरी-भरी सी दिखाई देती हैं। मञ्जरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है। वृक्षों में यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने। उसी भाँति कवि भी रस के द्वारा चमत्कार पैदा कर पुराने भावों में नवीनता भर देता है। कहीं शब्द को बदल देता है तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है। बस भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। ध्वनि का यही चमत्कारी फल होता है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥

(ध्वन्यालोक)

ध्वनि के विषय में प्राचीन मत

ध्वनि का शास्त्रीय मीमांसा करने का श्रेय आनन्दवर्धनाचार्य को है। उनके द्वारा

प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर हम कह सकते हैं कि ध्वनि के विषय में प्राचीन काल में तीन विशिष्ट मत थे:—

(१) अभाववादी
(२) भक्तिवादी
(३) अनिर्वचनीयत्ववादी

(१) अभाववादी का मत

अभाववादी आचार्यों के मत में ध्वनि की सत्ता मान्य नहीं है परन्तु विभिन्न आचार्यों ने इस अभाव को सिद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न युक्तियाँ दी हैं और इस मत में अनेक अवान्तर भेद हैं। इसीलिए अभाववादी आचार्यों के भी तीन अवान्तर पक्ष हैं—

(क) प्रथम पक्ष का कहना है कि काव्य के गुणाधायक पदार्थों का विवेचन प्राचीन अलंकार ग्रन्थों में किया गया है। शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है। शब्द अर्थ की चारुता दो प्रकार से होती है। (१) स्वरूप मात्र से रहने वाली तथा (२) संघटना में रहने वाली। शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालंकार के द्वारा होती है और संघटनाश्रित चारुता शब्द-गुणों के द्वारा होती है। इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता उपमा आदि अलंकारों के द्वारा होती है और संघटनाश्रित चारुता अर्थगुणों के द्वारा होती है। वृत्तियों तथा रीतियों के द्वारा भी काव्य में चारुता उत्पन्न होती है परन्तु ये वृत्तियाँ और रीतियाँ भी गुणालंकार से भिन्न नहीं होतीं। वृत्ति-अनुप्रास का ही भेद मानी गई है। वृत्तियाँ तीन होती हैं—(१) परुषा, (२) उपनागरिका, (३) कोमला। ये तीनों ही अनुप्रास के ही प्रकार हैं। इसी प्रकार गौडी, वैदर्भी तथा पांचाली नामक रीतियाँ भी माधुर्य आदि गुणों की ही समुदायरूप हैं। ऐसी दशा में वृत्ति और रीति गुण और अलंकार से भिन्न नहीं हैं। ये ही काव्य में चमत्कार उत्पादक तत्त्व हैं। तब ध्वनि नामक पदार्थ को काव्य में चारुता उत्पन्न करने का साधन मानना अनुचित है। अतः ध्वनि नामक पदार्थ वस्तुतः असत्य है।

(ख) अभाववादी का दूसरा पक्ष **प्रस्थानवादी** कहा जा सकता है। यदि कोई कहे कि ध्वनि शब्द अर्थ का स्वभाव भले न हो और यह शब्द अर्थ की चारुता का कारण भी न हो प्रत्युत गुण और अलंकार से अतिरिक्त ही ध्वनि की सत्ता सिद्ध होती है तो इस पक्ष का कथन इस प्रकार होगा। काव्य सहृदयों के हृदय को आनन्दित करनेवाले शब्द और अर्थ के युगल रूप से ही निर्मित होता है। काव्य की एक निश्चित परम्परा है। सकल सहृदयों के द्वारा निर्दिष्ट गुण और अलंकारों से समन्वित 'काव्य' ही काव्य का अधिकारी होता है। ध्वनि के विषय में इस प्रकार का कोई भी सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। कतिपय

सहृदयों का यह मनोरंजन भले ही करता रहे, परन्तु समग्र विद्वज्जनों के हृदय को यह आकृष्ट नहीं कर सकता। अतः ध्वनि की सत्ता इस दृष्टि से भी असिद्ध है।

(ग) अभाववादी का यह तृतीय पक्ष **अन्तर्भाववादी** के नाम से पुकारा जा सकता है। इस मत का सिद्धान्त है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व पदार्थ की सम्भावना ही नहीं हो सकती। ध्वनि स्वतः काव्य में चारुता उत्पन्न करने का कारण है। ऐसी दशा में काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले जितने साधन माने जाते हैं उन्हीं के भीतर कहीं इसका अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार ध्वनि कोई विलक्षण वस्तु नहीं ठहरती, बल्कि किसी विशिष्ट चारुताधायक साधन का यह एक नवीन नामकरण है। शब्द और अर्थ की विचित्रता का क्या कहीं कोई अन्त है। अलंकारों को ही लीजिये। भरत-मुनि ने केवल चार ही अलंकारों का वर्गीकरण किया है। परन्तु पिछले आलंकारिकों ने नयी-नयी विचित्रताओं की कल्पना करके उन्हीं चार अलंकारों को बढ़ाते-बढ़ाते अलंकारों की संख्या एक सौ से ऊपर पहुँचा दी है। गुण और रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति आदि काव्य-तत्त्वों का विवेचन एक ही युग की घटना नहीं है। यह कोई भी आलोचक नहीं कह सकता कि शब्द और अर्थ की विचित्रताओं की संख्या केवल इतनी ही है और इतने से अधिक नहीं हो सकती। फलतः इन्हीं विचित्रताओं में से एक विचित्रता का नाम ध्वनि है। अतः ध्वनि की सत्ता को स्वतन्त्र रूप से मानना कथमपि सिद्ध नहीं होता। उसकी स्थिति तो गुण और अलंकारों के भीतर ही कहीं सिद्ध की जा सकती है। अन्तर्भाववादियों का यही संक्षिप्त सिद्धान्त है।

इन तीनों अवान्तर मतों में भी सूक्ष्म भेद है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'ध्वनि' नामक कोई तत्त्व होता ही नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार भी 'ध्वनि' काव्य विद्यमान नहीं होता। क्योंकि यह सर्वसम्मत काव्यतत्त्व नहीं है। कतिपय आलोचक ही इसकी सत्ता में विश्वास करते हैं, परन्तु सब आलोचकों की सम्मति इसके पक्ष में नहीं है। तृतीय पक्ष में ध्वनि मान्य तो है, परन्तु एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में नहीं। गुण, अलंकार आदि सर्वसम्मत काव्यतत्त्वों के भीतर ही इसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। इन तीनों पक्षों को हम क्रमशः अभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी का नाम दे सकते हैं।

(२) भक्तिवादी आचार्यों का मत

'भक्ति' शब्द का अर्थ है लक्षणा। भक्ति के इस नवीन अर्थ के लिए अनेक कारण कल्पित किये जा सकते हैं। भक्ति का एक अर्थ है भंग यानी तोड़ना। अतः मुख्य अर्थ को तोड़कर जहाँ नवीन अर्थ की कल्पना की जा सकती है, ऐसे स्थल (लक्षणा को) को, शक्ति शब्द के द्वारा अभिहित करना न्यायसंगत है। भक्ति का दूसरा अर्थ है श्रद्धा का अतिशय। किसी विशेष प्रयोजन में श्रद्धा होने पर ही लक्षणा की जाती है जिसका नाम

प्रयोजनवती लक्षणा होता है। इस लक्षणा की सूचना भक्ति के इस द्वितीय अर्थ के द्वारा भली भाँति दी जाती है। भक्ति का एक तीसरा अर्थ है सेवा अर्थात् पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाला नवीन अर्थ। इन तीनों अर्थों को संकेतित करने के कारण भक्ति शब्द का अर्थ साहित्यशास्त्र में लक्षणा किया जाता है।

इस पक्षवाले आचार्यों का मत है कि प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के भीतर नहीं किया है। परन्तु उन्होंने शब्दों की दो प्रकार की वृत्ति स्वीकार की है—एक का नाम है मुख्य वृत्ति और दूसरी का नाम है गुण वृत्ति। इसी गुण-वृत्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव ये आचार्य मानते हैं।

(३) अनिर्वचनीयत्ववादी मत

अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों के मत में ध्वनि का तत्त्व वाणी के द्वारा किसी प्रकार प्रकाशित नहीं किया जा सकता। यह केवल स्वतः अनुभूति का ही विषय होता है। इस मत में ध्वनि की सत्ता अवश्य है। परन्तु इसकी पूरी मीमांसा शब्दों के द्वारा कथमपि नहीं की जा सकती।

इन तीनों मतों की समीक्षा करने से हम कह सकते हैं कि अभाववादी सब प्रकार से भ्रान्त हैं। वे ध्वनि के मौलिक रूप से सर्वथा अपरिचित हैं। वे प्रस्थानवादी होने के कारण प्राचीन लकीर से एक पग भी आगे बढ़ना नहीं चाहते और इस प्रकार काव्य में किसी भी नवीन तत्त्व के आविर्भाव तथा समावेश के नितान्त विरोधी हैं। भक्तिवादी उसके रूप से अवश्य परिचित हैं। वे जानते हैं कि ध्वनि वाच्य से भिन्न कोई नवीन पदार्थ अवश्य है परन्तु संदिग्ध होने के कारण वे उसके रूप को वस्तुतः छिपाते हैं। अन्तिम मत वाले भी आचार्य ध्वनि के स्वरूप का परिचय तो रखते हैं परन्तु उसकी व्याख्या तथा मीमांसा के विरोधी हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अभाववाद में मिथ्या ज्ञान है, भक्तिवाद में सन्देह की प्रबलता है और अनिर्वचनीयतावाद में अज्ञान का प्राधान्य है।

ध्वनि विरोध की समीक्षा

इन मतों की समीक्षा कर आनन्दवर्धन और उनके अनुयायी आचार्यों ने सिद्ध किया है कि ध्वनि का न तो अभाव है, न तो वह लक्षणा के ही अन्तर्गत है, और न उसका स्वरूप ही विवेचना से बाहर है, प्रत्युत वह एक स्वतंत्र पदार्थ है जिसके रूप तथा भेदों का विवरण विशद रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है।

वाच्य और व्यंग्य भेद

किसी शब्द के मुख्य अर्थ को वाच्य अर्थ कहते हैं जैसे गंगा का मुख्य अर्थ है एक जल

की धारा। व्यंग्य अर्थ भी एक स्वतंत्र अर्थ है और वह वाच्य अर्थ से एकदम भिन्न तथा अलग ही होता है। व्यंग्य अर्थ वाच्य से आठ प्रकार के भेदों के कारण नितान्त पृथक् माना जाता है। इस प्राचीन कारिका में इन भेदों का निर्देश एक साथ बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है।

बोद्धृ स्वरूप संख्या निमित्त कार्य प्रतीतिकालानाम्।
आश्रय विषयादीनां भेदात् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥

(१) बोद्धा—अर्थ को समझनेवाला प्राणी। वाच्य अर्थ का ज्ञान तो व्याकरण और कोष जाननेवाले प्रत्येक पुरुष को हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ का ज्ञान तो केवल उन्हीं व्यक्तियों को होता है जो काव्य के मर्मज्ञ तथा रसिक (सहृदय) होते हैं।

(२) स्वरूप—वाच्य अर्थ कहीं पर विधि के रूप में रहता है तो प्रतीयमान अर्थ निषेध रूप में। कहीं वाच्य अर्थ निन्दा प्रकट करता है तो व्यंग्य अर्थ स्तुतिबोधक होता है। कहीं मुख्य अर्थ निषेध प्रकट करता है तो प्रतीयमान अर्थ उसी पद्य में एक ही जगह विधि का बोध कराता है। इस प्रकार दोनों में स्वरूप का भेद नितान्त स्पष्ट है।

(३) संख्या—वाच्य अर्थ सदा प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही होता है। धेनु शब्द का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति एक ही रूप से ग्रहण करता है, परन्तु प्रकरण, वक्ता, देश काल आदि की भिन्नता होने के कारण प्रतीयमान अर्थ अनेक होता है। इस परिच्छेद के आरम्भ में ही दिखलाया गया है कि सूरज डूब गया—इस वाक्य का मुख्य अर्थ एक ही होता है, परन्तु उसका प्रतीयमान अर्थ सन्दर्भ की विशिष्टता के कारण भिन्न-भिन्न अनेक हुआ करता है।

(४) निमित्त का अर्थ है कारण। वाच्य अर्थ की उत्पत्ति का कारण तो व्याकरण, कोष आदि साधन हैं, परन्तु व्यंग्य अर्थ प्रकरण, देश, काल, वक्ता तथा बोधक आदि के ज्ञान के साथ ही साथ प्रतिभा की निर्मलता की अपेक्षा रखता है।

(५) कार्य—दोनों से उत्पन्न कार्य भिन्न ही होता है। वाच्यार्थ का कार्य होता है केवल अर्थ की प्रतीति अथवा ज्ञान; परन्तु व्यंग्यार्थ का कार्य सहृदयों की चमत्कृति है अर्थात् व्यंग्यार्थ के ज्ञान से सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न होता है।

(६) प्रतीतिकाल—दोनों की प्रतीति का काल एक समान नहीं रहता। शब्द के सुनते ही व्युत्पन्न पुरुष को वाच्य अर्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है परन्तु व्यंग्य अर्थ के लिए प्रकरण आदि की सहायता आवश्यक होती है और इसीलिए इसकी प्रतीति विलम्ब से ही होती है, तुरन्त नहीं। सारांश यह है कि वाच्यार्थ की प्रतीति पूर्व में होती है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति पीछे होती है। अतः इस काल भेद से भी दोनों में भिन्नता होती है।

(७) आश्रय—(आधार) वाच्यार्थ का आधार केवल शब्द ही होता है। परन्तु व्यंग्य अर्थ का आधार शब्द में, उसके एक देश में, शब्द के अर्थ में, वर्ण में और वर्ण की संघटना में होता है।

(८) विषय—जिस व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर अर्थ प्रवृत्त होता है वह उसका 'विषय' कहलाता है। अर्थ का लक्ष्य कोई न कोई व्यक्ति ही होता है जिसे उस अर्थ का ज्ञान कराना हम चाहते हैं। यह 'विषय' भी दोनों अर्थों में भिन्न-भिन्न होता है। वाच्य अर्थ एक ही व्यक्ति के लिए अभीष्ट होता है, परन्तु व्यंग्य अर्थ का विषय उससे भिन्न अनेक व्यक्ति हो सकते हैं।

इस प्रकार बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि प्रतीयमान अर्थ एक स्वतन्त्र वस्तु है जो वाच्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है। साहित्य शास्त्र में उपमा, अनुप्रास आदि अलंकार वाच्य-वाचक के ऊपर आश्रित रहते हैं, परन्तु ध्वनि व्यंग्य-व्यञ्जक के ऊपर। दोनों अर्थ भिन्न होते ही हैं। इसलिए ध्वनि का विषय अनुप्रास आदि से नितान्त भिन्न है।

प्रस्थानवादी का यह आक्षेप करना कि ध्वनि समग्र सहृदयों द्वारा ग्राह्य तथा उल्लिखित नहीं है कथमपि ठीक नहीं है। लक्षण-ग्रन्थ बनानेवाले आचार्यों में इसकी प्रसिद्धि भले न हो, परन्तु परीक्षा करने पर ध्वनि ही काव्य में उत्तम तत्त्व प्रतीत होता है। ध्वनि से विरहित काव्य तो साधारण काव्य होता है और 'चित्र काव्य' के नाम से पुकारा जाता है। संस्कृत भाषा के आदि कवि महर्षि वाल्मीकि की प्रथम कविता (मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः) रसमयी अतएव ध्वनिमयी थी। कालिदास तथा भारवि आदि प्राचीन कवियों के काव्यों में ध्वनि के उदाहरण प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं।

अन्तर्भाववादी का मत भी समीचीन नहीं है। वह ध्वनि को अलंकार के भीतर अन्तर्भाव मानकर ध्वनि की सत्ता ही नहीं मानता। किसी भी वस्तु का अन्तर्भाव तत्समान वस्तु में ही होता है। व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध के ऊपर आश्रित होनेवाली ध्वनि का अन्तर्भाव गुण या अलंकार के भीतर कैसे माना जा सकता है जब वे वाच्यवाचक सम्बन्ध के ऊपर ही आश्रित रहते हैं। कतिपय अलंकारों में, जैसे समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि में, द्वितीय अर्थ जरूर विद्यमान रहता है, परन्तु इससे क्या लाभ ? ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलंकारों में भी नहीं हो सकता; ऐसे स्थानों पर प्राधान्य का विचार करना पड़ता है कि कौन वस्तु प्रधान है ? वाच्य अर्थ या व्यंग्य अर्थ ? इन अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की तो बस एक झलक—मात्र होती है, पर्यवसान तो इनका वाच्यार्थ में ही होता है। एक बात और भी विचारणीय है। ध्वनि काव्य का अंगी होता है और अलंकार गुण आदि अंग होते हैं। अंग का अन्तर्भाव (भीतर समावेश कर देना) अंगी के भीतर तो नियमतः हो सकता है, परन्तु अंगी (ध्वनि) का अन्तर्भाव अंग (अलंकार आदि) के भीतर कैसे हो सकता है ?

स्पष्ट बात यह है कि ध्वनि का क्षेत्र बड़ा ही विशाल तथा विस्तृत है और उधर अलंकार आदि का क्षेत्र सीमित तथा संकीर्ण है। ऐसी दशा में अन्तर्भाव बनता नहीं और इसलिए मानना पड़ेगा कि अभाववादी का कोई भी पक्ष समीचीन नहीं है। इसलिए ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानना नितान्त उचित है।

लक्ष्यार्थ और ध्वनि

लक्ष्यार्थ से भी ध्वनि भिन्न ही होती है। इसे सिद्ध करनेवाली अनेक युक्तियों में से अन्यतम युक्ति यह है कि लक्षणा मुख्य अर्थ के साथ नियत रूप से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ को ही प्रकट करती है, परन्तु व्यंग्यार्थ की यह दशा नहीं है। उसे हम नियत सम्बन्ध के द्वारा बाँध नहीं सकते। वह कभी मुख्य अर्थ से, अनियत सम्बन्ध भी रखता है और कभी-कभी परम्परया सम्बद्ध अर्थ को भी प्रकट करता है। इसलिए ध्वनि की सत्ता स्वतन्त्र है।

'लक्षणा' के तीन हेतु होते हैं। पहिला हेतु है—मुख्य अर्थ का बाधित होना (मुख्यार्थ बाध)। मुख्य अर्थ का जहाँ वाक्य में यथार्थतः अन्वय नहीं जमता, वहीं लक्षणा होती है। दूसरा हेतु है—तद्योग अर्थात् मुख्य अर्थ के साथ अमुख्य अर्थ का सम्बन्ध। लक्षणा के द्वारा वहीं अर्थ द्योतित किया जाता है जो वाच्य अर्थ के साथ सम्बद्ध होता है, असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा कथमपि नहीं होती। तीसरा हेतु है—रूढ़ि अथवा प्रयोजन की सत्ता। रूढ़ि या प्रयोजन की सत्ता होने पर ही 'लक्षणा' होती है। उदाहरण से समझिये। 'वह व्यक्ति कर्म में कुशल है'—इस वाक्य में कुशल का अन्वय कर्म के साथ उचित रीति से नहीं जमता। 'कुशल' का मुख्य अर्थ है—कुश का लानेवाला (कुशं लातीति कुशलः) फलतः कर्म में 'कुश का लानेवाला' का अर्थ कुछ नहीं होता। अतः यहाँ है—मुख्य अर्थ का बाध। अतः इस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की कल्पना होनी चाहिए। कुशल के मुख्य अर्थ से सम्बद्ध है 'विवेचक' अर्थ। कुश को वही व्यक्ति ला सकता है, जो कुश को तज्जातीय अन्य तृणों से पृथक् करने की योग्यता रखता है अर्थात् जो 'विवेचक' होता है। यहाँ 'कुशल' से चतुर या विवेचक अर्थ की कल्पना रूढ़ि के द्वारा है। रूढ़ि है परम्परागत अर्थ। बहुत दिनों से कुशल का यही अर्थ चला आता है। अतः 'कुशल' शब्द लाक्षणिक है जो 'लक्षण' के द्वारा 'विवेचक' अर्थ को प्रकट करता है।

लक्षणा की यही स्थिति है। इस प्रकार 'लक्षणा' भी 'अभिधा' के समान ही होती है। अभिधा जिस प्रकार अपनी शक्ति से नियत रहती है, उसी प्रकार लक्षणा भी नियत अर्थ को प्रकट करती है। परन्तु व्यञ्जना की स्थिति इस विषय में भिन्न है। वह मुख्य अर्थ से असम्बद्ध अर्थ को भी प्रकट करती है। इस परिच्छेद के आरम्भ में 'सूरज डूब गया' वाक्य में होनेवाले अनेक व्यंग्य अर्थों की ओर संकेत किया गया है। यह अर्थ मुख्य अर्थ

के साथ साक्षात् सम्बद्ध नहीं है। एक बात और—लक्षणा की अपेक्षा ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है। ध्वनि मुख्य अर्थ की सिद्धि के अनन्तर तथा मुख्य अर्थ के बाध (असंगति) होने के अनन्तर भी होती है; फलतः ध्वनि कभी वाच्यार्थ के अनन्तर और कभी लक्ष्यार्थ के अनन्तर होती है। इस प्रकार उसका क्षेत्र विशाल है, परन्तु लक्षणा तो मुख्य अर्थ के बोध होने पर ही होती है। उसका क्षेत्र संकीर्ण है। प्रयोजनवती लक्षणा भी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए व्यञ्जना का आश्रय लेती है, तब लक्षणा के भीतर व्यञ्जना के गतार्थ मानने की योजना एकदम निःसार, निराधार तथा निःसहाय है।

अनिर्वचनीयतावादी यदि ध्वनि को काव्य में नितान्त गूढ़ तथा सूक्ष्म तत्त्व मानते हैं, तो उनका कथन ठीक है। नहीं तो उनकी उक्ति यथार्थ नहीं है; क्योंकि जैसा आगे दिखलाया जावेगा, ध्वनि के स्वरूप तथा प्रकारों का विवेचन हम भली भाँति कर सकते हैं तथा करते हैं। फलतः ध्वनि को एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व मानना ही यथार्थ है।

व्यञ्जना के भेद

व्यञ्जना के दो भेद होते हैं—(१) **शाब्दी व्यञ्जना** तथा (२) **आर्थी व्यञ्जना**। शब्द की प्रधानता होने पर शाब्दी तथा अर्थ की प्रधानता होने पर आर्थी व्यञ्जना होती है।

शाब्दी व्यञ्जना

अनेक अर्थवाले शब्दों से युक्त वाक्य में संयोग आदि के द्वारा अर्थ का नियंत्रण एक ही अर्थ में किया जाता है और तब शब्दों की महिमा से जो वाक्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ शाब्दी व्यञ्जना होती है। अनेक अर्थवाले शब्दों का एक ही अर्थ में नियमन करनेवाले कतिपय साधन हैं जिनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

(१) **संयोग**—वस्तुओं के संयोग से अर्थ का नियमन होता है जैसे सशंखचक्रो हरिः (शंख चक्र धारण किये हरि अर्थात् विष्णु)। संस्कृत में 'हरि' शब्द के वानर, सिंह, विष्णु आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं। परन्तु शंख और चक्र के साथ संयोग केवल विष्णु का ही होता है। इसलिए यहाँ संयोग के द्वारा 'हरि' का अर्थ 'विष्णु' नियत किया गया है।

(२) **विप्रयोग**—विप्रयोग भी अर्थ का नियामक होता है जैसे 'अशंख चक्रो हरिः' (शंख तथा चक्र से रहित हरि) यहाँ शंख तथा चक्र के वियोग होने से हरि शब्द का नियमन 'विष्णु' के अर्थ में हुआ है।

(३) **साहचर्य**—साहचर्य के द्वारा अनेक अर्थवाले शब्दों का स्थानविशेष पर अर्थ का पता लगाया जाता है। जैसे 'राम-लक्ष्मण'। राम नामधारी तीन व्यक्ति प्राचीन काल में प्रसिद्ध हो गये हैं—परशुराम, दाशरथि राम तथा बलराम। इन तीनों व्यक्तियों

का वाचक 'राम' शब्द है। यहाँ 'लक्ष्मण' के साहचर्य (एक साथ रहना) से 'राम' शब्द दशरथ के लड़के राम का ही बोधक होता है, अन्य दो व्यक्तियों का नहीं।

(४) विरोध—विरोध भी अर्थ का नियामक होता है। जैसे 'रामार्जुन' शब्द। यहाँ अर्जुन या सहस्रार्जुन के साथ परशुराम ही का ही विरोध था। परशुराम ने उसे मार डाला था। फलतः यहाँ अर्जुन के साथ विरोध होने के हेतु 'राम' शब्द का अर्थ परशुराम होता है, अन्य व्यक्ति का नहीं।

(५) अर्थ (प्रयोजन)—प्रयोजन के द्वारा भी अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण होता है। जैसे 'संसार के नाश के लिए 'स्थाणु' की सेवा करो'। स्थाणु के दो अर्थ होते हैं—ठूँठा पेड़ तथा भगवान् शंकर। संसार के नाश के लिए जिस व्यक्ति की सेवा का यहाँ आदेश है वह शंकर भगवान् ही हो सकते हैं, ठूँठा पेड़ नहीं।

(६) प्रकरण या सन्दर्भ से भी अर्थ का पता चलता है। मन्त्री राजा से कह रहा है—देव सब जानते हैं। इस वाक्य में देव शब्द का अर्थ राजा है।

(७) लिंग—'लिंग' का अर्थ है विशिष्ट सम्बन्ध से युक्त धर्म। 'मकरध्वज कुपित है' इस वाक्य में कोप से युक्त होने के कारण 'मकरध्वज' शब्द कामदेव जैसे चेतन प्राणी के अर्थ का बोधन करता है, समुद्र का नहीं। कुपित होना चेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं। फलतः कुपित होने की योग्यता कामदेव मे ही हो सकती है, समुद्र में नहीं। अतः 'मकरध्वज' = कामदेव।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—दूसरे शब्द के सन्निधान से भी शब्द का अर्थ नियत किया जाता है। जैसे 'देव पुराराति'। यहाँ 'पुराराति' का अर्थ त्रिपुर असुर को मारनेवाले शंकर। यहाँ इस शब्द के पास रहने से 'देव' शब्द शम्भु का ही बोधक है।

(९) सामर्थ्य—कार्य करने का प्रभुत्व या बल। 'कोकिल मधु से मतवाला बन जाता है'। वसन्त ही कोयल को मतवाला बना डालने की शक्ति रखता है। इसलिए यहाँ 'मधु' का अर्थ शहद न होकर 'वसन्त' ही होता है।

(१०) औचित्य—योग्यता से भी अर्थ का नियन्त्रण होता है। जैसे 'दयिता-मुख आपकी रक्षा करे।' यहाँ मुख का अर्थ सांमुख्य या अनुकूलता है। क्योंकि रक्षा करने की योग्यता अनुकूलता में है, मुख में नहीं।

(११) देश—'परमेश्वर यहाँ विराजते हैं' इस वाक्य में राजधानी रूप देश वक्ता को अभीष्ट है। फलतः परमेश्वर शब्द का अर्थ यहाँ 'महाराजा' ही होता है, परब्रह्म नहीं।

(१२) काल—काल से भी अर्थ का नियमन होता है। जैसे 'चित्रभानु शोभित होता है'। यदि इस वाक्य का प्रयोग दिन में किया जाता है, तो 'चित्रभानु' सूर्य का वाचक

होगा। यदि रात में, तो इसका अर्थ अग्नि होगा। 'चित्रभानु' का सूर्य तथा अग्नि दोनों ही अर्थ होता है, परन्तु काल के कारण इसका एक ही अर्थ होगा।

(१३) व्यक्ति—पुल्लिग आदि लिंग से अर्थ का नियमन संस्कृत में होता है, हिन्दी में नहीं। जैसे 'मित्रो भाति' (मित्र चमकता है) यहाँ पुल्लिग में होने के कारण 'मित्र' का अर्थ सूर्य होता है और नपुंसक लिंग में होने पर यह सुहृद् का बोधक होता है। हिन्दी के शब्दों में लिंग की इतनी महिमा नहीं है।

शाब्दी व्यञ्जना का यहाँ एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

> भयौ अपत कै कोपयुत, कै बौरौ यहि काल।
> मालिनि आज कहै न क्यों, वा रसाल को हाल॥

यहाँ प्रसंग वृक्ष का है। कोई नायिका किसी बगीचे की मालिन से पूछ रही है कि उस रसाल (आम) का आज हाल क्यों नहीं बता रही हो। उसकी दशा अब कैसी है? क्या वह आज अपत (पत्तों से रहित) हो गया है या कोपयुत हो गया है (उसमें कोंपल निकल आये हैं) या इस समय वह बौर गया है (अर्थात् उसमें मंजरी निकल आई है)। इस दोहे में अपत, कोप, बौरौ और रसाल इन चार शब्दों का अर्थ प्रकरण की सहायता से वृक्ष के विषय में नियमन किया गया जैसे ऊपर दिखलाया गया है। इस प्रकार वाक्यार्थ के नियमित किये जाने के बाद भी एक अर्थ और निकल रहा है—हे मालिनि, उस (रसाल रसालय) रसिक का हाल क्यों नहीं बता रही हो? क्या वह आज (अपत) प्रतिष्ठा या मर्यादा से हीन हो गया है या क्रोधयुक्त है या इस समय पागल (बौड़हा) बन गया है। यह द्वितीय अर्थ शाब्दी व्यञ्जना के द्वारा ही उत्पन्न होता है।

आर्थी व्यञ्जना

आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की सहायता से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, परन्तु सब स्थानों पर यह बात नहीं हो सकती। उसके लिए चुने हुए स्थान तथा चुने हुए विशिष्ट नियामक हैं। जिन साधनों की विशिष्टता से यह व्यञ्जना होती है उनका नाम है—(१) वक्ता—बोलनेवाला व्यक्ति; (२) बोद्धव्य—वह पुरुष जिससे कोई बात कही जाती है; (३) काकु—कहने का एक विशिष्ट प्रकार; (४) वाक्य; (५) वाच्य—कथित अर्थ; (६) दूसरे की सन्निधि, (७) प्रस्ताव—प्रसंग, (८) देश, (९) काल, (१०) चेष्टा। इन साधनों की विशिष्टता के कारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति जहाँ वाच्य अर्थ से एक दूसरे अर्थ की प्रतीति कर लेता है वहाँ **आर्थी व्यञ्जना** होती है। केवल एक-दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे।

उदाहरण—

यहि अवसर निज कामना, किन पूरन करि लेहु ।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं, यह छनभंगुर देहु ।।

दोहे का वाच्य अर्थ स्पष्ट है। कोई किसी से कह रहा है कि यह अवसर बहुत ही सुन्दर है। अपनी इच्छा को पूरन कर लो। यह देह क्षणभंगुर ठहरा। यह दिन फिर आवेगा नहीं। अतः जो करना है सो कर लो। विचारणीय है कि यहाँ बोधव्य कौन है? यदि किसी (१) कामुक के प्रति यह उक्ति है, तो विषयवासना व्यंग्य है और यदि किसी (२) विरक्त साधु से यह बात कही गई है, तो मोक्ष व्यंग्य है। फलतः यहाँ बोधव्य की विशिष्टता के कारण नवीन अर्थ व्यंग्य हो रहा है। बिहारी के दोहों में बोधव्य की विशिष्टता के कारण शृंगारपरक अर्थ शान्तिपरक बन जाता है। इस दोहे में 'बोधव्य' (नं० २) की विशिष्टता से व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो रही है। अतः यह आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण है।

काकु का वैशिष्टय (संख्या ३) इस चौपाई में देखिए—

'सोह कि कोकिल विपिन करीला'

क्या कोकिल करील के वन में सोहती है? इस वाक्य को काकु से पढ़िए और देखिए व्यंग्य अर्थ कितनी जल्दी से निकलता है कि करील के जंगल में कोकिल का रहना नितान्त अशोभन तथा अनुचित है।

बिहारी के इस दोहे के व्यंग्यार्थ पर दृष्टिपात कीजिए :—

घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलिपुंज ।
जमुना-तीर तमाल तरु, मिलति मालती कुंज ।।

यहाँ वाच्य के अर्थ की विशिष्टता है। नायिका कह रही है कि यमुना के तीर पर मालती लता का एक कमनीय कुंज है जहाँ भौरों का मनोरम गुंजार हो रहा है तथा तमाल वृक्ष एक दूसरे के साथ हिल-मिल रहे हैं। इस अर्थ की विशिष्टता सूचित करती है कि यह स्वयंदूतिका नायिका किसी नायक से विहार की इच्छा व्यञ्जित कर रही है। अतः यहाँ वाच्य के वैशिष्टय (नं० ५) से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

काल का वैशिष्टय (सं० ६) इस सवैये में कितनी रुचिरता से प्रतीयमान अर्थ को बतला रहा है—

भूमि हरी पै प्रवाह बह्यौ जल, मोर नचैं गिरि पै मतवारे ।
चंचला त्यौं चमकै 'लछिराम', चढ़े चहु ओरन तें घन कारे ।
जान दै बीर बिदेस उन्हें कछु बोल न बोलिये पावस प्यारे ।
आइहैं ऊबि घरी में घरै घन-घोर सों जीवनमूरि हमारे ।।

इस सवैये में पावस का ललित वर्णन है जिससे यहाँ कामोद्दीपक भय व्यञ्जित हो रहा है। नायिका जानती है कि नायक परदेस के लिए बाहर नहीं जा सकता। वह घरी-आध घरी में अवश्यमेव लौट आवेंगा।

ध्वनि के मुख्य भेद

ध्वनि मुख्यतया दो प्रकार की होती है—(क) लक्षणामूलक तथा (ख) अभिधा-मूलक। जिस ध्वनि के मूल में लक्षणा हो उसे तो लक्षणामूलक तथा जिसके मूल में अभिधा हो उसे अभिधामूलक कहते हैं।

लक्षणामूलक ध्वनि में वाच्य अर्थ के प्रकट करने की इच्छा बोलने वाले में कभी नहीं रहती। जब वह उस शब्द का प्रयोग करता है तब वह कभी नहीं चाहता कि उसका मुख्य अर्थ वहाँ प्रकट किया जाय। ऐसी दशा में मुख्य अर्थ की दो प्रकार की स्थिति हो जाती है। कभी तो वह दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाता है—बदल जाता है और कभी-कभी तो वह बिल्कुल ही छोड़ दिया जाता है तथा अपने से बिल्कुल ही भिन्न अर्थ को वह प्रकट करने लगता है। जब मुख्य अर्थ अर्थान्तर में बदल जाता है, तब उसे 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य' ध्वनि कहते हैं। मुख्य अर्थ के बिल्कुल तिरस्कृत होने पर या छोड़ दिये जाने पर 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि होती है।

कोई मनुष्य किसी के सम्बन्ध में कहता है कि 'वह तो साक्षात् कुम्भकर्ण है'। यहाँ 'कुम्भकर्ण' का वाच्य अर्थ होता है घड़े के समान लम्बा कान वाला व्यक्ति या लंकापति रावण का भाई। इस व्यक्ति के न तो कान ही घड़े के समान हैं और न वह रावण का भाई है। इसलिए मुख्य अर्थ बाधित होता है और यहाँ अर्थ परिवर्तित होकर अतिभोजी तथा अधिक निद्रालु व्यक्ति का बोध कराता है। अत्यन्त आलस्य ध्वनित होता है। अतः यह वाक्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है।

राधा की स्तुति में कथित इस दोहे पर दृष्टिपात कीजिए—

> राधा अति गुन आगरी, स्वर्न बरन तनु रंग।
> मोहन तू मोहन भयो, परसत जाके अंग॥

यहाँ राधा के अंग छूने से मोहन को मोहन बन जाने की बात कवि ने कही है। यहाँ पहला मोहन शब्द तो अपने मुख्य अर्थ कृष्ण का बोध कराता है, परन्तु दूसरा 'मोहन' शब्द का अर्थ सबको मोहित करनेवाला या सबके हृदय में बस जाने वाला है और इस अर्थ में संक्रमित होने के कारण 'मोहन' शब्द 'अर्थान्तर संक्रमित' ध्वनि का उदाहरण है।

'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि वहाँ होगी जहाँ मुख्य अर्थ का एक भिन्न ही अर्थ किया जाता है, जैसे—

साँस से आँधर दर्पन ही जस
बादल ओट लखात है चन्दा ।

बादलों की ओट में छिपा हुआ चन्द्रमा साँस से अन्धे होने वाले दर्पण के समान जान पड़ता है । यहा जड़ पदार्थ दर्पण को अन्धा बतलाया गया है । यह तो कथमपि सम्भव नहीं । क्योंकि 'अन्धा' होना तो प्राणी का धर्म है । इससे यहाँ 'आँधर' शब्द का अर्थ ही बिल्कुल बदल कर मैला या धुँधला किया गया है । 'आँधर' शब्द से अत्यन्त मालिन्य व्यंग्य है ।

अभिधामूलक ध्वनि में वक्ता शब्द के मुख्य अर्थ को बिल्कुल छोड़ देना नहीं चाहता, बल्कि वह अन्यपरक बन जाता है अर्थात् व्यंग्य अर्थ का बोधक होता है । इसलिए इस ध्वनि को **'विवक्षितान्यपर-वाच्य'** ध्वनि कहते हैं । अर्थात् पूर्व दृष्टान्तों के समान न तो मुख्य अर्थ संक्रमित होता है, और न अत्यन्त तिरस्कृत होता है । उसे प्रकट किया जाता है, परन्तु वह व्यंग्य अर्थ का बोधक बन जाता है; यही विशेषता इस ध्वनि की है । व्यंग्य का तभी बोध होता है जब वाच्य अर्थ का भी बोध होता है । यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के बीच में कहीं तो क्रम लक्षित होता है और कहीं पर वह क्रम लक्षित नहीं होता । इस प्रकार इस ध्वनि के दो अवान्तर भेद होते हैं—

(क) **असंलक्ष्यक्रम ध्वनि** तथा (ख) **संलक्ष्यक्रम ध्वनि**—इनमें से पहिली ध्वनि का अभिप्राय रस भाव आदि से है । रस को प्रतीति में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव—ये तीनों कारण होते हैं और इनसे जब स्थायी भाव पुष्ट होता है, तब रस का आस्वाद होता है । यहाँ विभावादि अर्थ के प्रकट होने के साथ ही साथ रस का भी बोध हो जाता है । दोनों में किसी प्रकार का क्रम लक्षित नहीं होता; अतः रस-भाव को इस नाम से पुकारते हैं ।

मतिराम का यह सवैया इस ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है—

आए बिदेस तें प्रानप्रिया, 'मतिराम' अनंद बढ़ाय अलेखै ।
लोगन सौं मिलि आँगन बैठि, घरी-ही-घरी सिगरौ घर पेखै ।
भीतर भौन के द्वार खरी, सुकुमारि तिया तन-कंप बिसेखै ।
घूँघट को पट ओट दियें, पट-ओट किए पिय को मुँह देखै ॥

पति परदेस से घर पर आया हुआ है । उसे नायिका घूँघट से अपने मुँह को छिपाकर कपड़े की ओट से पति का मुँह देख रही है । यहाँ नायिका के आचरण को देखकर उसके हृदय का प्रेमभाव छलक रहा है जिससे शृंगाररस की सद्यः प्रतीति होती है । यहाँ वाच्य अर्थ से शृंगाररस की प्रतीति इतनी जल्दी होती है कि दोनों के बीच में विद्यमान रहने वाले क्रम का (पूर्वापर भाव का) ज्ञान ही नहीं होता । इसलिए इसे असंलक्ष्यक्रम वाच्य ध्वनि कहते हैं ।

'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' ध्वनि का क्षेत्र बड़ा विशाल है। इस ध्वनि में वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले होती है और तदनन्तर विचार करने पर व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। अतः दोनों अर्थों के बीच में विद्यमान क्रम पूरी तौर से लक्षित होता है। कहा गया है कि ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। रसध्वनि तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। कारण यह है कि यहाँ रस की प्रतीति इतनी शीघ्रता के साथ होती है कि क्रम की स्थिति लक्षित नहीं होती। परन्तु वस्तु तथा अलंकार को प्रकट करने वाली ध्वनि इससे भिन्न होती है। इसमें शब्द से मुख्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर अनुसन्धान करने पर व्यंग्य का बोध होता है। इस ध्वनि के स्वरूप को समझाने के लिए आचार्यों ने 'अनुरणन' का उपयुक्त उदाहरण दिया है। घंटा एक बार बजाने के बाद तदनुगामी अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं जो मूल स्वर की अपेक्षा सूक्ष्म होती चली जाती हैं। पहला शब्द तो बड़ा जोरदार होता है, परन्तु पीछे उसकी केवल गूँज रहती है जो धीरे-धीरे हलकी पड़ती जाती है। इन दोनों में क्रम स्पष्टतः लक्षित होता है। इसी प्रकार क्रम के दिखलाई पड़ने के कारण इसे अनुरणन ध्वनि की संज्ञा प्राप्त है। इसके अनेक भेद होते हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—शब्दशक्ति-जन्य, अर्थशक्ति-जन्य तथा उभयशक्ति जन्य। इनके अवान्तर भेद तथा मिश्रित भेदों की गणना बड़ी लम्बी है। यहाँ एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे के व्यंग्य अर्थ की मीमांसा कीजिए। कवि कहता है कि राधा और कृष्ण की जोड़ी चिरकाल तक जीती रहे तथा उसमें गम्भीर स्नेह उत्पन्न होवे। राधा वृषभानु की पुत्री ठहरीं और कृष्ण हलधर (बलरामजी) के भाई ठहरे। दोनों उच्च कुल में पैदा हुए हैं। अतः दोनों का सम्बन्ध नितान्त उचित तथा स्नेहवर्धक है। इस वाच्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्दशक्ति की महिमा से एक नवीन अर्थ का ज्ञान हो रहा है। 'वृषभानुजा' (वृषभ + अनुजा) का अर्थ बैल की बहिन तथा हलधर का अर्थ हल को ढोने वाला बैल। अतः यहाँ बैल तथा गाय की बड़ी सुन्दर जोड़ी है। इन दोनों के मिलन से गम्भीर सनेह (घृत) क्यों नहीं उत्पन्न होगा?

यह ध्वनि वृषभानुजा तथा हलधर के श्लेष पर आश्रित है। इन दोनों शब्दों के स्थान पर पर्याय के रखते ही यह ध्वनि गायब हो जायगी। अतः यह शब्दशक्तिजन्य है। जिस व्यंग्य अर्थ का यहाँ बोध होता है वह अलंकार से रहित है, केवल वह एक वस्तु (बात) है। इसलिए इस ध्वनि का पूरा नाम होगा—शब्दशक्तिजन्य वस्तुध्वनि।

बिहारी के एक दूसरे दोहे पर दृष्टिपात कीजिए—

नित प्रति एकत ही रहत, बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि, लोचन जुगल अनेक।

कवि का कहना है कि राधा और कृष्ण नित्य प्रति एक ही साथ रहते हैं। दोनों का वय, रंग तथा हृदय एक समान है। ऐसी जुगल जोड़ी को निरखने के लिए आँखों के असंख्य जोड़े होने चाहिए। इस मुख्य अर्थ से सौन्दर्य का अतिशय व्यंग्य है अर्थात् राधा-कृष्ण नितान्त सौन्दर्य सम्पन्न हैं। इसलिए यहाँ **अर्थशक्तिजन्य वाक्य-ध्वनि** मानी जायगी।

मुख्य रूप से ध्वनि के ५१ भेद हैं जिनमें से मोटे तौर पर तीन ही ध्वनियाँ प्रधान होती हैं—(१) **रसध्वनि** जिसमें रस की व्यञ्जना होती है; (२) **वस्तुध्वनि** जिसमें किसी सामान्य वस्तु या बात या कथन की ध्वनि होती है; (३) **अलंकार ध्वनि** जिसमें किसी अलंकार की अभिव्यक्ति व्यंग्यार्थ रूप से होती है। रसध्वनि तथा वस्तुध्वनि के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं। '**अलंकार ध्वनि**' का दृष्टान्त यहा 'दास कवि' का दिया जाता है—

सखि, तेरो प्यारे भलो दिन न्यारो ह्वै जात।
मोते नहिं बलबीर को पल बिलगाव सोहात॥

राधा किसी सखी से कह रही है कि तुम्हारे प्रिय अच्छे हैं जो तुमसे अनेकों दिन अलग रह सकते हैं। परन्तु मेरे कृष्ण को तो एक पल का भी वियोग नहीं सुहाता। यहाँ **व्यतिरेक अलंकार** व्यंग्य है। राधा का तात्पर्य यह है कि मैं तुमसे अधिक सौभाग्य-शालिनी हूँ, क्योंकि मेरा पति तुम्हारे पति से अधिक प्रेमी है। यहाँ वाक्यगत वस्तु से अलंकार ध्वनि है।

१४

रससिद्धान्त

विद्यालय की किसी कक्षा में छात्रों का जमघट लगा हुआ है। अध्यापक जी के आने की प्रतीक्षा में छात्र बैठे हुए हैं और कोई कार्य प्रस्तुत न होने के कारण वे तरह-तरह के उत्पात करने में लगे हुए हैं। एक कोलाहल-सा मचा हुआ है। इतने में साहित्य के अध्यापकजी कक्षा में पधारते हैं और इतने विभिन्न मति वाले छात्रों के चित्त का अनुरञ्जन करने तथा उन्हें शान्त करने के विचार से एक रोचक उपाय सोचते हैं। वह उपाय है महाकवि मतिराम की एक सुन्दर सवैये का लयपूर्वक पाठ तथा उसकी रसमयी विशद व्याख्या। अध्यापक बड़े सुन्दर लय में यह सवैया पढ़ते हैं—

कुंदन कौ रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, "मतिराम" लहे मुसुकानि-मिठाई।
ज्यौं-ज्यौं निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निखरै-सी निकाई।।

सस्वर पाठ से ही कक्षा में एक विचित्र शान्ति विराजने लगती है। हो-हल्ला शान्त हो जाता है। छात्र व्याख्या के लिए उत्सुक हो जाते हैं। अध्यापक श्रीराधाजी के सौन्दर्य के वर्णन करनेवाले इस पद्य की सुन्दर व्याख्या करते हैं। व्याख्या सुनते ही छात्रगण इससे एक विचित्र अलौकिक आनन्द उठाते हैं और आनन्द की मस्ती में कितने ही भावुक छात्रों के सिर स्वयं हिलने लगते हैं। वे भावधारा में वहने लगते हैं। सर्वत्र शान्ति विराजने लगती है। यह अलौकिक आनन्द क्या है? काव्य के सुनने या पढ़ने से श्रोता या पाठक के चित्त में जो विलक्षण अलौकिक आनन्द आता है उसी का नाम 'रस' है।

'भाव' का रूप

रस के उन्मीलन तथा रूप को समझने के लिए हमें अपने ही चित्त के 'भावों' को समझना पड़ता है। सहृदय व्यक्तियों या सामाजिकों के हृदय में 'भावों' का सर्वदा निवास रहता है। आजकल के मनोविज्ञान की भाषा में हम कह सकते हैं कि ये भाव हमारे मानस के अर्ध चेतन या अवचेतन भाग में छिपे रहते हैं। इन भावों के उदय की अपनी राम कहानी है। भारतीय आचार्यों के मत से इनकी उत्पत्ति के दो प्रकार होते हैं। बहुत से भाव

पूर्व जन्म के संस्कार के कारण भी अपनी सत्ता बनाये हुए रहते हैं। और बहुत से भावों का उदय मानव के लौकिक जीवन तथा व्यावहारिक आचरण से ही होता है। हम अपने जीवन में नाना प्रकार की दशाओं से होकर गुजरते हैं। हम कभी किसी कामिनी से प्रेम करते हैं और उसके हृदय को अपनी ओर खींचने में समर्थ होते हैं। कभी हम किसी प्रबल अत्याचारी को किसी दीन जन को बेरहमी से पीटते हुए देखते हैं, तब हमारे हृदय में 'दया' का भाव जाग्रत होता है। कभी शत्रुओं के द्वारा घेरे जाने पर अपनी रक्षा के लिए हम अपने में 'उत्साह' का अनुभव करते हैं। जान पड़ता है कि हमारा हृदय अपने से ऊँचा उठकर छलाँगें मार रहा है। कभी हम शेर को देखकर भाग खड़े होते हैं और 'भय' के कारण हमारे शरीर में कँपकँपी बँध जाती है। कभी किसी कोढ़ी के विकृत शरीर को देख कर हमारे हृदय में घृणा या जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो जाता है और हम उस स्थान से तुरन्त अलग खड़े हो जाते हैं। नित्य-प्रति के जीवन में हम इसी प्रकार के नाना 'भावों' का अनुभव किया करते हैं। ये अनुभव चिरस्थायी तो होते नहीं। ये कतिपय क्षण तक हमारे चेतन मन में निवास करते हैं और फिर पीछे अवचेतन मन में जाकर बैठ जाते हैं।

एक उदाहरण से इसे समझिए। कोई लम्बा-चौड़ा तालाब हमारे सामने लहरा रहा है। बालक वहाँ खेलने के लिए आते हैं और वे छोटी-छोटी अनेक चीजें उसमें फेंकने लगते हैं। ये चीजें बहुत देर तक पानी की सतह के ऊपर तैरा करती हैं और तरंगों के झोंके में साफ दिखाई पड़ती हैं। परन्तु तालाव के जल के शान्त होते ही वे धीरे-धीरे ऊपरी सतह से होकर उसके भीतरी तह पर जाकर जम जाती हैं—बैठ जाती हैं। न जाने वे कितनों दिनों तक वहीं पड़ी रह कर अपना जीवन बिताया करती हैं। बाहर जगत् को उनका ज्ञान भी नहीं होता कि इस प्रकार की चीजें इस तालाब में कहीं विद्यमान हैं। बहुत दिनों के पीछे उसमें एक हिलोरा उठता है। जान पड़ता है कि कोई तालाब को मथ रहा है। इसका फल यह होता है कि ये छिपी चीजें फिर ऊपर चली आती हैं जिससे बाहरी जगत् को उनके अस्तित्व का पता चलता है। छिपी चीजें अनुभव की कोटि में आ जाती हैं। वे अब अज्ञात नहीं रहतीं। इतने दिनों तक अज्ञात की दशा में रहने पर भी वे अब सहसा ज्ञान के क्षेत्र के भीतर आ जाती हैं और अपने रूप से हमारा मनोरंजन करती हैं। भावों की अभिव्यक्ति का यही मोटा ढंग है।

यह दशा अन्य प्रकार से भी होती है। हम काव्य को पढ़ते हैं। नाटक को देखते हैं। चलचित्रों का अवलोकन करते हैं। इससे हमारे हृदय में भावों की उद्भूति होती है। ये भाव हमारे अवचेतन मन में न जाने कितने दिनों तक, कितने सालों तक, यों ही पड़े-पड़े अपना दिवस बिताया करते हैं। जब हम काव्य में इन्हीं भावों का वर्णन पढ़ते हैं अथवा नाटक में इन्हीं भावों का चित्रण देखते हैं, तब हमारे अवचेतन मानस के छिपे

भाव चेतन मानस के तरंगों में हिलोरें लेने लगते हैं। वे सुप्त दशा से प्रबुद्ध दशा में आ विराजते हैं। यह बहुत दिनों तक टिका रहने के कारण साधारण भावों से भिन्न होता है। साधारण भाव आते हैं, मन में कुछ क्षणों तक रहते हैं और फिर गायब हो जाते हैं, परन्तु अवचेतन मन के अन्तराल में छिपने वाला भाव बहुत देर तक रहता है और इसी कारण वह 'स्थायीभाव' के नाम से पुकारा जाता है। काव्य में वर्णित विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के द्वारा पुष्ट किये जाने पर यही स्थायीभाव 'रस' के रूप में परिणत हो जाता है। अब अवचेतन तथा चेतन मानस के बीच का परदा गायब हो जाता है—भेदभाव रहता नहीं और हम चित्त की उस दशा में पहुँच जाते हैं जहाँ किसी प्रकार की दुविधा नहीं रहती। हमारे और संसार के बीच में कोई भिन्नता नहीं रहती। हमारी अनुभूति में 'आनन्द' ही आनन्द रहता है। हमारे आचार्यों ने इसी 'आनन्द' को रस की संज्ञा प्रदान की है। यह आस्वाद अलौकिक है। लौकिक जगत् में इसकी तुलना नहीं की जा सकती और इसीलिए इसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' (अर्थात् ब्रह्म के आनन्द का भाई) कहते हैं।

रस-सामग्री

'भाव' सामग्री के सहयोग से 'रस' के रूप में परिणत हो जाता है—यह सामग्री कौन-सी है ? इस सामग्री के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव, संचारी भाव की गणना की जाती है। इनकी उदाहरणमुखेन यहाँ व्याख्या की जा रही है। कालिदास के शाकुन्तल नाटक के प्रथम अंक के कथानक पर दृष्टिपात कीजिए। हस्तिनापुर का सम्राट् दुष्यन्त कण्व के आश्रम में गुप्तभाव से पहुँचता है। आश्रम में पहुँच कर वह शकुन्तला को आश्रम के वृक्षों को सींचती पाता है। शकुन्तला युवावस्था में पदार्पण करने वाली एक अलौकिक लावण्यवती युवती है। दोनों की चार आँखें होती हैं और दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेमभाव का उदय होता है। शकुन्तला की दशा विचित्र हो जाती है। सखियों के आग्रह करने पर भी वह वहाँ से नहीं जाती। भ्रमर की बाधा उत्पन्न होने पर वह इधर-से-उधर भागती हुई दृष्टिगोचर होती है। राजा के चले जाने पर, आँखों की ओट होने पर शकुन्तला अचानक खड़ी हो जाती है और पैर में कुश के काँटें चुभ रहे हैं; इस व्याज से खड़ी होकर काँटों को निकालती है। पौधों में न अटकने वाले अपने वस्त्र को वह निकालने का बहाना करती हुई मुड़ कर राजा को देखती है। आश्रम का वह एकान्त वातावरण तथा मालिनी का वह मनोरम तीर पर इन दोनों के हृदय में प्रेम को पुष्ट करता है। यही थोड़े में कथानक है। इसकी मीमांसा करने पर रस की उपयुक्त सामग्री समझ में आ सकती है। एक बात ध्यान देने की यह है कि इस कथानक के दो पक्ष हैं—एक तो है व्यवहारपक्ष अर्थात् वास्तव जगत् में यह घटना जैसे घटती है। दूसरा है काव्य-पक्ष अर्थात् नाटक के द्वारा उसी घटना का चित्रण नाटककार कैसे करता है। पहला है लौकिक पक्ष और

दूसरा है अलौकिक पक्ष। दोनों पक्षों में रस उदय नहीं लेता। पहिली दशा तो भौतिक दशा है जिसमें शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय में वस्तुतः 'प्रेम' नामक एक भाव उदित होता है। रस की दशा दूसरे पक्ष में होती है अर्थात् जब वही घटना कवि की प्रतिभा के बल पर शब्दों के माध्यम द्वारा काव्य या नाटक का चोला पहनकर आती है तब वह एक अलौकिक वस्तु होती है और तभी वह रस की अनुभूति कराती है। आनन्द तभी उत्पन्न होता है।

पूर्वोक्त घटना की समीक्षा करने पर कतिपय तथ्य हमारे सामने आते हैं:—

(१) शकुन्तला के प्रति 'रति' दुष्यन्त के हृदय में 'रस' के रूप में परिणत हो जाती है। दुष्यन्त के हृदय में शृंगाररस के उन्मीलन के लिए शकुन्तला आलम्बन का काम करती है। यदि शकुन्तला उपस्थित नहीं होती, तो यह रस दुष्यन्त के हृदय में उदित ही नहीं हो सकता था। इसीलिए दुष्यन्त के हृदय में रस के उन्मीलन में शकुन्तला आलम्बन (आधार) है। शकुन्तला की चेष्टायें इस रस को उद्दीप्त करने का काम करती हैं। भ्रमर की वाधा होने पर उसका इधर से उधर भागना, सखियों के साथ बैठकर विश्रम्भालाप करना, अपने मन की बातें प्रकट करना—आदि उसकी चेष्टायें हैं जो दुष्यन्त के शृंगार रस को बढ़ाने का काम करती हैं। इसका नाम हुआ उद्दीपन। आलम्बन तथा उद्दीपन मिलकर 'विभाव' के रूप को पूर्ण करते हैं। 'विभाव' का अर्थ है रस को विशेष रूप से उत्पन्न करनेवाले भाव।

(२) दुष्यन्त के हृदय में रति उत्पन्न होने पर उसकी चेष्टाओं में अन्तर होने लगता है। उसका शान्त चेहरा अब तमतमा उठता है। वह नेत्र के कोनों से शकुन्तला की मुख-शोभा को निरखने लगता है। शकुन्तला के मीठे वचनों को सुनने के लिए उसके कान उतावले हो उठते हैं। ये चेष्टायें इस बात को सूचित करती हैं कि शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय में वह मनोरम भाव उत्पन्न हो रहा है जिसे 'प्रेम' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं शारीरिक चेष्टाओं का नाम **'अनुभाव'** है। 'अनुभाव' के दो अर्थ माने जाते हैं—(क) अनु = पश्चात्, भाव = उत्पन्न होनेवाले चिह्न। अर्थात् 'रति' के उत्पन्न होने के पश्चात् दुष्यन्त के शरीर में उत्पन्न होनेवाले चिह्न। (ख) अनुभावयन्तीति अनुभावाः। अर्थात् वे साधन जो उत्पन्न रति को दर्शकों के अनुभव में लाते हैं। बिना इन चिह्नों के देखे दर्शक इस बात से अनभिज्ञ ही रहता है कि दुष्यन्त के हृदय में 'रति' का जन्म हुआ है या नहीं। लोकपक्ष में यह 'कार्य' कहा जाता है।

(३) दुष्यन्त के हृदय में कभी चिन्ता उत्पन्न होती है कि शकुन्तला ऋषि कण्व की पुत्री है। अतः उसके लिए मेरा यह सब अनुराग व्यर्थ सिद्ध होगा (चिन्ता)। कभी वह विश्वामित्र के वृत्तान्त को सुनकर शकुन्तला को सुलभ मानता है जिससे उसके हृदय में

हर्ष तथा आशा का संचार होता है। चिन्ता, हर्ष, आशा आदि ये सब भाव क्षणिक हैं, अस्थायी हैं। एक क्षण के लिए आते अवश्य हैं, परन्तु रति की स्थिति की सूचना देकर और पुष्टि कर फिर विलीन हो जाते हैं ठीक तरंगों के समान। शान्त समुद्र की सतह पर हवा के झोंकों से तरंगें उठती हैं, कुछ देर तक वे अवश्य अपनी लीला दिखलाती हैं, परन्तु फिर वे उसी समुद्र के अंक में विलीन हो जाती हैं। तरंगों से समुद्र के जल की स्थिति की सूचना अवश्य मिलती है। परन्तु तरंगों के अस्त होने पर एक विशाल समुद्र शान्त भाव से प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तुलना में समुद्र-स्थानीय है स्थायी भाव और तरंग-स्थानीय है संचारी भाव। संचरणशील होने के कारण ही ये भाव 'संचारी' कहलाते हैं तथा विविध रूप से (वि) स्थायी के अनुकूल (अभि) संचरण करने के कारण इनकी दूसरी संज्ञा है **व्यभिचारी भाव**।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यंजित होने पर स्थायी भाव ही रस के रूप में परिणत हो जाता है और अलौकिक आनन्द का जनक बनता है।

भाव के भेद

भाव दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो देर तक टिकने की योग्यता रखते हैं। वे **'स्थायी भाव'** कहलाते हैं। दूसरे वे जो कई एक क्षणों तक ही टिकते हैं। इसी अस्थायिता के कारण वे **संचारी भाव** कहलाते हैं। इन दोनों की संख्या भी नियत-सी ही है। संचारी भाव संख्या में ३३ ही माने जाते हैं, परन्तु स्थायी भावों के विषय में बड़ा मतभेद है। अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थायियों की संख्या ९ है और इनसे उत्पन्न होनेवाले रस की संख्या भी ९ ही है—

स्थायीभाव	रस
१. रति	शृंगार
२. हास	हास्य
३. शोक	करुण
४. क्रोध	रौद्र
५. उत्साह	वीर
६. भय	भयानक
७. जुगुप्सा	बीभत्स
८. विस्मय	अद्भुत
९. शम	शान्त

आगे चलकर स्थायी तथा रसों की संख्या बढ़ती गई। विश्वनाथ कविराज ने 'वत्सल' भाव तथा 'वात्सल्यरस' की प्रतिष्ठा की तथा रूप गोस्वामी ने 'माधुर्य रस' (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' में की। इस भक्तिरस का भी स्थायी भाव 'रति' ही है परन्तु अन्तर इतना ही है कि जहाँ कान्ता-विषयक रति शृंगार की जननी होती है, 'भक्तिरस' के लिए दिव्या-रति या कृष्ण-विषयक रति ही स्थायी भाव का काम करती है। शान्तरस के विषय में भी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस की स्थिति नाटक में नहीं मानते परन्तु अभिनव, मम्मट आदि मान्य आलंकारिक काव्य में इसकी सत्ता मानते हैं।

व्यभिचारी भाव ३३ प्रकार के होते हैं जिनके नाम ये हैं—

निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, (१०) चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, (२०) विबोध, क्रीड़ा, अपलाभ, मोह, मति, आलस्य, आवेग, वितर्क, अवहित्था (—हृदय के भाव या विकार को लज्जा आदि के द्वारा छिपाना), व्याधि, (३०) उन्माद (पागलपन), विषाद, औत्सुक्य, (३३) चापल। इनमें से कतिपय भाव रसों के साथ हुआ करते हैं। वे आकर मुख्य रस को पुष्ट करते हैं और अनन्तर वे अन्ताहित हो जाते हैं। स्थायी के पोष के लिए संचारी का होना नितान्त आवश्यक होता है।

रसों के प्रकार

१—शृंगार रस

स्थायी भाव—रति (नायक तथा नायिका में परस्पर अनुराग)।

आलम्बन—इसके आलम्बन विभाव नायक तथा नायिका हैं अर्थात् नायिका-विषयक रति के लिए नायक आलम्बन होता है और नायक-विषयक रति के लिए नायिका आलम्बन है।

उद्दीपन—चन्द्र, चाँदनी, वन, उपवन, पुष्प, शीतल मन्द सुगन्ध समीर, वसन्त आदि ऋतु, एकान्त स्थल, कमनीय केलिकुञ्ज, सखा, सखी, दूती आदि।

अनुभाव—अनुरागपूर्ण परस्पर एक दूसरे को देखना, कटाक्ष करना, भृकुटि भंग आदि अनुभाव हैं।

व्यभिचारी—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा इन चार व्यभिचारियों को छोड़कर शेष २९ भाव।

भेद—मुख्य भेद दो होते हैं—सम्भोग शृंगार तथा विप्रयोग शृंगार। एक दूसरे

में अनुरक्त नायक और नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृंगार 'सम्भोग शृंगार' कहलाता है। विप्रयोग उसे कहते हैं जहाँ उत्कट प्रेम होने पर भी प्रिय समागम न हो सके।

इन दो प्रधान भेदों के अतिरिक्त एक तीसरा भी भेद आचार्यों ने माना है जिसका नाम है—अयोग। अयोग मिलन से पूर्व की दशा है और विप्रयोग मिलन के पश्चात् की दशा है। अयोग शृंगार की वह स्थिति है जहाँ नायक-नायिका का एक दूसरे के प्रति अनुराग होता है, और उनका चित्त एक दूसरे के प्रति पूरे तौर से आकृष्ट होता है, परन्तु परतन्त्रता (जैसे पिता, माता आदि) के कारण या भाग्य के फेर से दोनों एक दूसरे से अलग ही रहते हैं और इसीलिए उनका संगम नहीं होता। इसकी दश दशाओं का निर्देश तथा वर्णन आचार्यों ने किया है—(१) अभिलाष, (२) चिन्तन, (३) स्मृति, (४) गुणकथन, (५) उद्वेग (न मिलने से व्याकुलता), (६) प्रलाप (बकवाद करना), (७) उन्माद (पागलपन अर्थात् जड़-चेतन का विवेक न होना), (८) संज्वर (व्याधि), (९) जड़ता (चेष्टाशून्य होना), (१०) मरण (मृत्यु)। ये ही 'कामदशा' के नाम से विख्यात हैं। इन दशाओं की केवल दश ही संख्या मानना प्रायोवाद है। वस्तुतः ये दशायें अनन्त होती हैं जिनका वर्णन महाकवियों के प्रबन्धों में प्रचुरता से मिलता है। पूर्वोक्त दशाओं में उत्तर दशायें पूर्व दशाओं की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं। अन्तिम दशा का दिखलाना उचित न मान कर कविजन उसका संकेत मात्र कर देते हैं।

अभिलाष वह अवस्था है जब नायक के प्रति नायिका का आकर्षण होता है। यह अनेक कारणों से उत्पन्न होता है। साक्षात् देखने पर या नायक के चित्र देखने पर अथवा नायक के गुण सुनने पर। इस दशा में आश्चर्य, आनन्द तथा भय आदि की उत्पत्ति होती है। गुण-श्रवण अनेक प्रकार से हो सकता है—सखियों के गीत या बन्दीजनों के द्वारा रचित गुणस्तवन को चुपके-चुपके बहाने से सुनने से अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है।

उदाहरण—

> प्रेम कहा तिनसों पहिले हरि कानन आन समीप किये तें।
> चित्र-चरित्र न मित्र भये सपने में हुँ मोहि मिलाय लिये तें॥
> 'देव जू' दूर तें दौरि दुराय कै प्रेम सिखाय दिखाय दिये तें।
> वारिज से बिकसे मुख वे निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तें॥

यहाँ नायक के गुणश्रवण आदि के द्वारा अनुरागवती नायिका का प्रेम वर्णित है। इसका नाम है—पूर्वानुराग। नायक-विषयक रति स्थायीभाव है, नायक आलम्बन है तथा उसका गुणश्रवण आदि उद्दीपन है। हृदय से न निकलना अनुभाव है। उत्कंठा, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। पूर्वोक्त दशाओं में 'अभिलाष' का सुन्दर चित्रण है। पूर्वानुराग होने से अयोग शृंगार का रमणीय उदाहरण है।

संभोग श्रृंगार

दोऊ जने दोऊ को अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छबि-सागर को छोर हैं।
'चिन्तामणि' केलि की कलानि के बिलासनि सों,
दोऊ जने दोऊन के चित्तन के चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसुकानि-सुधा वरषत,
दोऊ जने छके मोद-मद दुहूँ ओर हैं।
सीता जू के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,
राम-नैन सीता मुखचन्द्र के चकोर हैं॥

इस पद्य में सीता तथा राम के बीच जो परस्पर प्रेमभाव है वही 'रति' नामक स्थायी भाव है। राम और सीता आलम्वन विभाव हैं। एक दूसरे के रूप को इकटक देखना, मुसकुराना आदि अनुभाव हैं। हर्ष, उत्सुकता आदि संचारी भाव हैं। अतः यहाँ पूर्ण सम्भोग श्रृंगार रस है।

विप्रयोग श्रृंगार

नैननि को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो विरहागि में तैये।
एक घरी न कहू कल पैये, कहाँ लगि प्राननि को कलपैये।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहू के गृह जैये।
मान घटे ते कहा घटि है, जु पै प्रानपियारे को देखन पैये॥

यहाँ नायक तथा नायिका का पारस्परिक अनुराग 'रति' स्थायी भाव है। नायक और नायिका आलम्वन विभाव हैं। नैनन को तरसाना, एक घरी को कल न पाना, सौत के घर तक चलने का आग्रह आदि अनुभाव हैं। देखने की उत्सुकता तथा उद्वेग संचारी भाव हैं। यह विप्रयोग विरह के कारण से है। अतः पूर्ण विप्रयोग श्रृंगार है।

विप्रयोग के दो मुख्य भेद होते हैं—(१) मान, (२) प्रवास। 'मान' का अर्थ है रूठना। जहाँ नायिका प्रेम से नायक से रूठती है, वहाँ होता है 'प्रणय मान' और नायक से ईर्ष्या के कारण रूठती है, वहाँ होता है—ईर्ष्या मान। प्रवास विप्रयोग से तात्पर्य है—प्रियतम के परदेश जाने के कारण उत्पन्न वियोग। यह भी अनेक कारणों से होता है—कार्य से, किसी गड़बड़ी से अथवा किसी शाप के कारण। इसी का एक और भी भेद होता है—**करुण विप्रलंभ**। मरे हुए नायक के प्रति किया गया अनुराग जो किसी कारण से उसके जीने की आशा से बना रहा है। जैसे कादम्बरी में शाप के कारण वैशम्पायन तथा महाश्वेता का वियोग। वैशम्यापन की मृत्यु अवश्य होती है, परन्तु उसके पुनरुज्जीवित

होने की आशा भी आकाशवाणी के द्वारा सूचित की जाती है। अतः महाश्वेता का अनुराग बना रहता है। करुणरस में शोक स्थायी भाव होता है, रति नहीं।

२—हास्य र.

विकृत आकार, वेष, बोली, चेष्टा तथा व्यवहार आदि के वर्णन तथा चित्रण से 'हास्य-रस' उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—हास।

आलम्बन—विकृत वेष तथा विकृत वचनवाला व्यक्ति।

उद्दीपन—अनुपयुक्त वचन, वेष, भूषा आदि।

अनुभाव—मुख का फैल जाना, आँखों का मींचना आदि।

संचारी—निद्रा, आलस्य, चपलता, अवहित्था (लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि भावों का छिपाना) आदि।

उदाहरण—

हँसि-हँसि भजै देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनो जे आवैं हिमाचल के उछाह मैं।
कहै 'पदमाकर' सु काहू को कहै को कहा,
जोई जहाँ देखैं सो हँसोई तहाँ राह मैं।
मगन भएई हँसैं मगन महेस ठाढ़े,
और हँसे वेऊ हँसि-हँसि के उमाह मैं।
सीस पर गंगा हँसैं भुजनि भुजंगा हँसैं,
हास ही को दंगा भयो, नंगा के विवाह मैं॥

यहाँ महादेव जी के विवाह का प्रसंग है। उन्हें नंगा देखकर हँसना (हास) स्थायी भाव है। महादेव जी आलम्बन विभाव हैं। विवाह के समय भी नंगा रूप उद्दीपन विभाव है। लोगों का हँसना, गंगा तथा साँपों का भी हँसना, लोट-पोट हो जाना—अनुभाव हैं। शिवजी के इस विचित्र रूप को देखने के लिए लोगों का दौड़ पड़ने में उत्सुकता, चपलता आदि संचारी भाव हैं। पूर्ण हास्य रस।

आचार्यों ने हास्य के छः भेद माने हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित। इनमें से प्रथम दो उत्तम प्रकृतिवाले व्यक्तियों में रहते हैं, मध्यम दो मध्यम प्रकृति के व्यक्तियों में और अन्तिम दोनों अधम प्रकृति के व्यक्तियों में होते हैं। हास की न्यूनाधिक मात्रा होने से ही इनमें विलक्षणता है।

३—करुणरस

स्थायी भाव—शोक ।

आलम्बन—कोई मृत बन्धु या सम्बन्धी अथवा दीन हीन दशा को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति ।

उद्दीपन—मृतक का दाह तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली चीजें जैसे वस्त्र, भूषण, घर, पुस्तकें आदि का देखना, उसकी कथा या बातचीत सुनना ।

अनुभाव—पृथ्वी पर गिर पड़ना, भाग्य का कोसना, रोना, उच्छ्वास, प्रलाप, बकवाद आदि ।

संचारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, विषाद, जड़ता आदि ।

उदाहरण

मातु को मोह, न द्रोह विमातु को, सोच न तात के गात दहे को ।
प्रान को छोभ न, बंधु बिछोह न, राज को लोभ न मोद रहे को ।
एते तैं नेक न मानत 'श्रीपति' एते मैं सीय-वियोग सहे को ।
ता रनभूमि मैं राम कह्यौ, मोहि सोच बिभीषण भूप कहे को ॥

यहाँ रामचन्द्र लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर विलाप कर रहे हैं । लक्ष्मणजी के लिए विलाप करने से 'शोक' स्थायी भाव है । लक्ष्मण जी का निश्चेष्ट शरीर तथा उनका विपुल पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव है । लक्ष्मण आलम्बन विभाव है । रामचन्द्र का विलाप करना अनुभाव है। ऐसी दशा में भी विभीषण को राजा बनाने का ध्यान होने से मति, स्मृति, वितर्क (नाना बातों का चिन्तन करना), विषाद आदि संचारी भाव हैं ।

'करुण विप्रलम्भ' (विप्रलम्भ शृंगार का अन्यतम भेद) से यह नितान्त भिन्न है । वहाँ तो पुनः समागम की आशा रहने से 'रति' स्थायी होती है, परन्तु यहाँ तो शोक स्थायी रहता है ।

४—रौद्ररस

स्थायी भाव—क्रोध ।

आलम्बन—अपकार करने वाला व्यक्ति, शत्रु; आदि ।

उद्दीपन—मत्सर, अथवा शत्रु के द्वारा किये गये अपकार आदि ।

अनुभाव—शस्त्र को बार-बार चमकाना, बड़ी डींगे मारना, जमीन पर चोट करना, प्रतिज्ञा करना, त्यौरी चढ़ाना, ओंठ चबाना आदि ।

संचारी—अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, वेग आदि ।

उदाहरण

पुरारि को प्रचण्ड यह तोरि कोदण्ड फेर,
भृकुटी मरोरि अब गर्व दिखरावै तू।
भ्रात की न बात मान बोलत निशंक भयो,
कौशिक की कान हू न मान बतरावै तू।
देख! ये कठोर क्रूर कर्म है अपार याके,
कै कै अपमान विप्र जान इतरावै तू।
क्षत्रिन पतत्रिन ज्यों काटि की निछत्र मही,
क्यों रे! छत्रिबाल भूलि काल हँकरावै तू।

यहाँ रामजी ने भगवान् शंकर के धनुष को तोड़ डाला है जिससे परशुराम राम के तथा लक्ष्मण के ऊपर क्रुद्ध हो रहे हैं। उनका क्रोध स्थायी भाव है। धनुष तोड़ने वाले राम और लक्ष्मण आलम्बन हैं। शिवजी परशुरामजी के गुरु थे। अतएव उनके धनुष को तोड़ कर गुरु का अपमान करना तथा अपना अपराध न मानकर राजपुत्री के साथ विवाह करना उद्दीपन विभाव है। "आज मैं दशरथ को अनाथ कर दूँगा"—यह परशु-राम का कथन अनुभाव है। परशुराम के वाक्यों से गर्व, उग्रता आदि के जो भाव प्रकट होते हैं वे ही संचारी भाव हैं। फलतः पूर्ण रौद्र रस है।

'रौद्र' तथा 'वीर' रस में यद्यपि बहुत से एक समान ही आलम्बन विभाव होते हैं, किन्तु इनमें स्थायी भाव का भेद रहता है। रौद्र में 'क्रोध' स्थायी है और वीर में 'उत्साह'। नेत्र तथा मुख का रक्त होना आदि अनुभाव रौद्र ही में होते हैं, 'वीर' रस में नहीं। संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे विशिष्ट पात्र हैं जो स्वभावतः अपने व्यवहार से रौद्र रस के उत्पादक होते हैं। ऐसे पात्रों में परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन आदि मुख्य हैं और इनके रौद्र व्यवहार को हम भवभूति के वीर चरित तथा भट्टनारायण के वेणीसंहार में भलीभाँति देख सकते हैं।

५—वीररस

स्थायी भाव—उत्साह।

आलम्बन—शत्रु, जिस पर अधिकार प्राप्त करना है।

उद्दीपन—शत्रु का प्रताप, विस्मय, शौर्य आदि, मारू आदि का बजना, युद्ध का तुमुल कोलाहल, आदि।

अनुभाव—हथियारों का चलाना, नेत्रों का लाल होना, शरीर के रोंगटों का खड़ा होना, आदि।

संचारी—मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष।

वीररस के आचार्यों ने चार भेद किये हैं—दानवीर, दयावीर, युद्धवीर तथा धर्मवीर। इनमें युद्धवीर को ही मम्मट ने वीर रस माना है, परन्तु अन्य आचार्यों ने पूर्वोक्त चार भेद किये हैं।

> क्रुद्ध दशानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत।
> लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत॥
> मारु पछारु पुकारु दुहूँ दल, रुण्ड झपट्टि दपट्टि लपट्टत।
> रुण्ड लरैं भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्टनि ठट्टत॥

यहाँ लंका के युद्ध में रीछ वानरों की सेना देखकर रावण के लड़ने का वर्णन है। रावण के हृदय में उत्साह स्थायी भाव है। रीछ तथा वानर लोग आलम्बन हैं। वानरों की नाना क्रीड़ायें तथा लीलायें उद्दीपन विभाव हैं। नेत्रों का लाल होना, शत्रुओं के सिर को काटना, आदि अनुभाव हैं। उग्रता, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं।

६—भयानक रस

स्थायी भाव—भय।

आलम्बन—बाघ, चोर, शून्य स्थान, भयंकर वस्तु का दर्शन।

उद्दीपन—किसी भयानक वस्तु के स्वर, शरीर आदि का डरावनापन; उसकी भयंकर चेष्टायें।

अनुभाव—शरीर का काँपना, पसीना छूटना, मुँह सूखना, मुँह का पीला पड़ना, चिन्ता होना, रोमांच, घिग्घी बँध जाना आदि।

संचारी भाव—दैन्य, संभ्रम, सम्मोह, त्रास आदि।

उदाहरण

> रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं,
> सकैं न बिलोकि बेष केसरी कुमार को।
> मींजि मींजि हाथ धुनि माथ दसमाथ-तिय,
> 'तुलसी' तिलौ न भयौ बाहिर अगार को।
> सब असबाब डारौ मैं न काढ़ो तैं न काढ़,
> जियकी परी को सँभारै भँडार को।
> खीझति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद,
> लुनियत बयो सब याही डाढ़ीजार को॥

हनुमानजी लंका को जला रहे हैं। लंका को जलती देखकर मन्दोदरी का भय स्थायी भाव है। हनुमान आलम्बन विभाव हैं। हनुमान का भयानक वेष, घर-असबाब

का जलना उद्दीपन विभाव है। घबड़ा कर भागना, हाथ का मींजना, माथा पीटना, असबाब को घर में से काढ़ने के लिए तू-तू मैं-मैं करना आदि अनुभाव हैं। विषाद, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। अतः पूर्ण भयानक रस है।

७—बीभत्स रस

स्थायी भाव—जुगुप्सा।

आलम्बन—दुर्गन्धमय मांस, रक्त, अस्थि आदि।

उद्दीपन—रक्तमांस का सड़ना, उसमें कीड़े पड़ना, बुरी दुर्गंध आना, चिड़ियों या पशुओं का इन्हें नोचना-खसोटना आदि से यह उद्दीपन होता है।

अनुभाव—नाक को टेढ़ा करना या सिकोड़ना, मुँह बनाना, थूकना, रोमांच होना, आँखें मींचना आदि।

संचारी भाव—आवेग, आर्ति, शंका, मोह, व्याधि, मरण आदि।

उदाहरण

सिर पै बैठो काग, आँखि दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार, अतिहि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कह खोदि खोदि कै माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान बिचारत॥
बहु चील्ह नोंचि ले जात तुच, मोद मढ़्यो सबको हियो।
जनु ब्रह्म-भोज जिजमान कोउ, आजु भिखारिन कहँ दियो॥

श्मशान का दृश्य है। राजा हरिश्चन्द्र वहाँ पशु-पक्षियों की नाना केलियाँ देख रहे हैं। उन्हें देखकर उनके मन में जो घृणा का भाव उत्पन्न होता है वही है स्थायी भाव। मुर्दों की हड्डी, त्वचा आदि आलम्बन विभाव हैं तथा कौवों का आँख निकालना, स्यार का जीभ को खींचना, गिद्ध का जाँघ को खोद-खोद कर मांस नोचना, कुत्तों का अँगुरियों को काटना—ये सब उद्दीपन हैं। राजा का इनका वर्णन करना अनुभाव है। मोह, स्मृति आदि संचारी भाव हैं। फलतः यहाँ पूर्णरूपेण बीभत्स रस है।

८—अद्भुत रस

स्थायी भाव—विस्मय।

आलम्बन—कोई अलौकिक अथवा आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ या व्यक्ति।

उद्दीपन—अलौकिक वस्तुओं के दर्शन, श्रवण, कीर्तन आदि।

अनुभाव—साधुवाद देना अर्थात् उस पदार्थ की प्रशंसा करना, आँसू आना, काँपना गद्गद् होना।

संचारी भाव—हर्ष, आवेग, धृति आदि।

उदाहरण

गोपी ग्वाल बाल जुरे आपसमैं कहें आली,
कोऊ जसुदा को अवतरचौ इन्द्रजाली है।
कहै 'पदमाकर' करै को यौं उताली जापै,
रहन न पावै कहूँ एकौ फन खाली है।
देखै देवताली, भई विधि के खुशाली, कूदि—
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनम को चाली ए री अद्भुत है ख्याली आजु,
काली की फनाली पै नचत बनमाली है॥

भगवान् श्रीकृष्ण उस भयानक कालिय नाग के सिर पर नाच रहे हैं। ऐसे भयानक दृश्य को देखकर ग्वाल-बाल चकित हो उठते हैं। यही विस्मय स्थायी भाव है। कालिय नाग को नाथ कर यमुना से बाहर खदेड़ना आलम्बन है तो श्रीकृष्ण का उसके सिर पर नाचना उद्दीपन है। ग्वालबालों की विचित्र लीलायें अनुभाव हैं तथा हर्ष उत्सुकता वितर्क आदि संचारी भाव है। अतः पूर्ण अद्भुत रस है।

९—शान्त रस

स्थायी भाव—किन्हीं के मत से 'शम' (चित्त का शान्त होना) और किन्हीं के मत में 'निर्वेद' (संसार के विषयों के प्रति वैराग्य)।

आलम्बन—परमात्मा का चिन्तन, संसार की अनित्यता का ज्ञान।

उद्दीपन—सत्संग, पुण्य आश्रम, तीर्थस्थल की यात्रा या दर्शन करने से यह उद्दीप्त होता है।

अनुभाव—शरीर भर में रोमांच तथा गद्गद् हो जाना।

संचारी भाव—मति, हर्ष, स्मृति आदि।

उदाहरण

भूखें अघाने रिसाने रसाने हितू, अहितून्ह ते स्वच्छ मने हैं।
दूषन भूषन कंचन काँच जु, मृत्तिका मानिक एक गने हैं॥
सूल सों फूल सों माल प्रवाल सों 'दास' हिये सम सुक्ख सने हैं।
राम के नाम सों केवल काम तेई जग जीवन-मुक्ख बने हैं॥

इस पद्य में जीवन्मुक्त होनेवाले सत्पुरुषों का वर्णन है। संसार की असारता आलम्बन है; शम स्थायीभाव है। सन्तों के संग होने से तथा तीर्थ की यात्रा करने से यह भाव उद्दीप्त बनता है। भूख से अघाना, शूल को फूल समझना, सोने को काँच समझना, मिट्टी तथा हीरा को एक समझना—ये सब अनुभाव हैं। चित्त में हर्ष, प्रबोध, वितर्क आदि संचारी भाव हैं। अतः यहाँ पूर्ण शान्त रस है।

शान्तरस के विषय में आचार्यों की विवेचना भिन्न-भिन्न प्रकार की है। धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' तथा धनिक ने उसकी टीका में इसके विषय में आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख किया है जो पूर्व निर्दिष्ट होने पर भी संक्षेप में यहाँ दिया जाता है।

(१) प्रथम मत—शान्तरस प्रस्थानविरुद्ध है

भरत-मुनि का रस वर्णन ही साहित्य-संसार में एकमात्र प्रामाणिक माना जाता है, परन्तु उन्होंने 'शान्तरस' नामक नवम रस का वर्णन कहीं नहीं किया है। अतएव भरत द्वारा प्रतिपादित न होने से शान्तरस नहीं होता।

(२) द्वितीय मत—शम का व्यावहारिक क्षेत्र में अभाव

दूसरे आचार्य शम की सत्ता व्यावहारिक जगत् में ही नहीं मानते। पहिला मत तो शम का अभाव केवल काव्य-नाटक में मानने का पक्षपाती है परन्तु इस द्वितीय मत में उसका सर्वथा अभाव अभीष्ट है। क्योंकि राग-द्वेष का नाश करना एकदम असम्भव है। राग-द्वेष का प्रवाह मनुष्यों में अनादि काल से चला आता है जिसका सर्वथा नाश असम्भव ही है। ऐसी स्थिति में शान्तरस का उदय ही कैसे हो सकता है।

(३) तृतीय मत—अन्तर्भाववाद

इस पक्ष के आचार्य चित्त की शमप्रधान स्थिति मानते हैं अवश्य, परन्तु वे शम को स्वतन्त्र स्थायी भाव नहीं मानते, और न शान्तरस को ही एक स्वतन्त्र रस मानते हैं। इसका अन्तर्भाव वीर तथा वीभत्स आदि मान्य रसों के भीतर हो जाता है। शमप्रधान चित्त में परम तत्त्व के पाने के लिए जो सन्तत प्रयत्न होता है वह उत्साहमय होने से शान्तरस 'वीर' के भीतर अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। इसमें संसार के विषयों से जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल रहता है। तब इसका अन्तर्भाव वीभत्स रस के भीतर हो सकता है। यह मत व्यवहार-क्षेत्र में शम का अपलाप नहीं करता, परन्तु तज्जन्य शान्तरस को स्वतन्त्र रस न मानकर यह उसका अन्तर्भाव वीर तथा वीभत्स आदि विद्यमान रसों के भीतर ही मानता है।

(४) चतुर्थ मत—नाटक में शान्तरस का निषेध

इस मत के अनुसार शान्तरस की स्थिति अवश्य है, परन्तु उसका प्रयोग नाटक

में नहीं हो सकता। व्यापार के विराम होने पर शान्त होता है। शान्तरस वहाँ होता है, जहाँ दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है, न द्वेष है और न चिन्ता, न राग है और न द्वेष—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमः-प्रधानः।

यह स्थिति मोक्षावस्था में ही सम्भव है, परन्तु नाटक में होती है व्यापार की प्रधानता तथा अभिनय की योग्यता। सुख तथा दुःख का, राग तथा द्वेष का, प्रदर्शन नाटक में अभीष्ट होता है। ऐसी दशा में शान्तरस का अभिनय ही क्योंकर हो सकता है? जब उसमें अभिनेय वस्तुओं का सर्वथा अभाव ही होता है। वैराग्ययुक्त शान्तरस का आस्वाद लौकिक रसिक लोक कथमपि नहीं कर सकते। शान्तरस अनिर्वचनीय होता है। अतएव दशरूपककार के मत में शान्तरस का प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता। हाँ, काव्य में उसकी स्थिति सम्भव है; उसका विरोध यह मत नहीं करता।

(५) पंचम मत—शांन्तरस की सार्वत्रिक स्थिति

अभिनवगुप्त का यह मत मान्य तथा अधिक प्रामाणिक है कि शान्तरस काव्य में तथा नाटक में दोनों में अवश्यमेव रहता है। इसके स्थायीभाव के विषय में विभिन्न मतों का उल्लेख 'अभिनव भारती' में बड़े विस्तार के साथ आचार्य ने किया है। इस मत में शान्तरस के स्थायी भाव के विषय में भी मतभेद है। उसकी सत्ता तथा प्रामाणिकता में कथमपि विरोध नहीं। काव्य तथा नाटच दोनों में वह समभावेन रहता है। इतना ही नहीं, इन आचार्यों के मत में शान्तरस ही सबसे श्रेष्ठ रस होता है। यह प्रकृति रस होता है और इतर रस शृंगारादि इसकी नाना विकृतियाँ हैं। काश्मीर के शैवाचार्य अभिनवगुप्त का शान्तरस का प्राधान्य-बोधक यह मत उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल है।

१०—वात्सल्य रस

ऊपर कहा गया है कि प्राचीन आचार्य वात्सल्य को रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। १४वीं शती में विश्वनाथ कविराज ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में इसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया। हिन्दी साहित्य को तुलसी तथा सूरदास ने इस रस की कविताओं से विशेष चमत्कृत किया है। अतः अन्य रसों के साथ इसका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

स्थायी भाव—अपने छोटों—जैसे भाई-बहिन, पुत्र-कन्या आदि—के ऊपर जो प्रेम किया जाता है उसे 'वात्सल्य' कहते हैं। वही स्थायी है।

आलम्बन—भाई-बहिन तथा पुत्र-कन्या।

उद्दीपन—बालक की तोतली बोली सुनकर, उसका सौन्दर्य देखकर, उसकी ललित क्रीड़ा निरख कर यह प्रीतिभाव और भी बढ़ता है। अतः ये उद्दीपन विभाव कहलावेंगे।

अनुभाव—स्नेह से गोद में लेना, आलिंगन करना, सिर सूँघना, सिर पर हाथ फेरना आदि।

संचारी भाव—हर्ष, गर्व आदि।

उदाहरण

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाई कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन मन्दिर में बिहरैं॥

दशरथ के चारों बालकों की नाना लीलाओं को देखकर प्रेमभाव उत्पन्न होता है। अतः वात्सल्य रस।

११—भक्ति रस

'भक्तिरस' के विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। प्राचीन आचार्य इसे देवता-विषयक रति मान कर केवल भावकोटि में ही निर्विष्ट करते थे, परन्तु गौडीय वैष्णवों ने इसे रस ही नहीं माना, प्रत्युत सर्वश्रेष्ठ आदिरस माना है। श्रीरूप गोस्वामी के 'भक्ति-रसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं।

स्थायी भाव—श्रीकृष्णविषयक रति। देवविषयक रति को केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा ही ठहरे। कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। अतः पर-मात्मारूप कृष्ण-विषयक रति देव-विषया रति से भिन्न पदार्थ है। और यहाँ वही स्थायी भाव है।

आलम्बन—श्रीकृष्ण या श्रीराम।

उद्दीपन—भक्तों का समागम, तीर्थ का सेवन, नदी का एकान्त पवित्र स्थल आदि।

अनुभाव—भगवान् के नाम तथा लीला का कीर्तन, गद्गद् हो जाना, आँखों से

आँसुओं का गिरना, पृथ्वी पर लोटपोट हो जाना, कभी हँसना, कभी रोना और कभी नाचना आदि।

संचारी भाव—मति, हर्ष, वितर्क आदि।

उदाहरण

व्याघ हूँ ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह-ते गुनाही, कैसे तिनमों गिनाओगे।
स्यौरी हौं न शूद्र नहीं केवट कहूँ को त्यौं,
न गौतमी-तिया जापै पग धरि जावोगे।
राम सों कहत 'पदमाकर' पुकारि पुनि,
मेरे महापापन को पार हू न पाओगे।
झूठे ही कलंक सुनि, सीता जैसी सती तजी नाथ,
हौं तो साचौं ही कलंकी ताहि कैसे अपनावोगे॥

यहाँ भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार कर क्षमा की याचना करता है। भगवान् के प्रति प्रेम स्थायी भाव है। भगवान् राम इसके आलम्बन हैं तथा साधु की संगति, पवित्र तीर्थ स्थल उद्दीपन विभाव हैं। भगवान से गिड़गिड़ाना, अपने अपराधों को स्वीकार कर लेना तथा उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना—ये सब अनुभाव हैं। मति, चिन्ता, वितर्क आदि संचारी भाव हैं। अतः पूर्ण भक्ति रस।

रसोन्मीलन के विषय में विभिन्न मत

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की सबसे पहिली प्रतिष्ठा अपने 'नाट्यशास्त्र' में की। इस विषय में उनका प्रसिद्ध सूत्र है—**विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संयोग के रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा लगता है विचार करने में यह उतना ही सारगर्भित है। भरत की इस सूत्र की व्याख्या बड़ी ही सीधी-सादी है, परन्तु उनके टीकाकारों ने इसके व्याख्यान में अपनी प्रतिभा तथा विशिष्ट मत का पूरा उपयोग किया है।

(१) लोल्लट का उत्पत्तिवाद

हम पहिले कह आये हैं कि किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाटक के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है वह 'रस' कहलाता है। भट्ट लोल्लट की व्याख्या इस प्रकार है। विभाव अनुभाव तथा संचारीभाव—इन तीनों के सम्यक् योग से (संयोग से) रस की उत्पत्ति (निष्पत्ति) होती है परन्तु रस के प्रति ये

तीनों एक रूप से कारण नहीं होते। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है। इसलिए रस होता है उत्पाद्य और विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) होता है उत्पादक। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीति के योग्य होता है अर्थात् अनुभावों को देखकर हम जान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति के हृदय में रस उत्पन्न हुआ है। संचारी भाव के द्वारा रस की पुष्टि होती है। अतः दोनों में पोष्य पोषक भाव सम्बन्ध है। अतः पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव रस के प्रति तीन प्रकार से उत्पादन की योग्यता रखते हैं और इन तीनों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। इस रस की उत्पत्ति मुख्यतः राम में होती है क्योंकि वे ही सीता से प्रेम करते हैं और सीता को देखकर राम के ही हृदय में एक मनोरम भाव अंकुरित होता है जो अनुकूल परिस्थितियों में परिपुष्ट होकर प्रेम का रूप धारण करता है। इस प्रकार राम में ही रस उत्पन्न होता है। इसी का अनुकरण नट अपनी योग्यता तथा प्रतिभा के बल पर करता है। अतः नट में राम की अवस्थाओं के अनुकरण करने के कारण हम मान लेते हैं कि नट में भी रस होता है। परन्तु यह एक भ्रान्ति है जो क्षणिक होती है और इसी क्षणिक भ्रान्ति से दर्शकों को आनन्द आता है। रस दर्शक में नहीं होता है, वह होता है मुख्यतया राम में और काल्पनिक रूप से उसके अनुकर्ता नट में। विभावादि के द्वारा रस की उत्पत्ति होती है। भट्ट लोल्लट का यही मत है। रस का उत्पत्तिवाद ही उनका सिद्धान्त है।

इस व्याख्यान में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि यह दर्शक या सामाजिक में रस की सत्ता नहीं मानता, तब दर्शकों का नाटक के प्रति इतना आकर्षण क्यों? क्या क्षणिक भ्रान्ति से इतना गाढ़तम आनन्द उत्पन्न हो सकता है? न राम ही वर्तमान हैं और न सीता ही, तब राम में रस के प्रादुर्भाव का प्रसंग ही नहीं आता। राम तथा सीता को इस भारत भूमि से गये न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गईं, तब उनका वर्तमान अभिनय से सम्बन्ध ही क्या? आज तो इसका आस्वादनकर्ता सामाजिक ही है, परन्तु उसमें रस का सर्वथा निषेध किया जा रहा है। इन्हीं कारणों से यह मत उचित नहीं प्रतीत होता।

(२) शंकुक का अनुमितिवाद

श्री शंकुक ने भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद की विरुद्ध टीका करके अपनी एक नई व्याख्या दी है। वह 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। विभावादि अनुमापक होते हैं और रस होता है अनुमाप्य। दोनों में अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्वन्ध है। जिस प्रकार 'धूम की सत्ता होने से यह पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमान नैयायिक पद्धति पर किया जाता है, उसी प्रकार विभाव आदि के अनुकरण करने से हम अनुमान करते हैं कि यह नट रस से युक्त है। अभिनय की कला में चतुर तथा काव्य नाटक में व्युत्पत्ति रखने वाला नट रंगमंच के ऊपर इतनी रोचकता से मूल पात्रों का अभिनय करता है कि दर्शक आनन्द से

विभोर हो उठता है क्योंकि वह नट को ही राम से अभिन्न समझता है ठीक 'चित्रतुरंग' की तरह। जिस प्रकार चित्र में चित्रित तुरंग वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी घोड़ा माना ही जाता है; उसी प्रकार नट भी अपनी अभिनयकुशलता के कारण राम से भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही माना जाता है। अतः राम में जो रस वस्तुतः उत्पन्न होता है वही रस नट में भी अनुमान के द्वारा आरोपित किया जाता है। सामाजिक, नट के द्वारा रत्यादि भाव का प्रकाशन देखता है और यह अनुमान कर लेता है कि नट के हृदय में रत्यादि भाव रस के रूप में परिणत हो रहे हैं। सामाजिक का यह अनुमान नैयायिक अनुमान की तरह नहीं होता, प्रत्युत विलक्षण अनुमान होने से रसपूर्ण होता है तथा सामाजिक को स्वयं भी रसानुभाव होता है

श्री शंकुक का यही मत है। इस मत में भी रस की स्थिति रामादि पात्रों में ही मानी गई है; किन्तु पूर्व मत के समान श्री शंकुक सामाजिकों में रस का सर्वथा अभाव नहीं मानते। वस्तुतः रस राम में ही रहता है और तदुपरान्त नट में अनुमानतः सिद्ध माना जाता है। दर्शक को इस अनुमान से ही यत्किञ्चित् आनन्द आता है। परन्तु प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान में विशेष आनन्द नहीं आता।

(३) भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक ने रस की व्याख्या में सबसे पहिले दर्शक या सामाजिक के महत्त्व को अंगीकार किया। ये रस को न तो उत्पन्न मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस को भुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोज्य तथा विभावादि हैं भोजक। दोनों में भोज्य-भोजक सम्बन्ध है। भट्टनायक काव्य में 'अभिधा' व्यापार के अतिरिक्त अन्य दो व्यापारों को भी मानते हैं जिनके नाम हैं भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार। अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। 'भावकत्व' का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के बल पर नाटक में अभिनीत व्यक्ति अपने ऐतिहासिक और व्यक्तिगत निर्देशों को छोड़कर सामान्य प्राणी के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक रस का भोग करता है। इस अवसर पर उसके हृदय में राजस तथा तामस भाव बिल्कुल दब जाते हैं और सत्त्वगुण का एकमात्र अतिशय हो जाता है। सात्त्विक भाव के उदय होने पर ही रस की भुक्ति होती है। इस मत के अनुसार सूत्र में 'संयोग' का अर्थ है भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

यह मत रससिद्धान्त को समझाने में एक प्रबल तथा युक्तियुक्त सिद्धान्त माना जाता है। इस मत में दर्शक में रस का निवास माना जाता है जो यथार्थ है। साधारणी-

करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन भट्टनायक के मनोवैज्ञानिक अनुशीलन का परिचायक है। अभिनवगुप्त ने भोगवाद को न मानकर भी साधारणीकरण व्यापार को माना है। परन्तु भट्टनायक ने जिन नये दो व्यापारों को काव्य में माना है उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे प्रमाणहीन तथ्य के ऊपर अपने विलक्षण सिद्धान्त की इमारत खड़ी करना एकदम अनुचित है।

(४) अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त साहित्यशास्त्र में एक महनीय ध्वनिवादी आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे आनन्दवर्धन के ध्वनितत्त्व के व्याख्याकार हैं तथा भरतमुनि के रसतत्त्व के भी व्याख्याता हैं। फलतः रस भी ध्वनि के प्रभेदों में अन्यतम प्रभेद है। यह रस अभिधा शक्ति के द्वारा न वाच्य होता है और न लक्षणा के द्वारा लक्ष्य, प्रत्युत व्यञ्जना शक्ति के द्वारा यह अभिव्यक्त किया जाता है। इस प्रकार रस तथा विभावादिकों में व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। विभावादि होते हैं व्यञ्जक तथा रस होता है व्यंग्य। मनोविज्ञान की दृढ़-भित्ति पर प्रतिष्ठित होने के कारण यह सिद्धान्त नितान्त लोकप्रिय तथा पूर्ण माना जाता है।

इस तथ्य की मीमांसा के लिए दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक श्रोता या वक्ता में प्रेम, शोक, क्रोध आदि के भाव सदा विद्यमान रहते हैं। संसार में रोज-रोज का अनुभव करने से हमारे हृदय में नाना भाव एकदम स्थिर होकर नित्य स्थित रहते हैं। विभावादि के देखने से यही सुप्त भावना जाग्रत होकर प्रबुद्ध हो जाती है। अभिनवगुप्त के सिद्धान्त में 'वासना' का इसीलिए बड़ा महत्त्व है। यदि सहृदय के हृदय में ये भाव वासना रूप से स्थित नहीं होते, तो उनका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता। क्या कारण है कि हरिश्चन्द्र नाटक के देखने से एक व्यक्ति की आँखों से भावावेश में आँसुओं की झड़ी लग जाती है और दूसरे व्यक्ति के नेत्र पसीजते भी नहीं? राम-रावण युद्ध को देखने से एक का हृदय मानों जलने लगता है, उत्साह से वह प्रफुल्लित हो उठता है वहाँ दूसरा व्यक्ति जड़ता की मूर्ति बना हुआ सब दृश्यों को उदासीनता से देखता रहता है। इस व्यावहारिक अन्तर को अभिनवगुप्त ने 'वासना' के सिद्धान्त पर समझाया है। जिस व्यक्ति में पूर्ण वासना विद्यमान रहती है, वही तो रस का अनुभव करता है। जिसमें वह नहीं रहती, वह काठ के समान जड़ रहता है और रस का अनुभव किसी प्रकार नहीं कर सकता। इसलिए अभिनवगुप्त का यह तथ्य नितान्त मनोवैज्ञानिक है।

दूसरी बात है—साधारणीकरण की। ललित कला की अनुभूति के अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारण रूप से तथा सम्बन्ध-रहित होकर ही स्वीकृत किया जाता है। किसी उपवन में खिले फूल को देखिए। गुलाब के फूल को देखते ही जब चित्त प्रफुल्लित

हो उठता है, तब दर्शक के हृदय में कौन-सी भावना जागती है ? यदि आप उसे 'अपना' समझते, तो उसे तोड़ने के लिए आगे बढ़ते । शत्रु का फूल समझते, तो उससे द्वेष उत्पन्न होता । किसी तटस्थ व्यक्ति का मानते, तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती । फलतः वह गुलाब का फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रु का है; और न किसी उदासीन व्यक्ति का है । इस विषय में न तो सम्बन्ध का ग्रहण ही हो सकता है और न सम्बन्ध का परिहार ही हो सकता है ।

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥
(साहित्यदर्पण ३।१२)

वस्तु को केवल साधारण रूप में ही लेना होगा । गुलाब का फूल सुन्दर वस्तु का प्रतीकमात्र होता है । राम दशरथ के पुत्र न होकर केवल एक वीर के रूप में तथा सीता एक सुन्दरी के रूप में प्रतिष्ठित होती हैं । तभी रस की अभिव्यक्ति होती है । रसाभिव्यक्ति की दशा में सब वस्तुओं का साधारणीकरण होता है—केवल आलम्बन विभाव या आश्रय का ही नहीं, प्रत्युत सभी तत्त्व अनुभवादिकों का ही हो जाता है । सामाजिक भी अपने को साधारण रूप में ही ग्रहण करता है । वह नहीं मानता कि केवल वही उस रस का अनुभव करता है, प्रत्युत सब सामाजिकों को रस का अनुभव-कर्ता मानता है । इन दोनों आधारों से अभिनवगुप्त ने अपना सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक भित्ति पर प्रतिष्ठित किया है ।

रस का आनन्द अलौकिक होता है । लौकिक आनन्द सीमित होता है, अलौकिक अपरिमित होता है । इसका आस्वाद प्रपाणकरस के स्वाद के समान होता है । 'प्रपाणक' (शरबत) में एला, लवंग, मिर्च, मिश्री आदि के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है जिसमें प्रत्येक वस्तु के आस्वाद से भिन्न प्रकार का आस्वाद उत्पन्न होता है । इसी के समान रस के आनन्द में भी विभाव आदि के आस्वादों से भिन्न आस्वाद उत्पन्न होता है । रस के अलौकिकत्व का यह रहस्य है कि जो वस्तु संसार में भय या शोक भी उत्पन्न करती है या क्रोध का कारण बनती है वही वस्तु काव्य में वर्णन होने पर केवल आनन्द ही उत्पन्न करती है । इसीलिए क्रोध स्थायी भाव वाला रौद्र रस भी आनन्द का ही उत्पादक होता है । भयानक भी रस होता है । घृणाजनक वीभत्स भी आनन्दरूप होता है । इसीलिए रस 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहलाता है । अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का यही संक्षेप रूप है ।

रस का स्वरूप

रस के स्वरूप के विषय में अर्वाचीन आलोचकों तथा प्राचीन आलंकारिकों में

पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। रस के आस्वाद का स्वरूप क्या है? इसके विषय में बड़ा मतभेद है। आलोचकों का बहुमत इसी पक्ष में है कि रस आनन्दरूप और सुखात्मक है परन्तु कतिपय आलोचकों की दृष्टि में रसों की सुखानुभूति में तारतम्य है। एक ही प्रकार की सुखात्मिका अनुभूति प्रत्येक रस के आस्वाद में उत्पन्न नहीं होती। किसी में इस अनुभूति की मात्रा तीव्र होती है और किसी में सौम्य। अनेक आलोचक सब रसों में इस अनुभूति को सुखात्मक भी नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में रस की अनुभूति निश्चित रूप से सुखात्मक है; परन्तु करुण, भयानक, वीभत्स और रौद्र रसों की अनुभूति दुःखात्मक है—या सुख और दुःख का मिश्रण है।

भारतीय आलंकारिकों की दृष्टि में रस आनन्दात्मक ही होता है परन्तु कुछ आलोचक रस को दुःखात्मक मानने के पक्षपाती हैं :—

(क) नाट्यदर्पण के रचयिता **रामचन्द्र और गुणचन्द्र** ने इस मत का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। उनका सिद्धान्त है कि 'सुखदुःखात्मको रसः' अर्थात् रस में सुख और दुःख दोनों होते हैं। भयानक, वीभत्स, रौद्र तथा करुण रस के वर्णनों के श्रवण अथवा दर्शन से श्रोता तथा दर्शकों के चित्त में एक विचित्र प्रकार का क्लेश होता है। इन रसों के अभिनय से इसीलिए दर्शक उद्विग्न होते हैं। सुख के आस्वाद से उद्वेग उत्पन्न नहीं होता। अतः उद्वेग का उदय ही स्पष्ट प्रमाण है कि इन रसों की अनुभूति सुखात्मक नहीं है। दुःखात्मक अनुभूति होने पर भी सामाजिक की प्रवृत्ति इसीलिए होती है कि कवि की शक्ति और नट के कौशल से वस्तु के प्रदर्शन में विचित्र चमत्कार का उदय होता है। इसी चमत्कार से दर्शक दुःखात्मक दृश्यों को भी देखने के लिए व्याकुल रहता है। दर्शक की प्रवृत्ति का यही कारण है। 'रसकलिका' के लेखक रुद्रभट्ट इसी मत से सहमत हैं। वे भी करुणरस की अनुभूति को दुःखात्मक मानते तथा रस को सुख-दुःख दोनों के मिश्रित रूप में स्वीकार करते हैं।

(ख) प्रसिद्ध अद्वैतवादी **मधुसूदन सरस्वती** भी इस मत का आंशिकरूप से समर्थन करते हैं। उन्होंने सांख्य तथा वेदान्त पक्ष का अवलम्बन कर रस-निष्पत्ति की द्विविध प्रक्रिया बतलाई है। सांख्य मतानुयायी व्याख्या में रस की अनुभूति के अवसर पर 'आनन्द' में तारतम्य दिखलाया है। उनके मतानुसार क्रोधमूलक रौद्र-रस में तथा शोकमूलक करुण-रस में विशुद्ध आनन्द की सत्ता नहीं होती, प्रत्युत रज तथा तम के मिश्रण के तारतम्यानुसार उनके आनन्द में तारतम्य बना रहता है। इसी से सब रसों में एक समान सुख का अनुभव नहीं होता।

परन्तु रसानुभूति का यह एक पक्ष है जो युक्तिहीन होने से न तो माननीय है और

न आदरणीय ही। इसका कारण गम्भीर है। अखिल विश्व में व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य कर तैत्तिरीय श्रुति कहती है :—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।"

वह रसरूप है। रस को ही पाकर संसार का प्राणी आनन्दी होता है। यह रसात्मक ब्रह्म जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जब रम रहा है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि इन पदार्थों में रस के उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। सच तो यह है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है और काव्य में गृहीत होने पर आनन्ददायक है। भाव दो प्रकार के होते हैं—(१) बोध्यनिष्ठ और बोद्धृनिष्ठ—अर्थात् वर्णनीय विषय में रहनेवाला तथा बोद्धा—सामाजिक—के हृदय में रहनेवाला। इन दोनों में से बोध्यनिष्ठ स्थायीभाव अपने स्वभावानुसार सुख दुःख तथा मोह की उत्पत्ति का कारण बनता है परन्तु बोद्धा सामाजिक के चित्त में रहनेवाले समस्त भाव केवल सुख के ही कारण होते हैं।

इस पार्थक्य का एक गम्भीर कारण है। भाव दो प्रकार के होते हैं—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक भावों का सम्बन्ध संसार से है और इसलिए वे संसार के नाना परिणामों को उत्पन्न करते हैं। कभी वे सुखदायक होते हैं और कभी दुःखदायक। कभी वे मोह पैदा करते हैं और कभी शोक। वे ही भाव काव्य में वर्णित तथा नाट्य में प्रदर्शित होने पर अलौकिक कहलाते हैं। अलौकिक भाव केवल आनन्द के ही जनक होते हैं। लौकिक भाव वैयक्तिक होते हैं—वे किसी विशेष व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अलौकिक भाव साधारणीकृत होते हैं अर्थात् वे सर्वसाधारण के ही होते हैं। मनुष्य लोक में अपनी वस्तु से प्रेम उत्पन्न होता है, शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न होता है और तटस्थ व्यक्ति की वस्तु से उदासीनता उपजती है, परन्तु शब्द के माध्यम द्वारा वर्णित होते ही इन भावों में एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वे व्यक्तिगत सम्बन्ध से दूर हटकर सर्वसाधारण के भाव बन जाते हैं। इस दशा में उनसे आनन्द ही उत्पन्न होता है। रंग-मंच पर अभिनीत 'शकुन्तला' किसी प्राचीन युग की सुन्दरी नहीं होती, प्रत्युत वह कमनीय नायिका की प्रतिनिधि बनकर ही वहाँ उपस्थित होती है। इस साधारणीकरण व्यापार के द्वारा प्रत्येक काव्य-वस्तु किसी व्यक्ति का सम्बद्ध पदार्थ न होकर रसिकमात्र से सम्बद्ध बन जाती है तथा अलौकिक होने से वह केवल आनन्द ही उत्पन्न करती है। रस के सुखा-त्मक होने में यही बीज है।

रस की अनुभूति

रस का अनुभव द्रष्टा (दर्शक) होने पर ही होता है, प्रकृति में लीन होने पर नहीं। 'द्रष्टा' का अर्थ है तटस्थरूप से किसी वस्तु के रूप को देखनेवाला। यदि हमें तटस्थरूप

से पदार्थों के देखने की क्षमता नहीं है, तो हम रस का अनुभव भी नहीं कर सकते। काव्य की अनुभूति का यही तत्त्व है। कला में भी यही नियम संगत होता है। यह अनुभूति न न्याय मत में ठीक उत्पन्न होती है, न सांख्य मत में। इसके लिए बहुत ही गम्भीर तथा व्यापक कारण हैं। वेदान्त मत के अनुसार रस की व्याख्या आचार्यों ने, विशेषतः पण्डित-राज जगन्नाथ ने, अवश्य की है, परन्तु वह ठीक जमती नहीं। वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों के साथ रस-प्रक्रिया के तथ्यों का मेल नहीं खाता। दोनों में कतिपय मौलिक अन्तर हैं।

वेदान्त के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द और (३) रसानन्द। ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। वह स्वय आनन्दरूप है। उसी आनन्दमय ब्रह्म से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। आनन्द की उच्चतम कोटि ब्रह्मानन्द है जिसके अन्तर्गत जगत् के समस्त आनन्द सिमिट कर एकत्र हो जाते हैं। उपर्युक्त तीनों आनन्दों में विषयानन्द हेय है तथा अन्य दोनों आनन्द उपादेय हैं। विषयानन्द की अपेक्षा रसानन्द नितान्त विलक्षण और उदात्त है। विषयानन्द लौकिक है और रसानन्द अलौकिक। ब्रह्मानन्द और रसानन्द में आकाश-पाताल का अन्तर है। ब्रह्मानन्द वासना या कामना के नाश से उत्पन्न होता है परन्तु रसानन्द में वासना का नाश नहीं होता, प्रत्युत वासना का शोधन होता है। जगत् की दशा में 'वासना' होती है अशुद्ध, जो हमें विषय की ही ओर ले जाती है। इस वासना का जब नाश होता है, तभी वेदान्तसम्मत मुक्ति का उदय होता है। उधर रसदशा में वासना की आवश्यकता बनी रहती है। स्थायी भाव रस के रूप में परिणत होता है और यह स्थायी भाव ही वासनारूप होता है। अतः वेदान्त की प्रक्रिया में रस की निष्पत्ति ठीक नहीं जमती। वेदान्त में काम का सर्वथा उन्मूलन अभीष्ट होता है। परन्तु रसशास्त्र में काम का शोधन आवश्यक होता है। वासना में एक बड़ा दोष रहता है कि वह सकाम हुआ करती है। सकाम भाव को निष्काम भाव में परिणत करने पर ही रस का उन्मीलन होता है। इसका नाम है साहित्य में—भाव-शुद्धि; बौद्धदर्शन में 'परावृत्ति' तथा आधुनिक मनोविज्ञान में 'सब्लिमेशन' (उदात्तीकरण)। भावों की अशुद्धि का कारण होता है उनका व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध। 'मेरी यह रति है'—यह सम्बन्ध स्थापित करते ही वह भाव हीन तथा अशुद्ध हो जाता है। व्यक्ति सम्बन्ध से हटाते ही वह विशुद्ध बन जाता है। अतः भाव-शोधन का कार्य आलोचना-शास्त्र 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा करता है।

निष्कर्ष यह है कि 'ब्रह्मानन्द' वासना के क्षय पर आश्रित आनन्द है और 'रसानन्द' वासना की शुद्धि पर अवलम्बित आनन्द है। अतः वह पहिले से भिन्न है। इसीलिए रस 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहलाता है ब्रह्मानन्दरूप नहीं। इस पार्थक्य का यह मुख्य कारण है। अन्य कारणों का उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ और अभिनवगुप्त ने रस की बड़ी मीमांसा की है। अभिनवगुप्त का मत है कि वस्तुतः आनन्द ही रस है। रस एक है अनेक नहीं। रस, रस ही है। उसके लिए किसी पर्यायवाची शब्द की आवश्यकता नहीं है। रस ब्रह्म के समान है। जिस प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और नानात्मक विकृतियाँ असत्य हैं, उसी प्रकार शृंगार, हास्य आदि रस की अनेकता तथा पःर्थक्य वस्तुतः असत्य है। रस ही एकमात्र सत्य है। रस अंशी है। शृंगारादि रस उसके अंशमात्र हैं। अभिनवगुप्त ने मूलस्थानीय रस के लिए 'महारस' शब्द का प्रयोग किया है तथा अंशभूत रसों को केवल 'रस' कहा है। रस की एकरूपता की सिद्धि के लिए भरत ने निम्नांकित विख्यात वाक्य में एकवचन का ही प्रयोग किया है :—

"न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

कवि कर्णपूर ने 'अलंकार-कौस्तुभ' में लिखा है कि आनन्दमय रस ही 'महारस' है। अन्य रस उस मूल महारस के केवल विकारमात्र हैं। इसलिए रस वस्तुतः एकरूप ही है। भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धान्त है—एको रसः।

नाट्य रस

नाट्य, रस के उन्मेष का सब से अधिक रम्य प्रतीक है। इसीलिए भरतनाट्य-शास्त्र में उसे नाट्यरस की संज्ञा प्राप्त है। नाट्य रस की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है :—

(१) नाट्य के समुदायरूप से उत्पन्न रस।
(नाट्यात् समुदायरूपात् रसः)

(२) नाट्य ही रस है। रस-समुदाय ही नाट्य है।
(नाट्यमेव रसः। रससमुदायो हि नाट्यम्)

इसका तात्पर्य यह है कि नाट्य, रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है। यह व्याख्या काव्य में रस की सत्ता का निराकरण नहीं करती। नाट्य रस के उपकरणभूत विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् अनुभव कराता है। यही योग्यता जब श्रव्य काव्य को भी प्राप्त होती है तभी काव्य में रस का आस्वादन उत्पन्न होता है। काव्य में भी यह 'प्रत्यक्ष साक्षात्कार' कवि की अलौकिक वर्णनशक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का यह सम्माननीय सिद्धान्त है :—

रस नाट्यायमान ही होता है। काव्यार्थ के विषय में भी प्रत्यक्षकल्प साक्षात्कार के उदय पर ही रस का उदय सम्पन्न होता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि रूपक की पूर्वोक्त रमणीयता कविजन्य है अथवा नटजन्य है ? इस विषय में भारतीय आलोचकों की यह स्पष्ट सम्मति है कि नाटक की रोचकता में नट की अपेक्षा कवि का चमत्कार अधिक होता है। इसलिए भोजराज अभिनेता की अपेक्षा कवियों को तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य (रूपक) को समधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करने के पक्षपाती हैं।

"अतो अभिनेतृभ्यः कवीनेव बहु मन्यामहे।
अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति॥"

दृश्य तथा श्रव्य काव्यों की मौलिक एकता संस्कृत आलोचना में विद्यमान रहती हैं। कारण यह है कि दोनों समान प्रतिभा के विलास हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र में रूपक का रचयिता तथा श्रव्य काव्य का निर्माता दोनों ही समान रूप में 'कवि' कहलाते हैं। पाश्चात्य साहित्य में 'ड्रामेटिस्ट' (नाटककार) तथा 'पोयट' (कवि) में शब्दतः तथा अर्थतः पार्थक्य किया जाता है परन्तु हमारे साहित्य में दोनों ही कवि हैं। समस्त साहित्यिक रचना काव्य के नाम से अभिहित की जाती है और यही काव्य रूपक, श्रव्य काव्य और गीत काव्य आदि नाना विभेदों में विभक्त किया जाता है। रसात्मक काव्य के द्वारा सामाजिकों के हृदय में रागात्मिका वृत्ति का उदय करानेवाली वस्तु को काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य में कवि स्वयं वर्णन, कथन तथा चित्रण के द्वारा वह अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देता हैं जिससे श्रोता के हृदय में शीघ्र ही रस का उन्मीलन होता है। रूपक में भी यही कार्य है, यही ध्येय है परन्तु यह सम्पन्न किया जाता है नटों के द्वारा। अतः आनन्द के उदय की दृष्टि से दोनों में यही तारतम्य है। महिमभट्ट ने इस विषय का एक प्राचीन पद्य अपने व्यक्ति-विवेक में उद्‌धृत किया है :—

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरंजितम्॥

पाश्चात्य आलोचक भी इस मत से सहमत हैं। अरस्तू का कहना है कि महाकाव्य के समान ही, दुःखान्त रूपक, अभिनेय के विना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है—केवल पठनमात्र से वह अपनी शक्ति का उन्मीलन करता है। अनेक पश्चिमी विद्वानों का यह विचार है कि नाटक के लिए 'अभिनेयता' अत्यन्त आवश्यक गुण नहीं है। परन्तु 'काव्यत्व' होना अनिवार्य है। इन पश्चिमी आलोचकों के मतानुसार भी दृश्य तथा श्रव्य काव्य की मौलिक एकता सिद्ध होती है।

प्रकृति और रस

कवि अपने काव्य में प्रकृति का वर्णन बड़ी सजीवता के साथ करता है। प्रकृति

श्रौर रस में क्या सम्बन्ध है ? यह विचारणीय प्रश्न है। प्रकृति क्या किसी विशिष्ट रस के उदय में समर्थ होती है ? प्रकृति से रस या भाव के उदय के संबंध में श्रालोचकों में वैमत्य नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह भाव या रस सर्वथा सब परिस्थितियों में एक ही रूप रहता है अथवा नाना भावों या नाना रसों का श्राविर्भाव परिस्थिति की अनुकूलता या विषमता के कारण हुआ करता है।

आनन्दवर्धन की दृष्टि में संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं होता जो विभाव का रूप धारण कर रस का अंश नहीं बन जाता। रस आदि चित्तवृत्ति विशेष ही तो हैं। ऐसी दशा में उस पदार्थ का सर्वथा अभाव है जो किसी विशिष्ट चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता अर्थात् जगत् का क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थ, महान् से महान् पदार्थ द्रष्टा के हृदय में किसी विशेष चित्तवृत्ति को अवश्यमेव उत्पन्न करता है। यदि वह किसी चित्तवृत्ति का उत्पादन नहीं करता तो काव्य का विषय ही नहीं बन सकता।

प्रकृतिगत पदार्थ इस नियम का अपवाद नहीं है। सुतरां वे भी द्रष्टा के हृदय में किसी विशिष्ट वृत्ति के उत्पादन की क्षमता रखते हैं। आनन्दवर्धन की स्पष्ट उक्ति है :—

भावान् अचेतनानपि चेतनवत् अचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

आनन्दवर्धन के इस कथन का यही तात्पर्य है कि बाह्य प्रकृति में स्वतः किसी विशिष्ट भाव की सत्ता नहीं होती। कवि ही अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार उसमें परिस्थिति के अनुकूल भावों का आरोप किया करता है।

संस्कृत के भावुक कवियों का प्रकृति वर्णन आनन्दवर्धन के नियम का साक्षात् परिचायक है। मेघदूत के विरह से विधुर यक्ष की दृष्टि में निर्विन्ध्या नदी वियोगसन्तप्ता नायिका के समान अपना दयनीय जीवन बिता रही है—वियोग की आग में झुलसी हुई नायिका के समान नायक (मेघ) के सौभाग्य की सूचना दे रही है :—

वेणीभूत-प्रतनुसलिला सावतीतस्य सिन्धुः,
पाण्डुच्छाया-तटरुह-तरुभ्रंशिभिः जीर्णपर्णैः।
सौभाग्य ते सुभग ! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥

(मेघदूत, पूर्वभाग, श्लोक २९)

प्रकृति और भाव

बाह्य वस्तु का प्रथम प्रभाव कवि के चित्त पर पड़ता है। वह उसके निरीक्षण में तन्मय होकर अपने चित्त में एक विशिष्ट वृत्ति का उदय कराता है। यह हुआ कवि-

चित्त में रस-संचार। प्रकृति के स्पर्श से कवि के चित्त में कौन-सा भाव उठेगा ? यह प्रधानतया कवि की तत्कालीन चित्तावस्था ('मूड') पर अवलम्बित होता है। इस विषय में मनोवैज्ञानिक मिचेल का यह कथन मनन करने योग्य है कि सूर्य से उद्भासित समुद्र के ऊपर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो वह सरल भाव से अथवा कपट भाव से मुसकाता दीख पड़ता है। यह सब हमारी मानसिक अवस्था का एक विशिष्ट व्यापार होता है।

प्रकृति की एकरूपवाली (एकात्मिका) आकृति दर्शकों की चित्तवृत्ति की भिन्नता के कारण नाना रूप धारण करती है। रात की एकान्तता में जोर से बहनेवाली हवा का स्पर्श किसी के चित्त में भय, किसी के चित्त में शान्ति आदि भावों को उत्पन्न करता है। प्रकृति न तो स्वतः भय का संचार करती है और न स्वतः शान्ति का उद्गम करती है। यह अनुभवकर्ता की चित्तवृत्ति की ही विषमता है जो उसे नाना रूपों में अंकित करती है।

मूल रस की मीमांसा

ऊपर प्रतिपादित किया गया है कि मूलतः रस एक ही है और स्थायी भाव की भिन्नता के कारण उसी से नाना रसों का उदय होता है। अब विचारणीय प्रश्न है कि वह मूल रस कौन है ? प्रकृतिरस कौन है ? जिसकी विकृति नाना रसों के द्वारा उपस्थित की जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं तथा उनके भिन्न-भिन्न तर्क हैं।

(१) भवभूति—करुणरस

महाकवि भवभूति की सम्मति में करुणरस ही वह मूलभूत रस है। इस मत का प्रतिपादन उन्होंने अपने 'उत्तर रामचरित' नाटक के इस प्रख्यात पद्य में किया है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त-बुद्बुद-तरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा, सलिलमेव तु तत् समग्रम्॥
(तृतीय अंक)

मुख्य रस एक ही है और वह करुण ही है। वह निमित्त की भिन्नता से, कारणों के भेद से, भिन्न-भिन्न विकृति को प्राप्त होता है। करुण ही स्थायी भावों की भिन्नता के कारण शृंगारादि रसों के रूप में अवतीर्ण होता है। इस विषय में उसकी तुलना जल से की जा सकती है। हवा के झोंकों के अन्तर के कारण वही जल कभी आवर्त बन जाता है, कभी वही बुद्बुद बन जाता है और कभी वह उत्ताल तरंगों का रूप धारण

करता है। वह सब जल ही जल होता है, परन्तु निमित्त के कारण विभिन्न आकारों को धारण करता है। करुण रस की भी यही स्थिति होती है।

करुण रस में शोक स्थायी भाव रहता है। अतः किसी प्रियजन की मृत्यु से जो शोक उत्पन्न होता है वही इस रस में स्थायी भाव माना जाता है। फलतः मृत्यु से आनन्द की उत्पत्ति व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित तथा विरुद्ध है; इसलिए इसकी मीमांसा हमारे आचार्यों ने बड़ी छान-बीन के साथ की है। उनका कथन है कि शोक में दुःखाभिव्यञ्जना की शक्ति तभी तक है जब तक वह लौकिक विषयों के साथ सम्बद्ध रहता है। काव्य तथा नाटक में प्रदर्शित होते ही शोक अलौकिक वस्तु की विभावना करने लगता है और तब उससे आनन्द की ही प्राप्ति होती है; दुःख का उदय नहीं होता।

अलौकिक-विभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया।
सद्युक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यात् सुव्यक्तमिति स्थितिः।
(भक्ति-रसामृत-सिन्धु २।५।१०६)

करुण रसात्मक नाटक के देखने का आग्रह भी इसीलिए होता है कि वे आनन्द-दायक होते हैं। दुःख की प्रतीति होने पर उनके पास कोई भी नहीं फटकता। दुःख की निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होती है, दुःख की प्राप्ति के लिए नहीं। सीता-वनवास; सत्य हरिश्चन्द्र आदि करुणरस से संवलित नाटकों का अभिनय उसी प्रकार आकर्षक होता है जैसे मिलन-प्रधान नाटकों का। आँसुओं का गिरना, रोमांच का होना चित्त के द्रवीभूत होने से ही होता है। यह आनन्द के अभिव्यञ्जक चिह्न हैं, शोक के नहीं :—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥

एक बात और। दुःख होने पर सहानुभूति का उदय सुख होनेवाली घटनाओं की अपेक्षा अधिक होता है। दुःख में दुःखी होना समचित्तता तथा सहानुभूति का प्रकट चिह्न होता है। फलतः करुण का आकर्षण विश्वव्यापी है और अधिकतम व्यापक है। इसलिए भवभूति के द्वारा करुण के आदिरस मानने की उक्ति को हम तर्कयुक्त मान सकते हैं।

(२) भोजराज—शृंगाररस

भोजराज (१२ शती) शृंगाररस को प्रकृतिरस मानने के पक्षपाती हैं। उन्होंने 'शृंगारप्रकाश' नामक विपुलकाय तथा प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना इसी तत्त्व के प्रतिपादन के निमित्त की है। उनका स्पष्ट कथन है—

शृंगार - वीर - करुणाद्भुत - रौद्र - हास्य-
बीभत्स - वत्सल - भयानक - शान्तनाम्नः।

आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥
(शृंगार प्रकाश)

उनकी शृंगाररस की कल्पना विलक्षण है। वे शृंगार को अभिमानरूप मानते हैं और इसे अन्य रसों के भीतर प्राणरूप से प्रतिष्ठित मानते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान इस मत की वैज्ञानिकता की यथेष्ट पुष्टि करता है। इसीलिए शृंगार को रसराज के नाम से पुकारते हैं।

(३) नारायण पण्डित—आश्चर्यरस

साहित्यदर्पण के अनुशीलन से पता चलता है कि विश्वनाथ कविराज (१४ शती) के पूर्वज कोई नारायण पण्ड़ित आलोचक थे जिन्होंने 'आश्चर्य रस' को ही आदिरस माना है। उनका कथन है कि प्रत्येक रस में विस्मय की ही भावना सर्वप्रधान रहती है। जब तक काव्य में कोई विस्मय की बात सामने नहीं आती, तबतक वह श्रोताओं तथा द्रष्टाओं के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता। सामान्य बातों से श्रोताओं का न तो मनोंरंजन होता है, और न उनके हृदय का अनुरंजन। फलतः असामान्य बातें काव्य में होनी ही चाहिए और इसलिए आश्चर्य को मूल रस मानना चाहिए। इसी मत को मूल मानकर शक्तिभद्र ने रामकथा में आश्चर्यरस से समन्वित 'आश्चर्यचूड़ामणि' नामक प्रौढ़ नाटक की रचना की है। धर्मदत्त ने नारायण के द्वारा अद्‌भुत रस की मान्यता की बात अपने ग्रन्थ में लिखी है :—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भूतो रसः ।
तस्माददद्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥

(४) रूप गोस्वामी—मधुररस

यह मत गौडीय वैष्णवों का है जिन्होंने श्री चैतन्यदेव के द्वारा प्रचारित मत तथा उपासना को अपने सिद्धान्त का सारभूत तत्त्व माना है। यह मत संक्षेप में इस पद्य में प्रदर्शित किया गया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्,
श्री चैतन्य-महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

इस मत में गोपियों की उपासना ही आदर्श मानी गई है। वे भगवान् आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र की उपासिका थीं। भगवान में उनकी रति स्वाभाविक थी। उनकी अटूट श्रद्धा तथा नैसर्गिक रति श्री कृष्णचन्द्र के चरणारविन्द की सेवा में थी और इसीलिए उनके हृदय में शुद्ध भक्ति का उदय हुआ। यही इस मत की आदर्श उपासना है। अतः इनके मत में श्रीकृष्ण के प्रति रति ही इस रस का स्थायी भाव है। वह स्थायीभाव अपने उचित विभावादिकों के द्वारा पुष्ट होने पर 'मधुररस' के नाम से विख्यात होता है। यही सर्वश्रेष्ठ आदिभूत रस है और इसी की विकृतियाँ शृंगारादि अन्य रस हैं। श्री रूपगोस्वामी ने इस मत का प्रौढ़ प्रतिपादन 'भक्तिरसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' में बड़े विस्तार के साथ किया है।

काश्मीर के आचार्यों के मत का भी समन्वय यहाँ किया गया है। ये आचार्य लोग देवविषयक रति को 'भाव' ही मानते हैं, उसे वे रसकोटि में निविष्ट नहीं मानते। इसी-लिए मम्मट की यह प्रसिद्ध उक्ति है :—

रति र्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः - ॥

इस मत से भी यहाँ विरोध नहीं है। श्री रूपगोस्वामी का युक्तिवाद यह है कि 'मधुररस' में श्रीकृष्ण विषयक रति ही स्थायी भाव है, देवविषयक रति नहीं। श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ही ठहरे—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् (भागवत)। अतः भगवान् के विषय में किया गया प्रेम ही भक्तिरस में परिणत होता है। देवविषया रति में इतनी क्षमता तथा स्थायिता नहीं है कि वह रसमयी प्रौढ़ि को प्राप्त कर सके। फलतः उसे हीन होना ही चाहिए। अतः देवविषया रति तो भावमात्र है, परन्तु भगवद्विषया रति स्थायीभाव है और इस स्थायी भाव से प्रवृद्ध होनेवाला रस 'मधुररस' के नाम से विख्यात है। यही मूल रस है।

इसके विषय में आलोचकों की यही मीमांसा है कि यह शुद्ध साहित्यिक रस नहीं है, प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में धर्म के प्रवेश से जायमान यह कल्पना है। जो भी हो, यह कल्पना नवीन है और तर्क-मण्डित होने से चिन्त्य नहीं है।

(५) अभिनवगुप्त—शान्तरस

काश्मीरी आलोचकों की सम्मति में शान्तरस ही आदिरस है। अभिनवगुप्त उस मत के प्रतिनिधि आलोचक हैं। इस मत का युक्तिवाद यह है कि रस आनन्द-रूप होता है। शृंगारादि रसों में यह आनन्द रत्यादिकों के द्वारा व्यवच्छिन्न होता है अर्थात् रति उसके आनन्द के रूप को अपनी प्रभुता से एक प्रकार व्यावृत कर लेती है, जिससे

आनन्द की विशुद्धि जाती रहती है और वह अपने मूल रूप से हट कर विकृत दशा को प्राप्त कर लेता है। प्रकृत दशा में रस विशुद्ध आनन्दरूप रहता है और यह दशा शान्त रस में ही सम्भावित है। शान्तरस का स्थायी भाव है शम। जब चित्त संसार के प्रपंचों से हटकर शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब शान्ति का उदय होता है। तब चित्त को विकृत करने के लिए न किसी सजातीय वृत्ति का उदय होता है और न विजातीय वृत्ति का। फलतः चित्त अपने विशुद्ध सात्त्विक रूप में सर्वदा विद्यमान रहता है और तभी शान्तरस होता है। बाह्य वस्तु के आने पर जब यह चित्त उसके आकार को ग्रहण कर लेता है, तब उसमें तदाकार वृत्ति का उदय होता है और चित्त अपने स्वाभाविक साम्यदशा से हटकर वैषम्य दशा की ओर अग्रसर होता है। इस दशा में शृंगारादि रसों की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस मत में शान्त ही मूल रस है और अन्य रस उसी की विकृतियाँ हैं।

प्रत्यभिज्ञावादी शैव दार्शनिकों का मत यही है। वे हृदय की उपमा अष्टदल कमल से देते हैं। कमल में आठ दल होते हैं और बीच में होती है कर्णिका। उसी प्रकार रति, शोक, हास आदि आठ स्थायी भावों का उदय हृदय में होता है और हृदय के केन्द्र या कर्णिका में विद्यमान रहता है—शान्तरस जिसमें रति आदि भावों की साम्यावस्था रहती है। अपने विशिष्ट निमित्त को लेकर ये शृंगारादि रस उसी मूलभूत रस से उत्पन्न हुआ करते हैं। इन दार्शनिकों का यही सिद्धान्त है जो आलोचना-जगत् में सर्वथा मान्य है। भरतमुनि के एक प्रसिद्ध श्लोक की व्याख्या करते समय अभिनवगुप्त ने इस मत का उत्थान दिखलाया है। वह श्लोक है—

स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

(नाट्यशास्त्र, अध्याय ६)

विशेष दार्शनिक युक्तियों से मण्डित तथा तर्क से समर्थित होने के कारण इस विषय में यही अन्तिम मत प्रामाणिक माना जा सकता है। अनेक आचार्यों की यही सम्मति है।

———

उपसंहार

'संस्कृत आलोचना' के इस संक्षिप्त परिचय के अनुशीलन से इस शास्त्र की विशिष्टता तथा व्यापकता का परिचय प्रत्येक आलोचक को हो सकता है। यह शास्त्र बहुत प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा में तथा काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्ग निर्देश करता आया है। यह काव्य के बहिरंग तथा अन्तरंग उभय पक्षों के विषय में प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करता है। आपाततः यह प्रतिभास होना स्वाभाविक है कि यह केवल काव्य के वहिरंग रूप को ही समीक्षण का विषय बनाता है। परन्तु इस शास्त्र के अन्तराल में प्रवेश करनेवाले आलोचक को यह समझते देर न लगेगी कि यह काव्य के अन्तरंग का भी, उसके हृदय का भी, उसी प्रकार मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करता है। यदि दोष तथा अलंकार का विवेचन इस आलोचनापद्धति के वहिरंग समीक्षण का फल है, तो ध्वनि तथा रस की मीमांसा इसके अन्तरंग प्रवेश का परिचायक है। तथ्य यह है कि संस्कृत-आलोचना काव्य को एक सर्वांगसम्पन्न वस्तु मानती है और इसीलिए वह उसके शरीर तथा आत्मा दोनों का विवेचन तथा समीक्षण करना अपना महत्त्वपूर्ण कार्य मानती है। ऐसी स्थिति में जो पाश्चात्य आलोचक तथा नव्य भारतीय समीक्षक इसे केवल बहिरंग तत्त्व-विवेचना ही मानते हैं वे सिद्धान्त से सर्वथा दूर हैं। दोषों की समीक्षा आपाततः बहिरंग प्रतीत होती है, परन्तु वह काव्य के अन्तरंग के अध्ययन पर आश्रित रहती है। 'भग्नप्रक्रम' दोष को ही देखिए। यह काव्यकला के सूक्ष्म तथा गम्भीर सिद्धान्त के ऊपर आश्रित रहता है। कला समरसता तथा समरूपता (सिमेट्री) पर आश्रित होनेवाली एक महनीय वस्तु होती है। जबतक यह 'सामञ्जस्य' चित्र या काव्य के विविध अंगों में वर्तमान नहीं होता, तबतक यह कलात्मक होने के महनीय गौरव से सदा वञ्चित रहता है। काव्य में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों में, धातुओं में, प्रत्ययों में तथा इतर अंगों में सामञ्जस्य होना अनिवार्य होता है और इस महत्त्वपूर्ण नियम के उल्लंघन करने पर 'भग्नप्रक्रम' काव्य-दोष का जन्म होता है। इसी प्रकार अन्य दोषों के अनुशीलन से महनीय काव्य सिद्धान्तों का व्यापक परिचय हमें प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि साधारण रीति से जो दोष-समीक्षा बहिरंग के समान प्रतीत होती है, सूक्ष्मता से देखने पर वही नितान्त अन्तरंग, व्यापक तथा तलस्पर्शिनी ज्ञात होती है। फलतः संस्कृत आलोचना काव्य के अंतरंग तथा बहिरंग उभयविध पक्षों का अध्ययन तथा विवेचन करने के कारण अत्यन्त महनीय है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

समीक्षा-संसार के लिए संस्कृत आलोचना की काव्य तत्त्वों की चार अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण देन हैं—**औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस**। ये चारों काव्य-सिद्धान्त काव्य के नितान्त अन्तरंग तत्त्व हैं जिनके अभाव में काव्य अपने स्वरूप से हीन हो जाता है। **औचित्य** नितान्त व्यापक सिद्धान्त है लोक-व्यवहार में तथा काव्य-कला में। आलोचना-शास्त्र के आरम्भिक काल में ही भरतमुनि ने 'औचित्य' का साहित्यिक मूल्यांकन किया तथा उसे नाटक का एक सर्वमान्य तत्त्व घोषित किया। काव्य-जगत् में औचित्य एक व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है जिसके अभाव मे रस तथा ध्वनि से स्निग्ध भी काव्य फीका, नीरस तथा अरुचिकर होता है। भरत ने अपने नाटच-शास्त्र में इसे नाटचकला का प्राण माना है। उनकी महनीय उक्ति है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो,
वेषानुरूपश्च गति-प्रचारः।
गति-प्रचारानुगतं च पाठ्यं,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥
(नाटचशास्त्र १४।६८)

इसका तात्पर्य है वय के अनुरूप उचित वेष होना चाहिए और वेष के अनुरूप होनी चाहिए गति तथा क्रिया। पाठ्य अर्थात् सम्वाद गतिप्रचार के अनुकूल ही होता है और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। नाटक के ये ही अंग होते हैं और इनमें परस्पर औचित्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

आनन्दवर्धन अनौचित्य को रसभंग का कारण मानते हैं तथा औचित्य को रस का गूढ़ रहस्य वतलाते हैं—

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिवन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा॥

इस प्रकार काव्य तथा कला में, दृश्य तथा श्रव्य काव्य में, लोक तथा शास्त्र में औचित्य का महनीय तत्त्व सर्वदा जागरूकता के साथ अपनी सत्ता प्रतिष्ठित किये रहता है। इस तत्त्व की अवहेलना किसी भी काव्य को उसके मान्यपद से गिराने के लिए पर्याप्त कारण होती है। 'औचित्य' भारतीय आलोचकों की सूक्ष्म वुद्धि के द्वारा उन्मीलित मान्य काव्य-तत्त्व है जिसकी उपासना प्रत्येक साहित्य के लिए आवश्यक होती है। यूनानी आलोचक अरस्तू ने अपने आलोचना-ग्रन्थों में 'प्रोप्रायटी' की चर्चा अवश्य की है परन्तु जो सूक्ष्मता तथा विशदता औचित्य के विवेचन में भारतीय आचार्यों ने दिखलाई है वह एकदम नवीन है, व्यापक है तथा तलस्पर्शी है।

वक्रोक्ति

संस्कृत आलोचना की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है—वक्रोक्ति। इस तत्त्व की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों की सूक्ष्म विवेचक शक्ति का परिचायक है। काव्य में लोकातिक्रान्त गोचर वचन का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। जिन शब्दों को बहुल प्रचार के कारण जनसाधारण ने अत्यन्त परिचित अथच अत्यन्त धूमिल बना डाला है, उनके प्रयोग से काव्य कथमपि स्निग्ध तथा पेशल नहीं बन सकता। स्निग्धता तथा पेशलता के लिए काव्य में 'अतिशय' होना ही चाहिए। भामह जिसे अतिशयोक्ति के नाम से अभिहित करते हैं वही तो आचार्य कुन्तल की वक्रोक्ति है। संस्कृत का आलोचक काव्य के लिए भाषा की विशिष्टता को महत्त्व नहीं देता, वह उक्ति के चमत्कार को ही सर्वस्व मानता है। राजशेखर की यह उक्ति प्रख्यात है—

'उत्ति-विसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ'

'उक्ति विशेष ही काव्य होता है। भाषा जो भी हो सो हो।' काव्य की उक्ति में विशिष्टता इसी 'वक्रोक्ति' के समाश्रयण से आती है। संस्कृत आलोचना के इस तत्त्व की महत्ता सर्वत्र मान्य है और आजकल के कविजनों की भाषा इसीलिए वक्रोक्तिमयी होती है। काव्य में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भाषा को स्निग्ध तथा भाव को रसपेशल बनाता है और इसीलिए इसका प्रचुर प्रचार सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। वक्रोक्ति का आदर भारतवर्ष में ही नहीं, प्रत्युत यूरोप में भी 'अभिव्यञ्जनावाद' के नाम से जिस काव्य-तत्त्व का समीक्षण तथा प्रचारण हो रहा है वह भी वक्रोक्ति के बहुत कुछ पास पहुँचता है। इसलिए संस्कृत आलोचना का मर्मज्ञ अपने तत्त्व का उद्घाटन इस सरस सूक्ति के द्वारा करता है—

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि,
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः,
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्॥

महाकवियों का मार्ग ही निराला होता है—जिसमें वक्र उक्तियाँ विभूषण होती हैं। वाक्य के अर्थ का बाधही परम उत्कर्ष होता है तथा अर्थ के प्रकट करने के लिए अभिधा का प्रयोग दोष माना जाता है। सचमुच यह अद्भुत मार्ग है काव्य का !!! वक्रोक्ति के कारण भाषा में लोच तथा लचीलापन ही नहीं आता, प्रत्युत एक ही अर्थ में अभिव्यञ्जक तथा द्योतक नाना शब्दों का रुचिर पुंज भी कवि के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इसीलिए वक्रोक्ति भाषा को शक्ति तथा प्रौढ़ि देने में, भावों की नितान्त अभिनव ढंग से अभिव्यञ्जना

करने में एक अलौकिक साधन है; इस तथ्य की बहुशः व्याख्या कर संस्कृत के आलोचकों ने हमारे सामने एक अपूर्व काव्यतत्त्व की घोषणा की है।

ध्वनि

संस्कृत आलोचना की तीसरी देन है—ध्वनि का तत्त्व। हमारे आलोचकों ने काव्य की समीक्षा कर इस महनीय तत्त्व की उद्भावना की कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता जितना हमारे कानों को प्रतीत हो रहा है। भाषा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न रहती है और वह नितान्त गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखती है। इस गूढ़ शक्ति को हमारे संस्कृत के आलोचकों ने स्वयं समझा और अपनी मनोरम शैली में विस्तार तथा वैशद्य के साथ समझाया। यह तत्त्व बहुत से आलोचकों के लिए अनिर्वचनीय कोटि में बहुत दिनों तक पड़ा रहा, परन्तु आनन्दवर्धन ने इस अर्थ की स्वतन्त्रता तथा मनोरमता का विवरण बड़ी सुन्दरता के साथ अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। लक्ष्य में इसकी सत्ता तो अत्यन्त प्राचीनकाल से ही थी, परन्तु लक्षण-ग्रन्थ में इसकी समीक्षा तथा विशद व्याख्या हमारे आलोचकों की तलस्पर्शिनी बुद्धि का परिचायक है। व्यञ्जना ही काव्य की कसौटी मानी गई। जिस काव्य में इस शक्ति का जितना ही अधिक आश्रयण विद्यमान रहता है, वह काव्य उतना ही मार्मिक, रोचक तथा हृदयावर्जक माना जाता है। शब्द की इस महनीय शक्ति को प्रतिष्ठा देने के लिए इन आलोचकों ने न्याय तथा मीमांसा के अनुयायी आचार्यों से जो लोहा लिया वह भी अपनी पैनी युक्तियों के कारण दार्शनिक संसार की एक आश्चर्यकारी घटना है। तात्पर्यवादी, अन्विताभिधानवादी तथा अभिहितान्वयवादी आचार्यों के मतों का युक्तियुक्त खण्डन कर संस्कृत आलोचना के आचार्यों ने एक नवीन युक्तिवाद की प्रतिष्ठा की।

यह कम महत्त्व की बात नहीं है कि पश्चिमी आलोचक भी आज समीक्षा के लिए व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को समझने लगे हैं। १८वीं शती के मान्य अंग्रेजी कवि ड्राइडन ने बड़े पते की बात कही थी—'मोर इज़ मेण्ट दैन मीट्स दी ईअर' अर्थात् कविता का तात्पर्य उससे अधिक होता है जो हमारे कान के साथ सम्पर्क में आता है। यह स्फुटतया ध्वन्यर्थ की काव्य में स्वीकृति है। आजकल के अंग्रेजी आलोचक तो स्पष्टतः व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को काव्य में मानने लगे हैं। मान्य कवि तथा आलोचक 'एवर क्राम्बी' की स्पष्ट उक्ति है--"सहित्य-कला कुछ मात्रा तक सदैव व्यञ्जनात्मक होती है और इस कला का महनीय उत्कर्ष यह है कि यह व्यञ्जना शक्ति को ऐसी व्यापक, विशद तथा सूक्ष्म भाषा में प्रकट करे जितना सम्भव हो सकता है। अभिधाशक्ति के द्वारा जो अर्थ वाच्य होता है, उसकी पूर्ति भाषा की व्यञ्जना-शक्ति कर देती है।" रिचर्ड्स जैसे आधुनिक दार्शनिक आलोचक भी इसे काव्य में महनीय तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार काव्यगत

अर्थ के चार प्रकार होते हैं—(१) सेन्स, (२) फीलिंग, (३) टोन, (४) इन्टेन्शन। 'सेन्स' का अर्थ है वक्ता के द्वारा कही गई वस्तु। 'फीलिंग' का अर्थ है हृदयगत भाव। 'टोन' का अर्थ है बोलने का सुर; वक्ता और बोधव्य के सम्पर्क का ज्ञान। वक्ता अपने श्रोताओं की ओर दृष्टि रख कर ही अपने वाक्यों का विन्यास करता है। श्रोताओं के भाव परिवर्तन के साथ-साथ वक्ता अपने कथन के सुर में भी परिवर्तन करता है। यह तीसरा प्रकार है। 'इन्टेन्शन' का अर्थ है अभिप्राय या तात्पर्य। लेखक बहुत-सी बातें कहना चाहता है, परन्तु वह शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं कर सकता। उसे यह अपने पाठकों के लिए बोध्य या गम्य ही बनाकर छोड़ देता है। किसी ग्रन्थ की रचना में लेखक का जो तात्पर्य या व्यङ्ग्य अर्थ होता है वही उसका 'इन्टेन्शन' होता है। यहाँ स्पष्टतः इस शब्द का तात्पर्य 'ध्वनि' से है जो इस आलोचक की सम्मति में काव्यगत अर्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश होता है।

जिस व्यञ्जना से गम्य अर्थ की ओर पश्चिमी आलोचना अभी मुड़ रही है और उसका महत्त्व समझ रही है उसका विशद प्रतिपादन संस्कृत आलोचना ने कम-से-कम डेढ़ हजार वर्षों से तो अवश्य ही किया है। यह उसके लिए गौरव की वस्तु है।

रस

हमारी आलोचना की चौथी देन है—रस का तत्त्व। हम निःसन्देह कह सकते हैं कि हमारी आलोचना ने रस तत्त्व का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा विवरण प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र एकान्त दुर्लभ है। रस के रूप का, उसकी साधक सामग्री का, उसके परस्पर सम्बन्ध का, उसके पारस्परिक उन्मीलन का, विरोध का तथा विरोधपरिहार का जो गम्भीर विवेचन भरत तथा उनके व्याख्याकारों ने किया है वह नितान्त सूक्ष्म, मार्मिक तथा तलस्पर्शी है। काव्य का यही हृदय है, यही उपनिषद् है। इसी अलौकिक आनन्द के उन्मीलन की ओर समग्र काव्य अग्रसर होते हैं चाहे वे दृश्य हों या श्रव्य। इसी की सिद्धि के तारतम्य से काव्य के उत्कर्ष तथा अपकर्ष का मूल्यांकन किया जाता है। काव्य का यही हृदयपक्ष है जो श्रोता तथा दर्शक के हृदय को अनुरंजित कर काव्य के श्रवण करने के लिए या नाटक के देखने के लिए बलात् खींचता है। काव्य का आकर्षण इसी तथ्य पर आश्रित रहता है। रसात्मकता काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है। इस तथ्य का परिचय हमें महर्षि वाल्मीकि की प्रथम श्लोकात्मक रचना से होता है। व्याध के बाण से बिधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर महर्षि वाल्मीकि के मुख से जो प्रथम उद्गार निकला था वही रसमयी कविता का प्रथम प्रतीक है। शोक तथा श्लोक का समीकरण आलोचनाशास्त्र का प्रथम मूल सूत्र है जिसके भाष्यरूप में अवान्तर ग्रन्थों की परम्परा चलती है। रामायण, कालिदास तथा आनन्दवर्धन एक स्वर

से इस समीकरण के पक्षपाती हैं और इसके साक्षी हैं कि वाल्मीकि प्रथम कवि ही नहीं, प्रथम भावक भी हैं। काव्यसर्जन तथा काव्यालोचन का जन्म तथा उदय संस्कृत साहित्य में एक ही समय हुआ। वाल्मीकि ही हमारे आदि कवि हैं और वे ही हमारे आदिम आलोचक हैं—

काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
(ध्वन्यालोक १।१८)

कविता का मूल स्रोत भावों की अभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्वेलित होने-वाले भावों को शब्दों के द्वारा जो वस्तु प्रकट करती है उसी का नाम तो 'कविता' है। इसका मार्ग दर्शन महर्षि वाल्मीकि ने ही प्रथमतः किया। इस आदि कविभावक की आलोचना का यही मर्म है कि रस ही काव्य का मूलभूत महनीय तत्त्व है। इस रस का उदय तबतक नहीं हो सकता जबतक कवि उस भाव से स्वयं आप्लुत न हो। यदि कवि किसी भाव से बिल्कुल आक्रान्त हो उठता है, उसके हृदय में भाव इतना भर जाता है कि वह छलकने लगता है तभी रसमयी कविता का जन्म होता है। भावानुभूति भावाभिव्यक्ति का प्रथम सोपान है। पहिले अनुभूति से सम्पन्न कवि ही उचित शब्दों में उस भाव की अभिव्यक्ति पाठकों के सामने करने बैठता है और तभी वह सफल होता है। बिना स्वतः अनुभूति के क्या कोई लेखक अपने पाठकों में उस रस का उन्मीलन कभी करा सकता है ? उसका प्रयास निश्चय रूप से विफल होगा। रस का उन्मीलन ही काव्य का लक्ष्य है और उस रस का विश्लेषण आलोचना का तात्पर्य है। इसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। इस प्रकार संस्कृत आलोचना ने विश्व साहित्य के सामने अपनी महती देन औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस के रूप में प्रस्तुत किया। तुलनात्मक समीक्षण का यह परम रहस्य है।

———

परिशिष्ट

संस्कृत आलोचना

का

क्रमिक विकास

(१)

आलोचनाशास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकार-शास्त्र के ग्रंथों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन-सी वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है ? वह कौन-सा पदार्थ है जो काव्य के अंगों में सबसे अधिक उपादेय और महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रश्न के उत्तर में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकारों को ही काव्य का प्राण मानते हैं, कुछ गुण या रीति को और दूसरे लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। 'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन विभिन्न सम्प्रदायों के उदय का जो कारण बतलाया है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से संभव हो सकती है—

(१) धर्म से
(२) व्यापार से
(३) व्यंग्य से

धर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) नित्य और (२) अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक विशिष्टता को प्रतिपादन करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलंकार सम्प्रदाय (२) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है। (१) वक्रोक्ति, (२) भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस-निरूपण के अवसर पर भट्ट-नायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है।

शब्दार्थ में व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि

को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ध्वनिविरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है जो उनसे प्राचीन हैं तथा काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं। इन तीनों सम्प्रदायों के नाम हैं—(१) अभावभावी, (२) भक्तिवादी और (३) अनिर्वचनीयतावादी। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अपनी 'विमर्शिणी' में ध्वनि की बारह विप्रतिपत्तियों का निर्देश किया है जिनमें ध्वनि का विरोध माना जाता है। इन सबका अन्तर्भाव कर आनन्दवर्धन मुख्यतया तीन ही ध्वनि-विरोधी पक्ष मानते हैं। इनका खण्डन कर उन्होंने 'ध्वनि' की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है।

'संस्कृत आलोचना' के मुख्यतः छः सम्प्रदाय होते हैं:—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस सम्प्रदाय	भरतमुनि
(२) अलंकार सम्प्रदाय	भामह
(३) रीति सम्प्रदाय	वामन
(४) वक्रोक्ति सिद्धान्त	कुन्तक
(५) ध्वनि सम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सिद्धान्त	क्षेमेन्द्र

१–रस सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार रस सम्प्रदाय के आदिम आचार्य **नन्दिकेश्वर** हैं, परन्तु आजकल न इनका कोई ग्रन्थ ही मिलता है, न इनके मत का ही परिचय मिलता है। भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के आजकल प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और उनका 'नाटयशास्त्र' रससिद्धान्त का प्रतिपादक सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। नाटयशास्त्र कभी सूत्ररूप में ही विद्यमान था, परन्तु आजकल इसमें तीन स्तर दीख पड़ते हैं—सूत्र, भाष्य तथा श्लोक या कारिका। भरत ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में कतिपय **अनुवंश्य** श्लोकों को उद्धृत किया है जो अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य-परम्परा से आनेवाले प्राचीन पद्यों का नाम है। नाटयशास्त्र एक युग की रचना नहीं है, प्रत्युत वह अनेक शतियों के सामूहिक प्रयत्नों का सुखद परिणाम है। 'कोहल' नामक किसी प्राचीन नाटयाचार्य ने नाटयशास्त्र के विकास में विशेष योग दिया था; इसका पता अनेक स्थलों से चलता है। अभिनवभारती के अनुसार भरत ने 'कोहल' के विशिष्ट मतों को आदरपूर्वक अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर रखा है। नाटयशास्त्र के दो रूप थे—(१) बृहत् तथा (२) लघु। प्राचीन नाटयशास्त्र बारह हजार श्लोकों में निबद्ध था। लघु संस्करण, जो वर्तमान संस्करण है, केवल

छह हजार श्लोकों का ही है। इसीलिए इस ग्रन्थ के रचयिता भरतमुनि धनञ्जय और अभिनवगुप्त के द्वारा 'षट्साहस्रीकार' (छह हजार श्लोकों के कर्ता) के नाम से निर्दिष्ट किये गये हैं। इसकी रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शती से लेकर विक्रमपश्चात् द्वितीय शती के मध्य में कभी मानी जाती है।

भरत के नाट्यशास्त्र को ललित कलाओं का विश्वकोष कहना चाहिए। नाट्य-विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्दःशास्त्र का, संगीत का तथा अभिनय का भी यह आदि तथा प्रौढ़ ग्रन्थरत्न है। इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारों के नाम से भी चल सकता है। इसके ९ भाष्यकारों का परिचय मिलता है जिनके नाम हैं—

(१) उद्भट, (२) लोल्लट, (३) शंकुक, (४) भट्टनायक, (५) राहुल, (६) भट्टयन्त्र, (७) अभिनवगुप्त, (८) कीर्तिधर तथा (९) मातृगुप्त। इन सब में अभिनवगुप्त की प्रख्यात व्याख्या '**अभिनव भारती**' ही आज उपलब्ध होती है और इसी में उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारों के भी अस्तित्व का पता चलता है। उद्भट का समय अष्टमशती है और अभिनवगुप्त का एकादश शती और इन्हीं दोनों के बीच में लगभग तीन सौ वर्षों के भीतर अन्य व्याख्याकारों का उदय हुआ। मातृगुप्ताचार्य के नाट्यलक्षण के श्लोकों को राघवभट्ट ने शाकुन्तल की टीका में बहुशः उद्धृत किया है। सुन्दर मिश्र (१७ शती) के कथनानुसार मातृगुप्त ने भरत के श्लोकों की व्याख्या लिखी थी। इन टीकाकारों में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की विभिन्न व्याख्या की है जिनका निर्देश अभिनव भारती में बहुशः किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में रस ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है। भरतमुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है और इसीलिए रस को **नाट्यरस** की संज्ञा दी है। पिछले आलंकारिकों ने इसे **श्रव्य** काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य माना जाता है। इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर होता है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव, विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है। रस की संख्या के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की सत्ता के विषय में किसी की भी विमति नहीं है—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस माना जाता है जिसकी काव्य तथा नाट्य में सत्ता के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस को नाट्य में निषेध करते हैं, परन्तु अभिनवगुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी सत्ता मानते हैं। रुद्रट ने '**प्रेयान्**' नामक रस को, विश्वनाथ कविराज ने '**वात्सल्य**' को, गौडीय वैष्णवों ने '**मधुररस**' को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को बहुत ही बढ़ा लिया है।

साहित्य में रसमत का सवतोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में 'रसध्वनि' को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है। भोजराज भी समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटते हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति तथा (३) रसोक्ति। इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। अग्नि पुराण की स्पष्ट उक्ति है—**'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'**। काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। भरत ने **'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'** का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्त्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

२—अलंकार संप्रदाय

अलंकार मत के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं। इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य के पोषक अंगों को अलंकार कहते हैं। रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलंकार को ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदाय में अलंकार ही काव्य की आत्मा है। अग्नि की उष्णता के सदृश अलंकार काव्य का प्राणाधायक तत्त्व माना जाता है। जयदेव का तो यहाँ तक कहना है कि जो विद्वान् अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असंभव है, उसी प्रकार काव्य का अलंकार से रहित होना असंभव है—

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती॥

(चन्द्रालोक १।८)

रुय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं।

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलंकारों का निर्देश मिलता है—यमक, उपमा, रूपक और दीपक। अतः साहित्य के मूलभूत अलंकार यही चार हैं जिनमें से पहिला तो शब्दालंकार है और अन्य तीन अर्था-

लंकार। भरत के मत में यमक दस प्रकार का होता है। उपमा के पाँच भेद होते हैं— प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित्सदृशी। रूपक तथा दीपक का एक-एक भेद होता है। इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द में सवा सौ के ऊपर तक पहुँच गई है। काल-क्रम के अनुसार अलंकारों की संख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत के नाटचशास्त्र (अध्याय १७) में ३६ प्रकार के 'लक्षणों' का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलंकार में सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार अलंकारों के विकास में इन 'लक्षणों' का भी कम महत्त्व नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ हेतु, लेश तथा आशीः को लीजिए। इनके विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलंकार नहीं मानते परन्तु आशीः को अलंकार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलंकार माना है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में हेतु तथा लेश को अलंकार मांना है। इस प्रकार अलंकारों का विकास क्रमशः होता गया।

भारतीय आलंकारिकों ने अलंकारों के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्त्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका संकेत सर्वप्रथम रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। उन्होंने ही सबसे पहिले **औपम्य, वास्तव, अतिशय** और **श्लेष** को अलंकारों के विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में 'अलंकार सर्वस्व' के कर्ता **रुय्यक** का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। इन्होंने **औपम्य, विरोध, लोकन्याय,** आदि को अलंकारों का मूल विभेदक तत्त्व मानकर अलंकारों का विभाजन सुन्दर समीक्षा के साथ किया है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनत्व और महत्त्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचना-शास्त्र 'अलंकार-शास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।

महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय में रस की स्थिति विचारणीय है। अलंकार मत को मानने-वाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात नहीं था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलंकार का ही एक प्रकार माना है। 'रसवत्', 'प्रेयस्', 'उर्जस्वी' तथा 'समाहित' नामक अलंकारों के भीतर रस और भाव का समस्त विषय इन आलंकारिकों ने निविष्ट कर दिया है। भामह को महाकाव्य में रसों की आवश्यक स्थिति मान्य है। दण्डी भी रस तत्त्व से परिचित हैं और रसवत् अलंकार के भीतर इन्होंने आठों रस और आठों स्थायी भावों का निर्देश किया है। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश

मानते हैं। अतः दण्डी को रसतत्त्व से अपरिचित नहीं माना जा सकता। उद्भट ने भी रसवत् अलंकार के निरूपण के अवसर पर विभाव, संचारीभाव और स्थायीभाव जैसे पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख ही नहीं किया है बल्कि रस के नव भेदों को भी स्वीकार किया है। रुद्रट भी काव्य में रस का सन्निवेश करने का उपदेश देते हैं। इन सब उल्लेखों का यही आशय है कि भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्त्व की महत्ता से पर्याप्त परिचित हैं। भरत मुनि से पश्चाद्वर्ती होने से यह ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त उचित है। परन्तु वे लोग उसे अलंकार का ही एक रूप मानते हैं। अलंकार उनकी दृष्टि में एक व्यापक सिद्धान्त है।

अलंकार और ध्वनि

इन आलंकारिकों को काव्य में प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) की भी सत्ता किसी-न-किसी रूप में अज्ञात न थी। रुय्यक का स्पष्ट मत है कि भामह तथा उद्भट प्रभृति अलंकार-वादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर उसे अलंकार में ही अन्तर्भुक्त किया है। 'एकावली' की टीका 'तरला' में मल्लिनाथ ने भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य माना है परन्तु उन्हें ध्वनि-अभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। वे प्रतीय-मान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदों का अपने अलंकार-ग्रन्थों में प्रयोग करते हैं; परन्तु प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं हैं। 'पर्यायोक्त' अलंकार के भीतर ध्वनि की कल्पना इन आलंकारिकों को स्पष्टतः मान्य है। समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में भी द्वितीय अर्थ के रूप में प्रतीयमान प्रतीत होता है।

अलंकार सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव रुद्रट को इतना खटका कि उन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की ही कल्पना कर डाली। इसके दो भेद हैं जिनके उदाहरणों को मम्मट ने तथा अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान अर्थ का द्योतक माना है। ऐसी दशा में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकारवादी रुद्रट को व्यंग्य का सिद्धान्त सर्वथा मान्य था। अन्तर इतना है कि वे इसे स्वतन्त्र रूप देने के पक्षपाती नहीं थे, प्रत्युत इसे वे अलंकार के भीतर गतार्थ मानते थे। दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्त्व काव्य में स्वीकार किया है वह किसी-न-किसी मात्रा में पिछले युग तक चला ही गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्त्व देकर भी अलंकार के वर्णन में अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई। ध्वनिवादी होते हुए भी मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अलंकारों का जो सुन्दर तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्य के वर्णन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

३—रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। दण्डी ने भी रीतियों के वर्णन में बहुत-सा स्थान तथा समय लगाया है, परन्तु वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्त्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिक के ग्रन्थ में नहीं दीख पड़ता। उनके सिद्धान्त में रीति की महत्ता का पता इसी से लग सकता है कि उन्होंने बलपूर्वक रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं—**विशिष्टा पदरचना रीतिः**। पदों में विशिष्टता गुणों के ही कारण उत्पन्न होती है, गुणों के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही स्थित रहते हैं। अतः रीति गुणों के ही ऊपर अवलम्बित रहनेवाला काव्यतत्त्व है—विशेषो गुणात्मा। इसीलिए रीति सम्प्रदाय 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता है।

गुणों का सर्वप्रथम वर्णन भरत ने नाटयशास्त्र में किया है। गुण संख्या में दश होते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति (नाटयशास्त्र १६।९८)। रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (१५० ई०) में भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणों का स्पष्टतः उल्लेख पाया जाता है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट इन गुणों को दण्डी ने स्वीकार किया है। परन्तु भरत से उनकी व्याख्या में अनेक स्थलों पर अन्तर है। गुणों में शब्दगत अथवा अर्थगत वैशिष्टय मानना दण्डी की मौलिक सूझ है। वे इन दश गुणों को केवल वैदर्भमार्ग (वैदर्भी रीति) का प्राण मानते हैं तथा इनके विपर्यय को गौडीय मार्ग का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं।

वामन के गुणों की कल्पना तथा इनकी व्याख्या अत्यन्त नवीन और मौलिक है। वामन गुणों को दो प्रकार का मानते हैं—(१) **शब्दगुण** और (२) **अर्थगुण**। इस विभाजन में जो शब्दगुणों के नाम हैं वे ही अर्थगुणों के भी हैं, परन्तु दोनों प्रकार के गुणों की कल्पना में पर्याप्त अन्तर है। वे ही गुण शब्दगुण होते हैं, तथा अर्थगुण भी। नाम में भेद नहीं, परन्तु दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। गुण के विषय में वामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हो सका। इनके पहले ही भामह ने दश गुणों के स्थान पर केवल तीन गुणों—**माधुर्य, ओज, प्रसाद**—की कल्पना स्वीकार की थी। इसी मत का अवलम्बन पीछे के आलंकारिकों ने किया। मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ कविराज आदि आलंकारिकों ने गुणों की संख्या तीन ही मानी है। इतने ही पर्याप्त हैं काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि या तो अन्य गुणों का इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव होता है, या वे दोषाभाव रूप हैं अथवा कहीं-कहीं वे गुण न होकर वस्तुतः दोष ही हो जाते हैं। वामन के माग का थोड़ा अवलम्बन भोजराज ने किया है परन्तु इन्होंने गुणों के विभाजन तथा स्वरूप दोनों में विशेष अन्तर किया है। भोजराज ने गुणों

के तीन भेद माने हैं (१) बाह्यगुण, (२) आन्तरगुण और (३) वैशेषिक गुण। उन्होंने गुणों की भी संख्या दस से बढ़ाकर चौवीस कर दी है (सरस्वती कण्ठाभरण ११५८-६५)।

रीति का विकास

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकारशास्त्र के आदिम युग में, भामह से पूर्वकाल में कभी-न-कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था तथा गौडीय मार्ग निन्दनीय था। परन्तु स्वतन्त्रमार्गी भामह का विचारधारा निराली है। उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए और न गौड़ीय मार्ग की निन्दा। बल्कि काव्य के शोभन गुणों ही की ओर ध्यान देना चाहिए। दण्डी ने इन दोनों मार्गों—वैदर्भ मार्ग और गौड़ीय मार्ग—का वड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है। वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वोक्त दश गुणों से युक्त मानते हैं और गौड़ीय मार्ग में कतिपय गुणों को छोड़कर अन्य गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं। इसलिए दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियों के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है और गौड़ीय मार्ग नितान्त अस्पृहणीय मार्ग है।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ़ आधार पर निर्मित किया है। काव्य की आत्मा को खोज निकालनेवाले वे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रीति है। दण्डी की दो रीतियों के स्थान पर वे तीन रीतियाँ मानते हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौडी और (३) पाञ्चाली। वैदर्भी रीति में समस्त दस गुणों की सत्ता विद्यमान रहती है। गौडीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण होते हैं तथा पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों की सत्ता होती है। पिछले आलंकारिकों ने रीति की इस संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के मंगलश्लोक में इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है (१) वच्छोमी (वैदर्भी), (२) मागधी तथा (३) पाञ्चालिका (पाञ्चाली)। रुद्रट ने लाटीया को भी नई रीति मानकर रीतियों की संख्या चार कर दी है। भोज ने आवन्ती, मागधी और लाटी को नयी रीतियाँ मानकर इनकी संख्या वामन की अपेक्षा दुगुनी (छः) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा उद्भासित तीन ही रीतियों का काव्यजगत् में आज भी प्रचलन है। वामन ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। गुणों के समान ही इनकी अलंकारों की उद्भावना भी नितान्त मौलिक और सुन्दर है।

महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय में काव्य सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय ने काव्य की आत्मा का

विवेचन बड़ी मार्मिकता के साथ किया। आनन्दवर्धन की मान्यता है कि काव्य के तत्त्वों के उन्मीलन में रीति सम्प्रदाय के आचार्य ने अपनी क्षमता दिखलाई है। वामन की यह प्रकारान्तर से भूयसी प्रशंसा है।

रीति सम्प्रदाय को, गुण और अलंकार का परस्पर पार्थक्य दिखलाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करनेवाले समस्त धर्मों (अर्थात् गुणों) को भी 'अलंकार' शब्द से व्यवहृत कर अपने अलंकारवादी होने का परिचय दिया। परन्तु वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा बढ़ानेवाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करनेवाले धर्म 'अलंकार' के नाम से पुकारे जाते हैं। काव्य में अलंकार की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वशाली है क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं। उनके बिना काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं होती। काव्य की शोभा के एकमात्र आधायक धर्म को 'गुण' मानना इस सम्प्रदाय का महत्त्व है।

अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रस को काव्य का बहिरंग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरंग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इन्होंने 'कान्ति' गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन की वक्रोक्ति के भीतर 'अविवक्षित वाच्य ध्वनि' का अन्तर्भाव भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्त्वों का विवेचन इस सम्प्रदाय में अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनिवादी आचार्यों को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामञ्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ सम्बद्ध मानकर काव्य में रीति के महत्त्व को अंगीकार किया है। वर्तमान रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर हुआ है। परन्तु कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है और न यह नाम ही। इसलिए उन्होंने रीतियों के इन नये नामों की उद्भावना की है:—

(१) **सुकुमार मार्ग** (=वैदर्भी रीति)
(२) **विचित्र मार्ग** (=गौड़ी रीति)
(३) **मध्यम मार्ग** (=पाञ्चाली रीति)

काव्य में रीति का तथा तत्पोषक काव्यतत्त्व गुण का सिद्धान्त नितान्त महनीय है जिसकी उपासना कविजनों का लक्ष्य होना चाहिए।

४—वक्रोक्ति सिद्धान्त

संस्कृत साहित्य में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है और वह अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अनेक वार किया है। वाण ने इसका प्रयोग क्रीड़ालाप या परिहासकथा के अर्थ में किया है। अमरुशतक में ही इस शब्द का प्रयोग 'सुन्दर उक्ति' के अर्थ में दीख पड़ता है।

'वक्रोक्ति' का शाब्दिक अर्थ है वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन। 'काव्य' की उक्ति साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत होनी चाहिए और यही वक्रोक्ति है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलकारशास्त्र में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं।

काव्य में वक्रोक्ति की उपयोगिता भामह को इतनी मान्य है कि वे हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकारों को वक्रोक्ति से वंचित होने के हेतु अलंकार मानने के पक्षपाती नहीं हैं। वे अलंकारों के लिए वक्रोक्ति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैं:—

"वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते"

अर्थात् वक्र (टेढ़ा) अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में वक्रोक्ति का लक्षण है—

"शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्॥

भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है, उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना 'वक्रोक्ति' कहलाता है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थलों का अन्तर्भाव किया जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभाव या यथार्थ कथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में 'अतिशय कथन' का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवद्, प्रेयादि रस से सम्बद्ध अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

वामन ने भी वक्रोक्ति का वर्णन किया है परन्तु उनके द्वारा वर्णित वक्रोक्ति भामह द्वारा प्रदर्शित वक्रोक्ति से नितान्त भिन्न है। जहाँ भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का सामान्य मूलभूत आधार माना है, वहाँ वामन उसे अर्थालंकार में परिगणित करते हैं। उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्य के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा ही है। लक्षणा के

अनेक आधार हो सकते हैं। परन्तु सादृश (समानता) के आधार पर आश्रित होनेवाली लक्षणा 'वक्रोक्ति' कही जाती है:—

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।"

रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवांछित तथा अकल्पित उत्तर देता है तब रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति होती है।

परन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर काव्य की आत्मा (मूलतत्त्व) मानते हैं। उनकी वक्रोक्ति का लक्षण है—'वैदग्धी-भंगी-भणितिः'—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढंग से कथन। इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकारों के मूलतत्त्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार की गई।

'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा मानने वाले कुन्तक वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। कुन्तक बड़े ही प्रौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकता के कारण हम उन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त की कोटि में मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि दोनों सिद्धान्तों से परिचित थे परन्तु उन्हें आलोचना में स्वतन्त्र स्थान न देकर वक्रोक्ति का ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं। इनके मतानुसार वक्रोक्ति छः प्रकार की होती है :—

(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्ध-वक्रता, (३) पदोत्तरार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर इन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया है। इनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि के समस्त भेद सिमिट कर विराजने लगते हैं। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। इनका ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि इनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुगमन ही किया। वक्रोक्ति के महनीय काव्य-तत्त्व को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है। इस बीज को उदात्त रूप से अंकुरित करने का यश आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। ध्वनि-वादी आचार्यों ने इनके वक्रोक्ति के सिद्धान्त को काव्य की आत्मा (जीवातु) के रूप में तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों को ध्वनि में अन्तर्भुक्त कर उन लोगों ने इनके निरूपण की महत्ता को स्पष्टतः अंगीकार किया है। वक्रोक्ति सिद्धान्त 'संस्कृत आलोचना' में काव्य के एक मौलिक तत्त्व के रूप में सदा अमर रहेगा।

६—ध्वनि सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय यही 'ध्वनि सम्प्रदाय' है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने ध्वनि की उद्भावना पर काव्य में निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है जिनका आविर्भाव काश्मीर में नवम शताब्दी के मध्यकाल में हुआ। इस सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों की कमी नहीं थी, परन्तु अन्तर्बल होने के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि में खरा उतरा और आजकल यह साहित्य-संसार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है ? जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि काव्य कहलाता है। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) वाच्य और (२) प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि काव्य में वस्तुस्थिति के अवलोकन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है जो उसके अंगों से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है। काव्य में भी उसके अंगों से पृथक् चमत्कार-जनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्तमान रहती है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है—

> "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव,
> वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
> यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
> विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥
>
> (ध्वन्यालोक १।४)

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा इस काव्यतत्त्व को अन्य काव्यांगों से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है। परन्तु उसकी समीक्षा कर उसे काव्यतत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बता कर व्यवस्थित रूप देना साधारण आलोचक बुद्धि का काम नहीं था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि-सम्प्रदाय को विशेष महत्त्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में इस तत्त्व की पहिली मार्मिक व्याख्या की। उनके लगभग सौ वर्षों के बाद अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में इस सिद्धान्त की दृढ़ रीति से प्रतिष्ठा की। मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में इस सिद्धान्त की सदा के लिए पूर्णरूप से स्थापना की और इसीलिए वे 'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं।

ध्वनि के शब्द तथा तत्त्व के लिए आलंकारिक लोग वैयाकरणों क ऋणी हैं। वैयाकरण लोग 'स्फोट' नामक एक ऐसे पदार्थ को मानते हैं जिससे अर्थ फूटता है या आविर्भूत होता है। "स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः"—इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द से फूटता है—अभिव्यक्त होता है वह 'स्फोट' कहलाता है। इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते हैं। इसे ही ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के इस 'ध्वनि' शब्द को लेकर आलंकारिकों ने इसका विस्तृतीकरण किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के ५१ प्रकारों में तीन ही को मुख्य माना है (१) रसध्वनि (२) अलंकारध्वनि और (३) वस्तुध्वनि। 'रसध्वनि' के भीतर केवल नव रसों की ही गणना नहीं होती प्रत्युत भाव, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता की भी गणना है। वस्तुध्वनि वहाँ होती है जहाँ किसी तथ्य-कथन मात्र की अभिव्यञ्जना की जाय। अलंकारध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों में प्रकट किये जाने पर अलंकार का रूप धारण करे। इन तीनों में रसध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। 'वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है' आलोचकों का यही निश्चित मत है। काव्य का अभ्यासी कवि चित्रकाव्य से अभ्यास भले ही करे, परन्तु परिपक्व मतिवाले कवियों का एकमात्र पर्यवसान 'ध्वनिकाव्य' में ही होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते हैं (१) ध्वनिकाव्य (२) गुणीभूत व्यंग्य और (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य में वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं। चित्रकाव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही काव्य में चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है। सच्चे कवि का कार्य यह नहीं है कि वह रस से सम्बन्ध न रखनेवाली कविता के लिखने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार समस्त काव्यतत्त्वों का उचित संतुलन काव्य में दिखलाया। विशेषतः गुण और अलंकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुण वे ही धर्म होते हैं जो रस-लक्षण मुख्य अर्थ के ऊपर अवलम्बित रहते हैं। अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहनेवाले अनित्य धर्म हैं। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और

अलंकार अनित्य धर्म। अलंकारों की स्थिति काव्य में हो या न हो, परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यंभावी है।

ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार और कारिकाकार को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानकर 'सहृदय' नामक किसी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की थी। प्राचीन आलंकारिकों ने भी ध्वनि की कल्पना करने का श्रेय सर्वसम्मति से आनन्दवर्धन को ही प्रदान किया है। आचार्य अभिनव-गुप्त, ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्त्व इसीलिए रखते हैं कि उन्होंने ध्वन्यालोक के ऊपर 'लोचन' नामक टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियों से पुष्ट कर उसे प्रामाणिक बनाया। उनके अनन्तर मम्मटाचार्य ने ध्वनि के विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त को दृढ़तर आधारों पर संस्थापित किया। अपने ग्रन्थ में इन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों के मतानुयायी विद्वानों की युक्तियों का खण्डन कर व्यञ्जना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापना की। मम्मट के पश्चाद्वर्त्ती विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्यदर्पण' में ध्वनि की पर्याप्त मीमांसा की है। पिछले युग के सबसे बड़े आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शती) हैं जिनकी कृति 'रसगंगाधर' ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलंकारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया :—

"ध्वनिकृतामालंकारिक-सरणि-व्यवस्थापकत्वात्"

(रसगंगाधर, पृष्ठ ४२५)

यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों के आधार पर प्रतिष्ठापित किया गया था तथापि काश्मीर के मान्य आलंकारिकों को यह सिद्धान्त प्रथमतः मान्य नहीं हुआ। मुकुलभट्ट सबसे प्राचीन ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। 'अभिधावृत्तिमातृका' में इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नयी थी और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे। इनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलंकार के ही अन्तर्गत माना है। ध्वनि के खण्डन के लिए भट्टनायक ने 'सहृदय दर्पण' ग्रन्थ की रचना की थी। ये काव्य में रस के पक्षपाती थे परन्तु रस की व्याख्या के लिए व्यंजना का सिद्धान्त इन्हें मान्य न था। ध्वनि सिद्धान्त का साक्षात् खण्डन करना कुन्तक का ध्येय नहीं था। ये ध्वनि को वक्रोक्ति का ही दूसरा प्रकार मानते हैं। रस की उपयोगिता काव्य में इन्होंने स्वीकार की है, परन्तु रस स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेदमात्र है। महिमभट्ट के ग्रन्थ का

नाम 'व्यक्तिविवेक' है जिसमें इन्होंने ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत होना सिद्ध किया है। इनकी विवेचना बड़ी मार्मिक और गंभीरतापूर्ण है। इन विरोधी आचार्यों का तर्कयुक्त समाधान काव्यप्रकाश (११ शती) में मिलता है जिसके बाद यह सिद्धान्त एकान्ततः प्रतिष्ठित हो गया और पिछले आचार्यों ने इसे सर्वथा मान्यता दी।

६—औचित्य सिद्धान्त

औचित्य साहित्य-शास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य की आत्मा या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य-जगत् में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत के नाटचशास्त्र में सिद्धान्त रूप में तो नहीं परन्तु व्यावहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है। भरत का कहना है कि लोक ही नाटच का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस देश में, जिस मुद्रा में, उपलब्ध होती है उसका उसी रूप, उसी वेश तथा उसी मुद्रा में अनुकरण करना नाटच का चरम लक्ष्य है। इसीलिए नाटचशास्त्र (प्रकृति) पात्र की भाषा, वेश आदि के विधान पर इतना जोर देता है। भरत ने विभिन्न प्रकृतियों का वर्णन अपने ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है। इससे स्पष्ट है कि भरत नाटच में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे। काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है। इस प्रसंग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है :—

> अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
> मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥
>
> (नाटचशास्त्र २३।६८)

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने काव्य में औचित्य की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रसभंग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था कि **अनौचित्य** ही रसभंग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं हो सकता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन तथा काव्य में कल्पना और विधान। आनन्दवर्धन कहते हैं :—

> अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
> औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन काश्मीरी आलोचकों की कड़ी आलोचना की है जो ध्वनि के सिद्धान्त से बिना सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे। उन्होंने दिखलाया है कि ध्वनि की सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त

अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के रूप में काव्य-जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे। ये स्वतः ध्वनिवादी थे तथापि 'औचित्य विचार चर्चा' नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। औचित्य को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य किसे कहते हैं। इसका उत्तर देते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' और उचित का ही भाव होता है—औचित्य।

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते॥"

(औचित्यविचार चर्चा, कारिका ७)

यह औचित्य ही रस का जीवित-भूत है, उसका प्राण है तथा काव्य में चमत्कार-कारी है।

"औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रस-जीवित-भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥"

(वही, कारिका ३)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किये हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखा कर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विशद विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल है। क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद 'ध्वन्यालोक' में पूर्णतया विद्यमान हैं। सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है। क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपूरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।

शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के ह्रास्यतां,
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलंकारिकों ने अपनी काव्य-कल्पना में औचित्य के तत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया।

रसालंकृति-वक्रोक्ति-रीतिध्वन्यौचिती-क्रमाः ।
साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृताः ॥

(२)

आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्य

संस्कृत-आलोचना के आलोच्य विषय दोनों प्रकार के काव्य होते हैं—दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य काव्य की ही समीक्षा भारतवर्ष में सबसे पहिले आरम्भ हुई। पाणिनि के समय (७वीं शती विक्रम पूर्व) में नटों की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। उन्होंने शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा विरचित नटसूत्रों का निदर्श अपनी अष्टाध्यायी में किया है। श्रव्य काव्य की आलोचना का उदय विक्रम की षष्ठ शताब्दी के मध्य में हुआ जिस युग में भामह ने अपने 'काव्यालंकार' की रचना की। भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु उनके ग्रन्थों की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। उपलब्ध आचार्यों में मान्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) भरत (द्वितीय शती)

ये ही आलोचनाशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य हैं। दो भरतों का पता चलता है—वृद्धभरत तथा भरत। वृद्ध भरत का ग्रन्थ नाट्यवेद सम्भवतः १२ हजार श्लोकों में था, परन्तु वह आज अनुपलब्ध ही है। भरत का नाट्यशास्त्र आज उपलब्ध है तथा आलोचना-शास्त्र की ही नहीं, प्रत्युत ललित कलाओं की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र एक युग की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। आज यह कारिकाबद्ध रूप में ही उपलब्ध है परन्तु इसकी अन्तरंग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अंशों का पर्याप्त परिचय मिलता है—(१) सूत्र-भाष्य—यह गद्यात्मक अंश ग्रंथ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ सूत्र-रूप में ही था जिस पर भरत ने हीं भाष्य भीं लिखा था। (२) कारिका—मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिए कालान्तर में कारिकाओं की रचना हुई। (३) अनुवंश्य श्लोक—गुरु-शिष्य

परम्परा से आनेवाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप् में निबद्ध) जो अभिनव भारती के अनुसार प्राचीन आचार्यों के द्वारा विचरित हैं तथा सूत्रों की पुष्टि में यहाँ संगृहीत हैं।

भरत के वर्तमान नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती से घटकर नहीं हो सकता। कालिदास भरत को देवों के नाट्याचार्य के रूप में जानते हैं और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने का वे निर्देश स्पष्टतः करते हैं। अतः भरत को कालिदास (पञ्चम शती)से पूववर्ती होना चाहिए। मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है। **नाट्यशास्त्र** में मुख्यतः ३६ अध्याय हैं तथा लगभग पाँच हजार श्लोक हैं। इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय के नाना प्रकारों से सम्बद्ध विषयों का सर्वांगीण विवरण है। रस तथा भाव का वर्णन षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में है। यहाँ काव्य की आलोचना वाचिक अभिनय के प्रसंग में की गई है। १६वें अध्याय में काव्यालोचना का मर्म समझाया गया है। भरत ने दश दोष, दश गुण तथा चार अलंकार (यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक) की मीमांसा कर इस शास्त्र का आरम्भ किया। इसके ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गईं जिनमें आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती ही आज उपलब्ध प्रमुख व्याख्या है।

(२) भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्ध)

भामह ही भरत के अनन्तर मान्य आचार्य हैं। इन्होंने ही अलंकारशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया। भामह से पूर्ववर्ती **मेधाविरुद्र** नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है। भामह के पिता का नाम था—रक्रिल गोमी और ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय में विद्वानों में कभी पर्याप्त मतभेद था, परन्तु अब तो यह सर्वजनमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायदोष के वर्णन में बौद्ध न्याय से अपना विशेष परिचय दिखलाया है। इनका 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का लक्षण आचार्य दिङ्नाग (षष्ठ शती)के अनुसार है, धर्मकीर्ति (सप्तम शती)के अनुसार नहीं। फलतः इनका समय इन दोनों बौद्धाचार्यों के मध्ययुग में होना चाहिए। अतः इनका आविर्भाव काल षष्ठ शती का मध्य भाग माना जाता है। भामह बौद्ध-न्याय से विशेष परिचय रखने पर भी बौद्ध नहीं हैं, प्रत्युत ब्राह्मण हैं, क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा बौद्धों के 'अपोहवाद' का खण्डन भी किया है जो कोई भी बौद्ध नहीं कर सकता। भामह का ग्रन्थ **काव्यालंकार** छः परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का (प्रथम परिच्छेद में), अलंकारों का (द्वितीय-तृतीय परि० में), दस दोषों का (चतुर्थ परि० में), न्यायविरोधी दोष का (पंचम परि० में)तथा शब्दशुद्धि का (षष्ठ परि० में) वर्णन क्रमशः

किया गया है। श्लोक चार सौ के करीब हैं। भामह के समस्त सिद्धान्त इस शास्त्र में मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(१) शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य होना—शब्दार्थौ काव्यम्; (२) भरत के द्वारा वर्णित दश गुणों का गुणत्रयी (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) में अन्तर्भाव; (३) वक्रोक्ति' को सकल अलंकारों का प्राण मानना; (४) दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन; (५) 'रीति' पर आग्रह न मानकर काव्यगुणों पर आस्था।

(३) दण्डी (सप्तम शती)

दण्डी दक्षिण भारत के पल्लव नरेश सिंहविष्णु (सप्तम शती) के सभापण्डित माने जाते हैं। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ **काव्यादर्श** है जिसके कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नडभाषा के प्राचीन ग्रन्थ 'कविराज मार्ग' तथा सिंघली ग्रन्थ 'सिय-वस-लकर' (स्वभाषालंकार) में किया गया है और ये दोनों अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका तिब्बती अनुवाद इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय में विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

काव्यादर्श बड़ा ही महनीय ग्रन्थ है। इसमें चार परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या साढ़े छः सौ के आसपास है। पहिले परिच्छेद में काव्य का लक्षण-भेद, रीति तथा गुण का विस्तृत विवेचन है। दूसरे में अर्थालंकारों का, तृतीय में शब्दालंकारों का (विशेषतः यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद में दशविध दोषों का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। ये सबसे पहिले आचार्य हैं जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

(४) वामन (अष्टम शती, उत्तरार्ध)

कल्हण पण्डित के कथनानुसार वामन काश्मीर नरेश जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मन्त्री थे। वामन ने भवभूति के उत्तररामचरित का एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। फलतः ये भवभूति (अष्टम शती पूर्वार्ध) से परवर्ती हैं तथा राजशेखर (१०वीं शती) से प्राचीन हैं क्योंकि काव्यमीमांसा में वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं। वामन आनन्दवर्धन (नवम शती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने इनका नामतः उल्लेख तो नहीं किया है, परन्तु इनके रीति-सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है।

इनके ग्रन्थ का नाम है—**काव्यालंकार सूत्र** जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में प्रस्तुत की गई है। वामन ने इसके ऊपर अपनी वृत्ति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१९ है तथा ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्य का रूप, प्रयोजन तथा रीतियों का वर्णन है। दूसरे में दोषों का, तीसरे में गुणों का, चौथे में अलंकारों का तथा पाँचवें में शब्दशुद्धि का वर्णन है। वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक

हैं। रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है—रीतिरात्मा काव्यस्य। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—(क) गुण तथा अलंकार का परस्पर विभेद तथा गुण की अलंकार की अपेक्षा अधिक महत्ता का प्रतिपादन। (ख) रीति को काव्य की आत्मा मानना। (ग) वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली—इन तीन रीतियों की कल्पना। (घ) 'वक्रोक्ति' को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना। (ङ) समग्र अर्थालंकारों को उपमा का प्रपञ्च मानना। (च) दश प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ उभयगत मान कर बीस प्रकार की कल्पना।

(५) उद्भट (अष्टम शती, उत्तरार्ध)

अलंकार संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में ये नितान्त प्रख्यात हैं। ये भी आचार्य वामन के समकालीन आचार्य थे तथा जयापीड के सभापति किसी उद्भट नामक विद्वान् से भिन्न नहीं प्रतीत होते। प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनन्दवर्धन से प्राचीन माना है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय अष्टम शती का उत्तरार्ध है। वामन तथा उद्भट एक ही राजदरबार में उपस्थित समकालीन विद्वान् थे जिनमें एक थे रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और दूसरे थे अलंकार सम्प्रदाय के उन्नायक, परन्तु किसी ने भी किसी का निर्देश नहीं किया।

उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ हैं—काव्यालंकारसार-संग्रह। प्रतिहारेन्दुराज ने इनके दूसरे ग्रन्थ का निर्देश किया है, वह था भामह के ग्रन्थ की 'भामह विवरण' नाम्नी टीका जो आज उपलब्ध नहीं है। इनकी तीसरी कृति—कुमारसम्भव काव्य—कालिदास के कुमारसम्भव के आदर्श पर लिखित एक लघु काव्य है जिसके अनेक पद्य प्रथम ग्रन्थ में उदाहरण के लिए उद्धृत किये गये हैं। इनके अलंकार-ग्रन्थ के दो टीकाकार हैं—प्रतिहारेन्दुराज (दशम शती) जो मुकुलभट्ट के शिष्य थे, दाक्षिणात्य थे तथा अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य हैं। दूसरे व्याख्याकार काश्मीरी राजानक तिलक (१०७५—११२५ ई०) हैं जिनकी 'विवृति' नामक टीका बड़ौदा से १९३१ ई० में प्रकाशित हुई है।

'काव्यालंकारसार-संग्रह' में अलंकारों का ही विवेचन है, परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। उद्भट के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं :—(क) अर्थ भेद से शब्द भेद की कल्पना; (ख) श्लेष के दो प्रकार—शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष-मानना, परन्तु दोनों को अर्थालंकारों में ही परिगणित करना; (ग) अन्य अलंकारों के योग में श्लेष की ही प्रवलता मानना; (घ) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार; (४) अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित-रमणीय; (च) काव्य गुणों को संघटना का धर्म मानना। भामह का मूल ग्रन्थ अभी तक

अनुपलब्ध ही था और इसीलिए उद्भट का ग्रन्थ ही अलंकार-सम्प्रदाय का प्रतिपादक, सर्वश्रेष्ठ तथा आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

(६) रुद्रट (नवम शती का पूर्वार्ध)

ये भी काश्मीर के रहनेवाले थे। राजशेखर ने अपनें 'काव्यमीमांसा' में रुद्रट के द्वारा उद्भावित 'वक्रोक्ति' नामक शब्दालंकार का निर्देश किया है। शिशुपालवध के टीकाकार काश्मीरी वल्लभदेव (दशम शती पूर्वार्ध) ने इनके अलंकार ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है। फलतः इनका समय १०वीं शती पूर्वार्ध से प्राचीन है। ये वामन तथा उद्भट के पश्चाद्वर्ती आचार्य हैं। रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है तथा प्राचीन आलंकारिकों से मेल नहीं खाती। 'शृंगार तिलक' के कर्ता रुद्रभट्ट रुद्रट से भिन्न हैं या अभिन्न? इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है, परन्तु रुद्रट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रुद्रभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

इनका काव्यालंकार १६ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है तथा इसमें ७३४ श्लोक हैं। इसमें काव्यस्वरूप, शब्दालंकार, चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबन्ध, अर्थालंकार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है। इसमें रस का विस्तार से वर्णन है। रुद्रट ने पहिले-पहिल अलंकारों के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष को अलंकार का मूल तत्त्व निर्दिष्ट किया है। इन्होंने नये-नये अलंकारों की भी उद्‌भावना इस ग्रन्थ में की है।

(७) आनन्दवर्धन (नवम शती का उत्तरार्ध)

आलोचनाशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं। इनका सर्वमान्य ग्रन्थ ध्वन्यालोक है जिसमें ग्रंथकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ़ विषय-ग्राहिता का अपूर्व परिचय मिलता है। ये काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५ ई०—८८३ ई०) के सभापण्डित थे और इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित रूप से है।

'ध्वन्यालोक' में मूलतः कारिकायें हैं जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है। कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति? इस प्रश्न की मीमांसा दो प्रकार से की गई है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन ने वृत्ति, और 'सहृदय' नामक किसी प्राचीन पण्डित ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकायें लिखी थीं, परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। आनन्दवर्धन कारिकाकार तथा वृत्तिकार स्वयं अपने ही हैं। इस बात के लिए अभिनवगुप्त के 'लोचन' में अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं। इसके ऊपर 'चन्द्रिका' नामक कोई प्राचीन टीका थी जो आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध टीकाओं में सबसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है 'ध्वन्यालोक-लोचन अभिनव गुप्त की, जिसे टीकाग्रन्थ होने पर भी मौलिक ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्धन ध्वनि-सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं। ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है। द्वितीय तथा तृतीय में ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है। आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, परन्तु इनके जीवन वृत्त का पता नहीं चलता। हेमचन्द्र के कथनानुसार ये 'नोण' के पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन-चरित, विषमवाणलीला (प्राकृत काव्य), देवीशतक तथा तत्त्वालोक-नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी, परन्तु इनमें 'देवी शतक' ही मिलता है।

(८) अभिनवगुप्त (१०वीं शती का उत्तरार्ध)

ये काश्मीर में प्रचलित शैवदर्शन के मान्य आचार्य तथा तन्त्रशास्त्र के अलौकिक लेखक भी हैं जिनका 'तन्त्रालोक' नामक ग्रन्थरत्न तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्य-शास्त्र में इनकी प्रसिद्धि भरत के नाट्यशास्त्र की टीका **'अभिनव भारती'** तथा ध्वन्यालोक की टीका **'लोचन'** के कारण है। अभिनवगुप्त के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों को पाकर साहित्यशास्त्र चमक पड़ा और ध्वनि सम्प्रदाय अपने आलोक से साहित्य संसार को उद्भासित करने लगा। रससिद्धान्त की इनकी व्याख्या पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अन्तरंग तथा आवर्जक है और इसीलिए ये अवान्तर-कालीन आलोचकों के लिए सर्वथा उपजीव्य, मान्य तथा श्रद्धास्पद आचार्य हैं।

अभिनवगुप्त का समय ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक साधारण रीत्या माना जाता है। क्रमस्तोत्र की रचना इन्हीं के अनुसार ९९१ ई० में हुई तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी टीका १०१४-१५ में (कलिसंवत् ४०९० में)। इनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त था जो लोगों में 'चुखुलक' के नाम से काश्मीर में प्रसिद्ध थे। माता का नाम था विमलका। अभिनवगुप्त ने अपने अनेक गुरुओं का उल्लेख किया है जिनसे इन्होंने नाना शास्त्रों का अध्ययन किया था। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं इनके पिता नरसिंह-गुप्त, भट्ट इन्दुराज तथा भट्ट तौत जिनसे इन्होंने क्रमशः व्याकरण, ध्वनि तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। इन्होंने साहित्यशास्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा शैवदर्शन पर ग्रन्थों का प्रणयन किया जो कुल मिलाकर संख्या में ४० के लगभग हैं। 'तन्त्रालोक' तथा 'प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' इनकी सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कृतियाँ हैं। साहित्य क्षेत्र में 'अभिनव भारती' तथा 'लोचन' के अतिरिक्त 'काव्यकौतुक-विवरण' नामक इनका एक दूसरा भी अनुपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें इन्होंने अपने नाट्यशास्त्रीय गुरु भट्टतौत के 'काव्य कौतुक' ग्रन्थ की व्याख्या की थी। यदि ध्वनि सम्प्रदाय के अभिनवगुप्त की कृतियाँ नहीं मिलतीं तो उसके सर्वमान्य होने में सन्देह ही रहता।

(९) कुन्तक (१०म शती का उत्तरार्ध)

'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय के उद्भावक ये ही आचार्य हैं। ये वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते थे और इसलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से प्रसिद्ध है तथा ये भी वक्रोक्ति-जीवितकार के नाम से बहुशः उल्लिखित हैं। इसमें इन्होंने राजशेखर (९१० ई०) के बालरामायण नाटक से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है तथा इनके मत का उल्लेख सर्व-प्रथम महिमभट्ट (११वीं शती का उत्तरार्ध) ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्ति विवेक' में किया है। इसलिए इनका समय इन दोनों लेखकों के बीच में कभी होना चाहिए। इस प्रकार ये दशम शती के उत्तरार्ध में विद्यमान माने जा सकते हैं। ये अभिनवगुप्त के समकालीन काश्मीरी आचार्य हैं। अभिनव ने इनके नाम का तो नहीं, परन्तु इनके विशिष्ट मत का, उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है।

'वक्रोक्तिजीवित' कारिका तथा वृत्ति से संवलित ग्रन्थ है। इसमें चार उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का पूरा वर्णन किया गया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूरे रूप से मिलते हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिलते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ़ तथा युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इनका वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य-जगत् में एक निराला सिद्धान्त है।

(१०) महिमभट्ट (११वीं शती का मध्यभाग)

महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे। ये ध्वनि को मानते थे, परन्तु उसे अनुमान के द्वारा सिद्ध मानते थे। व्यञ्जना वृत्ति की न तो ध्वनि के लिए कोई आवश्यकता है और न अवकाश। ध्वनि-ग्रन्थ के खण्डन के लिए ही इन्होने व्यक्तिविवेक नामक प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की। ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है, बल्कि अनुमान का ही एक प्रकार मात्र है; इसी की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। ग्रन्थ तीन विमर्शों (अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान में अन्तर्भाव बड़ी प्रौढ़ता से दिखलाया गया है। द्वितीय विमर्श में 'अनौचित्य' को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरंग और बहिरंग प्रकारों का प्रगल्भ वर्णन है। अन्तरंग अनौचित्य के भीतर 'रसदोष' का अन्तर्भाव होता है, बहिरंग के भीतर समस्त शब्दगत दोषों की गणना की गई है। तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार 'ध्वन्या-लोक' के ध्वनि-स्थापन पर टूट पड़ता है और उसमें से लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर उन्हें अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है।

महिमभट्ट के पिता का नाम था श्रीधैर्य और गुरु का श्यामल। इन्होंने 'लोचन' तथा 'वक्रोक्तिजीवित' के सिद्धान्तों का खण्डन किया है तथा मम्मटभट्ट ने इनके द्वारा उद्भावित दोषों को अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में ग्रहण किया है। अतः इनका समय दोनों के बीच—११वीं शती का मध्यकाल होना चाहिए।

(११) धनञ्जय (१०म शती का उत्तरार्ध)

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनिविरोधी आचार्यों में अन्यतम हैं। ये रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं और व्यञ्जनावाद के खण्डनकर्ता हैं। धनञ्जय तथा इनके भ्राता धनिक, दोनों धारा के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (९७४–९९० ई०) के सभा-पण्डित थे। इनका ग्रन्थ है—दशरूपक जिसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में, परन्तु बड़ी सुन्दरता से, वर्णित तथा विवेचित हैं। धनिक ने इस पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है। इन्होंने 'काव्य निर्णय' नामक साहित्य-विषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहले किया था। बहुरूप मिश्र की अप्रकाशित टीका दशरूपक की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं तथा लगभग तीन सौ कारिकायें हैं जिनमें वस्तु (नाटक का कथानक), नेता (नायक), रूपक के दश प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन क्रमशः किया गया है। नाट्यशास्त्र एक भारी भरकम ग्रन्थ है जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठकों के लिए कठिन है। 'दशरूपक' से यह कठिनता बहुत अंशों में दूर होती है और इसीलिए यह नाट्य का बहुत ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(१२) भोजराज (११वीं शती का पूर्वार्ध)

धारानरेश राजा भोज साहित्य-शास्त्र के इतिहास में संग्राहक रूप से विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके दोनों ग्रंथ इस विषय में वस्तुतः विश्वकोष ही हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तो बहुत दिनों से विद्वानों का कण्ठाभरण ही रहा है, परन्तु 'शृंगारप्रकाश' आजभी पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया। इसके ३६ प्रकाशों में से केवल तीन ही प्रकाश (२२–२४) प्रकाशित हुए हैं। पहिले ग्रन्थ में ५ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य के २४ गुणों और १६ दोषों का वर्णन अपने मतानुसार है। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालंकारों का, तृतीय में २४ अर्थालंकारों तथा चतुर्थ में २४ उपमालंकारों का उदाहरणों से संकलित वर्णन है। पंचम परिच्छेद में रस, भाव, पंच-सन्धि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। 'शृंगारप्रकाश' में रसों का, विशेषतः शृंगार का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मक है और इसीलिए अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के मतों का तथा उदाहरणों का पर्याप्त रूप से उद्धरण दिया है। दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ के ऊपर बहुत अधिक है।

(१३) मम्मट (११वीं शती का उत्तरार्ध)

पूववर्ती चारों आचार्य ध्वनि-विरोधी थे। ध्वनिविरोध का प्रामाणिक खंडन कर मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि मार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया वही आदर्श माना जाने लगा और उसी का अनुगमन पिछले आलंकारिकों ने किया। काश्मीर ही

मम्मट का जन्मस्थान था। भीमसेन ने इन्हें जैयट का पुत्र तथा कय्यट और उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है। महाभाष्य के ऊपर प्रदीप के रचयिता कय्यट इनके अनुज हो सकते हैं, परन्तु उव्वट नहीं हो सकते, क्योंकि वे 'वज्रट' के पुत्र थे जैयट के नहीं। मम्मट का समय निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने अभिनवगुप्त (१०१५ ई० में जीवित) के मत को तथा पद्मगुप्त (१०१० ई० के आसपास वर्तमान) के पद्यों को उद्धृत किया है। एक श्लोक में भोजराज की दानशीलता का वर्णन किया है। उधर इनके प्रथम टीकाकार **माणिक्यचन्द्र सूरि** ने 'संकेत' की रचना १२१६ संवत् (११६० ईस्वी) में की। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

काव्यप्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ़ तथा मौलिक है। इसके १० उल्लास हैं जिनमें काव्य-लक्षण, वृत्ति विचार, ध्वनि-प्रकार तथा दोष-गुण-अलंकार का विस्तृत तथा विशद विवरण है। ध्वनि मार्ग का इससे सुन्दर विवेचन संक्षेप में मिलना कठिन है। इस पर टीका का निर्माण पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था। टीका-सम्पत्ति में यह बेजोड़ है। इसकी ७० टीकाओं में से अनेक स्वतन्त्र रीतिग्रन्थ के कर्ताओं की भी रचनायें हैं। 'अलंकार सर्वस्व' के लेखक रुय्यक तथा 'साहित्यदर्पण' के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने इसे व्याख्याग्रन्थों से मण्डित किया है।

(१४) सागरनन्दी (११वीं शती का पूर्वार्ध)

ग्रन्थकार का नाम है सागर परन्तु नन्दीवंश में उत्पन्न होने के कारण ये सागरनन्दी के नाम से विख्यात थे। इनके ग्रन्थ का नाम है—**नाटकलक्षण-रत्नकोश**; जिसमें नाटक के सब लक्षणों का वर्णन है। फलतः यह दशरूपक की कोटि का ग्रन्थ है। सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन प्रतीत होते हैं। इन्होंने राजशेखर (९२० ई०) के श्लोकों को उद्धृत किया है तथा उनके मत तथा पद्यों को सुभूति (१०६०—११५० ई०) ने अमरटीका में उद्धृत किया है। फलतः इनका समय ११वीं शती का पूर्व भाग मानना उचित होगा। दशरूपक से यह ग्रन्थ अनेक बातों में वैशिष्ट्य रखता है।

(१५) अग्निपुराण (११वीं शती का अन्तिम भाग)

अग्निपुराण वस्तुतः नाना विद्याओं का लोकप्रिय कोश है। इनके दश अध्यायों (३३६–३४६ अध्याय) में अलंकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं। इनमें किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है, प्रत्युत प्राचीन आलंकारिकों के मतों को आधार मानकर इसकी रचना की गई है। अधिकांश मत अलंकार-सम्प्रदाय से मिलते हैं। ये ध्वनिमार्ग को अंगीकार नहीं करते। इनके ऊपर भोजराज का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। फलतः इस अंश की रचना का समय ११वीं शती का अन्तिम भाग होना चाहिए।

(१६) क्षेमेन्द्र (एकादश शती का उत्तरार्ध)

ये औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। ये भी काश्मीर के निवासी थे। ये सिन्धु के पौत्र तथा प्रकाशेन्द्र के पुत्र थे। आरम्भ में ये शैव मतानुयायी थे, परन्तु सोमाचार्य के द्वारा वृद्धावस्था में वैष्णव धर्म में दीक्षित किये जाने से वैष्णव बन गये। साहित्य-शास्त्र में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। इनके 'औचित्य विचार चर्चा' तथा 'कण्ठाभरण' की रचना काश्मीर नरेश अनन्त (१०२८ ई०–१०६५ ई०) के राज्य-काल में हुई। 'दशावतार चरित' इनका अन्तिम ग्रन्थ है जिसका निर्माण अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश के राज्यकाल में १०६६ ईस्वी में किया गया। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है और इस प्रकार ये मम्मट के समकालीन हैं।

'**कविकण्ठाभरण**' कवि-शिक्षा-विषयक एक साधारण ग्रन्थ है, परन्तु '**औचित्य विचार चर्चा**' एक नवीन सिद्धान्त का पोषक मान्य ग्रन्थ है। इसमें 'औचित्य' को काव्य का सर्वस्व माना गया है तथा उसके अनेक भेद दिखलाये गये हैं। औचित्य का सम्वन्ध पद, वाक्य, प्रवन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस आदि के साथ भलीभाँति दिखला कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य का महत्त्व काव्य में दिखलाया है। '**सुवृत्त तिलक**' छन्दःशास्त्र से सम्वद्ध होने पर भी साहित्य का एक मार्मिक ग्रन्थ है जिसमें छन्द के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें बतलाई गई हैं।

(१७) रुय्यक (१२वीं शती का पूर्वार्ध)

ये भी काश्मीर के निवासी थे तथा काश्मीर नरेश राजा जयसिंह (११२८–४६ ई०) के सन्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के काव्यगुरु थे। अतः इनका समय १२वीं शती का मध्य भाग है। इनके पिता **राजानक तिलक** स्वयं आलंकारिक थे जिन्होंने उद्भट के ग्रन्थ के ऊपर **उद्भट-विवेक** या **उद्भट-विचार** नामक टीका लिखी थी। रुय्यक ने काव्य-प्रकाश पर 'संकेत' टीका लिखी है तथा मंखक के महाकाव्य 'श्री कण्ठचरित' (११४५ ई०) से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं। मंखक को कई दाक्षिणात्य पण्डित 'अलंकार सर्वस्व' का वृत्तिकार मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं। रुय्यक ने ही सूत्र तथा वृत्ति दोनों का प्रणयन किया है।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है जिसमें **अलंकार-सर्वस्व** महत्त्वपूर्ण है। यह एक मौलिक रचना है जिसमें अलंकारों के विभाजन का मूल खोज निकाला गया है। रुय्यक ने ७५ अर्थालंकारों का तथा ६ शब्दालंकारों का निरूपण किया है। जिनमें से 'विकल्प' तथा 'विचित्र' जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना इनकी मौलिक सूझ का फल है। विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं तथा अप्पय दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकायें प्रकाशित हैं—जयरथकृत विमर्शिनी तथा समुद्रबन्ध

रचित टीका जिनमें विमर्शिनी बड़े महत्त्व की व्याख्या है। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ जयरथ के मत को उद्धृत करते हैं और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

(१८) शोभाकर मित्र (१२वीं शती का उत्तरार्ध)

इनके ग्रन्थ 'अलंकार रत्नाकर' का उल्लेख 'रत्नाकर' के नाम से अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ने किया है। इसके मत का बहुशः खण्डन जयरथ ने विमर्शिनी के अनेक स्थलों पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१३ शती) से प्राचीन हैं। अतः इनका समय १२वीं शती का उत्तरार्ध मानना उचित है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मित्र था तथा काश्मीरी कवि यशस्कर ने इन्हीं के अलंकारों के उदाहरण के लिए 'देवीस्तोत्र' नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका 'अलंकार-रत्नाकर' सूत्र-वृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनवशैली का ग्रन्थ है। इसमें इन्होने लगभग एक सौ अलंकारों का निरूपण किया है जिनमें कुछ अलंकार इनकी मौलिक कल्पना हैं तथा कतिपय अलंकार के नाम प्राचीन अलंकारों के नाम बदल कर आये हैं। अलंकारों के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रत्नाकर' के आधार पर 'असम' तथा 'उदाहरण' नामक नवीन अलंकारों की कल्पना की है जिन्हें अप्पय दीक्षित नहीं मानते। पण्डितराज ने 'असम' के उदाहरण में दोष भले दिखलाया, परन्तु उसकी कल्पना को मान्यता दी। पूना से यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित हुआ है।

(१९) हेमचन्द्र (१२वीं शती का उत्तरार्ध)

गुजरात के राजा कुमारपाल (१२वीं शती-उत्तरार्द्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने साहित्य-शास्त्र पर 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनवगुप्त तथा मम्मट के विशेष ऋणी हैं। ये संकलनकर्त्ता ही अधिक थे। काव्यानुशासन के रस-प्रकरण में इन्होंने अभिनव-भारती से रस-प्रसंग का पूरा अक्षरशः उद्धरण ही दे दिया है जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने में तथा पाठ-निर्धारण में आज भी सहायता देता है।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है—**नाट्यदर्पण**। इन दोनों शिष्यों के नाम हैं—**रामचन्द्र** तथा **गुणचन्द्र**। रामचन्द्र 'प्रबन्धशतकर्ता' की उपाधि से मण्डित किये जाते हैं तथा गुजरात के अनेक नरेश—सिद्धराज, कुमारपाल तथा अजयपाल के समय में वर्तमान थे। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

नाट्यदर्पण नाट्य-शास्त्र के विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है। छोटा होने पर भी उपादेय है। ग्रन्थकारों ने इस पर व्याख्या भी लिखी है जिसमें आज अज्ञात और अनुपलब्ध अनेक नाटक-ग्रन्थों के नाम ही नहीं मिलते, प्रत्युत उनके महत्त्वपूर्ण लम्बे-

लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं। ऐसे ही कई उद्धरणों से 'रामगुप्त' के ऐतिहासिक रूप का परिचय इतिहास-प्रेमियों को मिलता है और इतिहास की एक विस्तृत कड़ी इसी ग्रन्थ की कृपा से उनके हाथ लगी है।

(२०) शारदातनय (१३वीं शती का मध्यभाग)

शारदातनय के व्यक्तिगत नाम से हम अपरिचित ही हैं। ये काश्मीर के निवासी थे और अपने आपको शारदा का पुत्र मानते हैं। भोज के श्रृंगारप्रकाश से तथा मम्मट के काव्यप्रकाश से यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। सिंहभूपाल (१४ शती का प्रथम चरण) ने 'रसार्णव सुधाकर' में शारदातनय के मत का उल्लेख किया है। अतः इन्हें मम्मट तथा सिंहभूपाल के मध्यकाल में—१२५० ई० के लगभग—होना चाहिए।

इनके ग्रन्थ का नाम है—**भावप्रकाशन**। यह प्रधानतया नाट्य-शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें दश अधिकार (या अध्याय) हैं जिनमें भाव, रसरूप, रसभेद, नायक-नायिका, नायिकाभेद, शब्दार्थ सम्बन्ध, नाट्य-शरीर, दशरूपक, नृत्यभेद तथा नाट्य प्रयोग—इन दश विषयों का क्रमशः वर्णन दिया गया है। यह नाट्य के सिद्धान्त के साथ ही साथ नाट्य के व्यवहार का भी सुन्दर विवेचन करता है। रसविषयक सामग्री अपूर्व है। रस के विषय में अनेक अज्ञात रसाचार्यों के—जैसे नारद, वासुकि, व्यास आदि के मतों का ही निर्देश नहीं मिलता है, प्रत्युत अभिनवगुप्त के मत का भी सुन्दर रूप से विस्तृत विवरण इसे नितान्त उपयोगी बना रहा है। कतिपय आचार्यों के मत तो पहिली बार यहीं उपन्यस्त किये गये हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ नाटक की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए वहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

(२१) पीयूषवर्ष जयदेव (१३वीं शती उत्तरार्ध)

जयदेव मिथिला के निवासी थे। ये गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव से तो भिन्न हैं, परन्तु 'प्रसन्न-राघव' नाटक के कर्त्ता जयदेव से अभिन्न। ये न्याय-शास्त्र में भी विशेष प्रवीण थे जिसका उल्लेख इन्होंने स्वयं उस नाटक में किया है। विश्वनाथ कविराज से ये प्राचीन हैं क्योंकि इन्होंने जयदेव का एक पद्य साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अतः इनका समय १३वीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए। साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में इनकी उपाधि 'पीयूषवर्ष' थी, परन्तु न्याय के क्षेत्र में ये 'पक्षधर' नाम से प्रख्यात थे।

इनका 'चन्द्रालोक' अलंकार-शास्त्र का एक अतीव सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखों (या अध्यायों) में विभक्त है तथा इसमें ३५ अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसमें काव्य के समस्त विषयों का संक्षेप में वर्णन है, परन्तु अर्थालंकारों का बड़े विस्तार के साथ। इनकी शैली वड़ी सुन्दर है। पद्य के पूर्वार्ध में तो अलंकार का लक्षण है और उत्तरार्ध में उदाहरण। इसी ग्रन्थ को अप्पय दीक्षित ने अपने मान्य ग्रन्थ 'कुवलयानन्द'

के लिए उपजीव्य बनाया है। अर्थालंकार की समस्त कारिकायें यहीं से ली हैं। इसकी छः टीकाओं का पता है जिसमें 'शारदागम' प्राचीन तथा विशेष पाण्डित्यपूर्ण है जिसका उपयोग अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ में किया है। राजा जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण' इसी चन्द्रालोक का हिन्दी अनुवाद है। यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवर्जक है।

(२२) विश्वनाथ क़विराज़ (१४वीं शती का पूर्वार्ध)

ये उत्कल के राजा के सान्धिविग्रहिक थे। इनका वंश पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित 'पुष्पमाला' तथा 'भाषार्णव' के उल्लेख मिलते हैं। इनके पितामह के अनुज चण्डीदास ने काव्य-प्रकाश के ऊपर 'दीपिका' नामक टीका लिखी थी। इन्होंने रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' के कई नये अलंकारों का निवेश अपने ग्रन्थ में किया है तथा गीतगोविन्द (११वीं शती) और नैषध काव्य (१२वीं शती का उत्तरार्ध) से पद्यों को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक में इन्होंने 'अलाव-दीन नृपति' का उल्लेख किया है जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन ही मालूम पड़ता है। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्थं मानना उचित है।

इनके अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भदीप है— **साहित्य-दर्पण** जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है तथा आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों के जिज्ञासु पुरुषों के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन किया गया है। षष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी संक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रन्थ में काव्य तथा नाट्य दोनों का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। स्पष्टतः यह 'काव्य प्रकाश' की शैली पर लिखा गया है, परन्तु इसमें उतनी प्रौढ़ता कहाँ? विश्वनाथ आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक थे और इसीलिए सुन्दर उदाहरणों के उपन्यास से इस ग्रन्थ की रोचकता अधिक बढ़ गई है। विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास की टीका प्राचीन है, पर राम तर्कवागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है।

(२३) विद्याधर (१४ वीं शती पूर्वार्ध)

विद्याधर का ग्रन्थ **एकावली** काव्य-प्रकाश की शैली पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में आठ 'उन्मेष' (अध्याय) हैं जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यंग्य; गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार, तथा अर्थालंकार का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह काव्य-प्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व पर आधारित है। इसके रचयिता विद्याधर ने समस्त उदाहरणों को अपने आश्रयदाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय; (शासनकाल १२८०—१३१४ ईस्वी) की स्तुति में स्वयं लिखा है। विद्याधर ने रुय्यक तथा नैषधकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है तथा इसके ऊपर एक ही टीका 'तरला' है जिसके लेखक कालिदास के संजीवनीकार मल्लिनाथ सूरि (१४वीं शती का

अन्तिम चरण) है। फलतः इनका समय १३वीं शती का अन्त तथा १४वीं शती का आरम्भ है।

(२४) विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्वार्ध)

इनके ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में बहुत ही अधिक है। ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश 'प्रतापरुद्र' की स्तुति में दृष्टान्त के लिए पद्यों की रचना की है। साथ ही साथ नाटकीय परिभाषा के समझने के लिए इनकी स्तुति में 'प्रतापकल्याण' नामक नाटक ही इसमें सन्निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र की राजधानी एकशिला (वारंगल) आन्ध्र में पड़ती थी तथा ये वहाँ के इस नाम के सप्तम नरेश से अभिन्न माने जाते हैं। इनके शिलालेख १२९८–१३१७ ई० तक के मिलते हैं। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस ग्रन्थ में ९ प्रकरण हैं जिनमें काव्य के अंगों के साथ-साथ नाट्य के अंगों का भी पूरा विवरण मिलता है। मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रुय्यक के अलंकार-सर्वस्व का विशेष ऋणी है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर रत्नापर्ण नामक टीका लिखी है।

(२५) अप्पय दीक्षित (१६वीं शती का अन्तिम भाग)

अप्पय दीक्षित (नाम का अन्यरूप—अप्य दीक्षित या अप्पय्य दीक्षित) दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे। ये द्रविड़ थे। कुवलयानन्द में इन्होंने अपने आश्रय-दाता का नाम वेंकटपति लिखा है जो विजयनगर का राजा वेंकट न होकर पेन्नकोण्डा का राजा वेंकट प्रथम था जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं। फलतः इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण है।

इनके तीन ग्रन्थ आलोचना विषयक हैं जिनमें **वृत्ति-वार्तिक** ('वृत्ति' का विवेचक ग्रन्थ) तथा **'चित्र-मीमांसा'** (अलंकारों का विवेचन) अधूरे ही हैं। इनकी प्रसिद्धि का प्रकाशक दीप है–**कुवलयानन्द** जिसमें अलंकारों का मार्मिक तथा विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें चन्द्रालोक की कारिकायें गृहीत हैं जिनके ऊपर दीक्षितजी ने विस्तृत, विशद तथा प्रौढ़ व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या में नवीन उदाहरण हैं, प्राचीनों के मत का समीक्षण है और अलंकारों के मर्म तथा परस्पर विभेद का प्रामाणिक उपन्यास है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का खण्डन 'रसगंगाधर' में कस कर किया है तथा इनकी खिल्ली उड़ाने में ओछे शब्दों के भी प्रयोग से ये पराङ्मुख नहीं हुए। तथ्य यह है कि अप्पय दीक्षित वेदान्ती तथा मीमांसक हैं। साहित्य इनका अपना विषय ही नहीं ठहरा; तथापि अलंकारों के विकास के अध्ययन के लिए इनका 'कुवलयानन्द' नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है।

(२६) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती का प्रथम भाग)

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं लिखा है कि इन्होंने अपना यौवन काल 'दिल्ली वल्लभ' की संरक्षकता में बिताया। यहाँ 'दिल्ली वल्लभ' से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का संकेत माना जाता है। यह प्रसिद्धि ऐतिहासिक तथ्य रखती है कि शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उनके जेठे पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली गये और दारा का ही वर्णन इन्होंने अपने एक काव्य में किया है। फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है। ये जात्या आन्ध्र ब्राह्मण थे तथा पेद्द भट्ट के पुत्र थे। अप्पय दीक्षित से इनकी बड़ी अनबन थी और उनके मतों की इन्होंने बड़ी कटु आलोचना अपने अलंकार-ग्रन्थ में की है।

इनका एतद्-विषयक प्रौढ़ ग्रन्थ 'रस-गंगाधर' है। ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे। ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है उसे पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्हीं के स्वयं निर्मित पद्य हैं। इनकी शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक है। ग्रन्थ पूरा नहीं कहा जा सकता, परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वों का विवेचन किया गया है। रस तथा अलंकार के विवेचन में इन्होंने नयी सूझ से काम लिया है। ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द-गुण तथा दश अर्थ-गुण, ध्वनि के भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है। द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रम-ध्वनि, शक्ति, लक्षणा तथा ७० अलंकारों का विशेष विवेचन है। इस प्रसंग में इन्होंने प्राचीन मान्य आलंकारिकों गा उल्लेख खण्डन या मण्डन के निमित्त किया है। रस तथा अलंकारों के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं। इन्होंने अप्पय दीक्षित के 'चित्र मीमांसा' के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की ही रचना की है जिसका नाम है—चित्रामीमांसा-खण्डन। इनकी प्रतिभा काव्यक्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती थी।

(२७) विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शती का पूर्वार्ध)

ये पर्वतीय ब्राह्मण थे तथा अलमोड़ा जिले के अन्तर्गत पातिटया ग्राम के पाण्डेय थे। ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे। ये साहित्यिक ही न होकर वैयाकरण तथा तार्किक भी थे और इसलिए इन्होंने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की 'अवच्छेदकावच्छिन्न वाली' शैली में अलंकारों का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत किया है। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है—अलंकार-कौस्तुभ जिसके रूपक अलंकार के प्रकरण तक इन्होंने स्वयं व्याख्या लिखी। इनके पिता लक्ष्मीधर थे जो स्वयं प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे। इनके बड़े भाई उमापति थे जिनके मत का भी संकेत 'कौस्तुभ' में किया गया है।

'अलंकार-कौस्तुभ' का एक उद्देश्य यह भी था कि अलंकारों की बढ़ती हुई संख्या रोकी जाय और इसलिए इन्होंने मम्मट के द्वारा उपन्यस्त ६१ ही अलंकारों का वर्णन

यहाँ किया है तथा अन्य अलंकारों का उन्हीं में अन्तर्भाव दिखलाया है। नव्यन्याय की शैली इस ग्रन्थरत्न की भूयसी विशेषता है तथा अलंकारों के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है। उपमालंकार का विवेचन यहाँ डेढ़ सौ बड़े पृष्ठों में किया गया है। इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय में ये हैं—अलंकार मुक्तावली, रसचन्द्रिका, अलंकार-प्रदीप तथा कवीन्द्र-कण्ठाभरण। आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलंकारिक माने जा सकते हैं।

अनुक्रमणी

नामानुक्रमणी

प्रधान स्थलों का निर्देश

पारिभाषिक-पदानुक्रमणी